सन्मति साहित्य रत्न-माला का चालीसवाँ रत्न

ब्रह्मचर्य-दर्शन

प्रवचनकार
उपाध्याय अमरमुनि

सम्पादक
विजयमुनि शास्त्री

प्रकाशक
सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

पञ्चम-पुष्प

पुस्तक :
ब्रह्मचर्य-दर्शन

प्रवचनकार :
उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज

सम्पादक :
विजयमुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

तृतीय प्रवेश :
सन् १९८२

मूल्य :
बारह रुपये
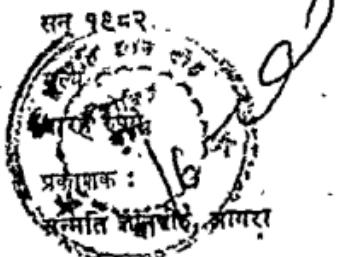
प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

मुद्रक :
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
साहित्य कुंज, महात्मा गांधी मार्ग, आगरा-२

सम्पादकीय

किसी भी महान् चिन्तक के चिन्तन को व्यवस्थित रूप देना सहज कार्य नही है। उसके गम्भीर चिन्तन की धारा में डुबकी लगाकर उसके विचारो के अन्तस्तथ्य को पकड़ना कुछ आसान काम नही है। वह महान् व्यक्तित्व अपने विचारों की जिस गहनता में रहता है, जीवन की उतनी गहराई में पहुँचना, साधारण व्यक्ति की शक्ति से बाहर की बात है। एक युग-पुरुष और युग-चिन्तक अपने युग की जन-चेतना के आवश्यक ज्ञान और विवेक को आत्मसात् करके, उसे नयी वाणी और नया चिन्तन प्रदान करता है। अपने युग को वह कर्म करने का नया मार्ग बतलाता है। वह जन-जन की प्रगतिशील विचारधारा को अपने अन्दर इस प्रकार आत्मसात् कर लेता है कि उस युग का एक भी उपयोगी ज्ञान-क्षेत्र उसकी सर्वग्राही प्रतिभा से बच नही पाता। अतः उस युग की जनता उस विराट, विशाल और व्यापक व्यक्तित्व को, उस युग का विचार-प्रभु मानती है।

उपाध्याय कवि श्री जी महाराज ने अपने उन्मुक्त मनन मंथन दण्ड से, अपने जीवन-सागर का मथन करके जो बोधामृत प्राप्त किया है, उसे उन्होंने जन-जन के कल्याण के लिए, प्राण-प्राण के विकास के लिए सर्वतो भावेन समभाव से विकीर्ण कर दिया है। उनका काव्य, उनका निबन्ध और उनकी दिव्य वाणी का जो प्रसार एवं प्रचार, इस युग मे दृष्टिगोचर होता है वह उनके अपने अमित परिश्रम का ही फल है। किसी भी विषय पर लिखने से और बोलने से पूर्व, वह अपने विचारों के अन्तस्तल तक पहुँच जाते हैं। जीवन के अन्तस्तल मे पहुँचकर, वह यह देखते हैं, कि इसमे तर्कसगत कितना है और तर्कहीन कितना? तर्कहीन की उपेक्षा करके, तर्क-संगत तथ्य को ही वे अभिव्यक्ति देते है।

कुछ लोग कविजी के विचारो की यह कहकर आलोचना करते है कि—"वे नूतन है, तर्कशील है और क्रान्तिकारी है। अस्तु, नूतनता के नाम से प्रचलित कल्पित भय से जनता को कविश्रीजी के विचारों के स्पर्श से बचे रहने की यदा कदा घोषणाएँ करते रहते है। खेद है, जो कुछ उन्हें नया तथ्य उपलब्ध होता है, उसे ग्रहण करने का वे प्रयत्न नही कर पाते। नया भले ही कितना ही भव्य क्यों न हो, किन्तु, नया होने के कारण वह उनके लिए त्याज्य हो जाता है। उन रूढ़ि-वादियों

का नूतन-विद्वेष इस चरम सीमा पर पहुँच चुका है, कि नए तथ्य को वे उस समय भी ग्रहण नहीं कर पाते, जबकि वह हमारे प्राचीन शास्त्रों की शब्दश्रुति से मूल भाव-पक्ष तक भी पहुँच जाता है। किन्तु पुरातन भले ही कितना भद्दा, कितना गला-सड़ा, कितना ही अनुपयोगी एवं शास्त्रभावना से भटका हुआ क्यों न हो, वे उसे सर्वतो भावेन ग्रहण कर लेते है। कुछ लोग इस प्रकार के भी है जो नए विचारो का सम्मान तो करते हैं किन्तु वे उसे मुक्त रूप से सार्वजनिक जीवन मंच पर अपने जीवन-धरातल पर उतार नही पाते। कवि श्री जी अपने युग के इन्ही विषम वादों को, दूर करने का प्रयत्न करते हैं कि वह जीवन के लिए उपयोगी है। दूसरी ओर नवीन से नवीन विचार को भी वे आत्मसात् करने का प्रयत्न इसी आधार पर करते हैं कि वह जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। जो कुछ जीवन के लिए उपयोगी एवं ग्राह्य है, उसे वे सहज एवं सरल भाव से ग्रहण करते हुए किसी प्रकार के भय का अनुभव नहीं करते। भय और तीखी आलोचना उन्हे कभी पथ से विचलित नही कर सकती।

प्रस्तुत पुस्तक 'ब्रह्मचर्य-दर्शन' तीन खण्डों में विभाजित है—प्रवचन-खण्ड, सिद्धान्त-खण्ड और साधन-खण्ड। प्रवचन-खण्ड में, जो प्रवचन दिए गए हैं, वे इतने व्यापक हैं कि आज के युग का ताजा से तज्जा विचार उसमें उपलब्ध किया जा सकता है। सिद्धान्त-खण्ड में ब्रह्मचर्य को शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, धर्म, नीति-शास्त्र और दर्शन की दृष्टि से परखने का, समझने का और बोलने का प्रयत्न किया गया है। साधन-खण्ड में यह बतलाया गया है कि ब्रह्मचर्य को जीवन में उतारने का प्रयोगात्मक एवं रचनात्मक उपाय क्या है, कैसा है और उसे किस प्रकार जीवन मे क्रियान्वित किया जाए। अन्त में परिशिष्ट के रूप में ब्रह्मचर्य सूक्त जोड़ दिया गया हैं, जिससे पाठक ब्रह्मचर्य के प्राचीन सूक्तों को याद करके उनसे कुछ प्रेरणा ग्रहण कर सकें। प्रारम्भ के उपक्रम में यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि ब्रह्मचर्य क्या है और उसकी उपयोगिता आज के जीवन में कैसी और कितनी है।

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में मुझे जो कुछ करना था, वह किया अवश्य है, किन्तु यह ध्यान रखते हुए कि पूर्वापर विचारों में कहीं विसंगति उत्पन्न न हो जाए। फिर भी मैं यह भली-भाँति समझता हूँ, कि कहीं-कहीं पर विचारों में पुनरुक्ति अवश्य ही आई है, परन्तु हमें यह नही भूल जाना चाहिए कि यह एक पुराने और नए प्रवचनों की पुस्तक है। प्रवचनों में, और वह भी कालान्तरित प्रवचनों एवं स्वतंत्र विचार चर्चाओं में पुनरुक्ति दूषण नहीं, भूषण ही मानी जाती है।

—विजय मुनि

प्रकाशकीय

श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज अपने इस वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध सन्त हैं। जैनों के सभी सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय उनके शील-स्वभाव से और उसके पाण्डित्य एव विद्वत्ता से भली-भाँति चिरपरिचित है। उनके व्यक्तित्व का तेज सर्वत्र पहुँच चुका है। उनकी विचार शैली और प्रवचन-पद्धति से सर्वत्र सभी परिचित हैं। वे अपने युग के सुप्रसिद्ध दार्शनिक, विचारक एवं तत्व-चिन्तक रहे है। जब वे किसी विषय पर लिखते और बोलते हैं तो उनका वह लेखन और भाषण साधिकार होता है।

उनकी प्रवचन-शक्ति, व्याख्या-पद्धति और कथन-शैली इतनी मनोमुग्धकारी एव प्रभावकारी होती है कि श्रोता उनके अमृतोपम वचनों को सुनते हुए, कभी भी थकावट और व्यग्रता का अनुभव नही करता। आने वाला श्रोता अपनी-अपनी जिज्ञासा के अनुसार समाधान पाकर परम सन्तुष्ट हो जाता है। उनकी प्रवचन शैली की यह विशेषता है कि गम्भीर से गम्भीर विषय को भी वे सुन्दर, मधुर और सरस एवं सरल बनाकर प्रस्तुत करते हैं। अबोध से अबोध व्यक्ति भी उनकी दिव्य वाणी में से अपने जीवन को सुखद और शान्त बनाने के लिए, कुछ न कुछ प्रेरणा एवं सदेश अवश्य ही ग्रहण कर लेता है।

प्रस्तुत-पुस्तक 'ब्रह्मचर्य-दर्शन' उनके उन प्रवचनो का संकलन, सम्पादन, संशोधन और परिवर्द्धन है, जो उन्होंने सन् ५० के ब्यावर वर्षा-वास में दिए थे। इन प्रवचनों को सुनकर ब्यावर की जन-चेतना और राजस्थान के सुदूर नगरों के लोग भी अत्यन्त प्रभावित हुए थे। इसके पश्चात् अन्य प्रवचनों एवं विचार चर्चाओं मे ब्रह्मचर्य-साधना के सम्बन्ध मे वे समस्त दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किए गए हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य-साधक के लिए जानना परम आवश्यक है। यद्यपि ये प्रवचन राजस्थान एवं उत्तर प्रदेश आदि में यथा प्रसंग बहुत पहले दिए गए थे, किन्तु किसी भी महा-पुरुष की वाणी को काल और देश के खण्डों में बाँधा नही जा सकता। जन-जन की प्रसुप्त चेतना को जागृत करना ही उनका एक मात्र उद्देश्य होता है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे प्रस्तुत पुस्तक में जो कुछ कहा गया है, वह उनके सूक्ष्म विचार, तीक्ष्ण तर्क-शक्ति, विषय को प्रस्तुत करने की उदारदृष्टि और श्रोता के अवकुण्ठित मन को

झकझोर कर प्रबुद्ध करने की प्रवीण कला का परिचायक है। ब्रह्मचर्य-दर्शन का प्रसार और प्रचार सर्वत्र और सभी वर्ग के लोगों के लिए हितकर एवं शुभकर रहा है।

ब्रह्मचर्य-दर्शन का यह तृतीय संस्करण अपने प्रेमी पाठकों के कर कमलों में समर्पित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। अध्येता एवं पाठक देखेंगे कि पहले की अपेक्षा इस प्रस्तुत-पुस्तक में कवि श्री जी के विचारानुसार कुछ आवश्यक संशोधन एवं परिमार्जन ही नहीं किया, बल्कि विषय-दृष्टि से भी इसे पल्लवित एवं संवर्धित किया गया है। जब इसके पुनः प्रकाशन का प्रश्न हमारे सामने आया तब हमने यह निर्णय किया कि इसे ज्यों का त्यों प्रकाशित करने से कोई विशेष लाभ न होगा। इसमें भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से कुछ नवीनता का आना भी आवश्यक है।

इसके लिए हमने श्री विजयमुनि जी महाराज से यह प्रार्थना की, कि आप इस कार्य को अपने हाथ मे लें। आप इसे जितना शीघ्र तैयार कर सकें, करने की कृपा करें। उनके पास अन्य लेखन-कार्य से अवकाश न होने पर भी हमारी प्रार्थना को आदर देते हुए इस कार्य को उन्होंने हाथ में लिया और बड़ी सुन्दरता के साथ, इसे सम्पन्न किया है। इसके लिए हम श्री विजयमुनि जी के विशेष रूप से आभारी हैं। विजयमुनि जी का मन और मस्तिष्क कवि श्री के प्रवचनों तथा विचार गोष्ठियों के विचारों को वहन करने में कितना सक्षम है, यह संस्करण उसका प्रत्यक्ष निदर्शन है।

'ब्रह्मचर्य-दर्शन' का यह नया संस्करण नए आकार-प्रकार में जनता के कर कमलों में समर्पित करके हमें परम प्रसन्नता है।

ओम प्रकाश
मन्त्री
सम्मति ज्ञानपीठ

विषय-रेखा

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो,
लोभाच्च नान्योऽस्ति परः पृथिव्याम्।
विभूषणं शील-समं न चान्यत्,
संतोष-तुल्यं धनमस्ति नान्यत् ॥

●

दान के समान दूसरी निधि नहीं है, लोभ के समान दूसरा शत्रु नहीं है, शील के समान दूसरा भूषण नहीं है और संतोष के समान दूसरा धन नहीं है।

देहाभिमाने गलिते ज्ञानेन परमात्मनः।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥

●

परमात्म-भाव के ज्ञान से देह के अभिमान के नष्ट होने पर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ समाधि है।

ब्रह्मचर्य-दर्शन

उपक्रम

ब्रह्मचर्य की परिभाषा

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मन, वचन एवं काय से समस्त इन्द्रियों का संयम करना। जब तक अपने विचारों पर इतना अधिकार न हो जाए, कि अपनी धारणा एवं भावना के विरुद्ध एक भी विचार न आए, तब तक वह पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। पाइथेगोरस कहता है—No man is free, who can not command himself. जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नही कर सकता है, वह कभी स्वतन्त्र नही हो सकता। अपने आप पर शासन करने की शक्ति बिना ब्रह्मचर्य के आ नहीं सकती। भारतीय संस्कृति मे शील को परम भूषण कहा गया है। आत्म-संयम मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट सद्‌गुण है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—स्त्री-पुरुष के संयोग एवं संस्पर्श से बचने तक ही सीमित नही है। वस्तुतः आत्मा को अशुद्ध करने वाले विषय-विकारों एवं समस्त वासनाओं से मुक्त होना ही ब्रह्मचर्य का मौलिक अर्थ है। आत्मा की शुद्ध परिणति का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य आत्मा की निर्धूम ज्योति है। अतः मन, वचन एवं कर्म से वासना का उन्मूलन करना ही ब्रह्मचर्य है।[1]

स्त्री-संस्पर्श एवं सहवास का परित्याग ब्रह्मचर्य के अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करता। एक व्यक्ति स्त्री का स्पर्श नहीं करता, और उसके साथ सहवास भी नहीं करता, परन्तु विकारों से ग्रस्त है। रात-दिन विषय-वासना के बीहड़ वनों में मारामारा फिरता है, तो उसे हम ब्रह्मचारी नही कह सकते। और, किसी विशेष परिस्थिति में निर्विकार-भाव से स्त्री को छू लेने मात्र से ब्रह्म-साधना नष्ट हो जाती है, ऐसा कहना भी भूल होगी। गांधी ने एक जगह लिखा है—"ब्रह्मचारी रहने का यह अर्थ नहीं है, कि मैं किसी स्त्री का स्पर्श न करूँ, अपनी बहिन का स्पर्श भी न करूँ। ब्रह्मचारी होने का यह अर्थ है, कि स्त्री का स्पर्श करने से मेरे मन में किसी प्रकार का विकार

1. To attain to perfect purity one has to become absolutely passion-free in thought, speech and action.

—Gandhiji. (My Experiment With Truth)

उत्पन्न न हो, जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नहीं होता।" अन्तर्मन की निर्विकार दशा को ही वस्तुतः ब्रह्मचर्य कहा गया है।

जैनागमों में भी साधु-साध्वी को आपत्ति के समय आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे का स्पर्श करने का आदेश दिया गया है। साधु, सरिता के प्रवाह मे प्रवहमान साध्वी को अपनी बाहुओं में उठाकर बाहर ला सकता है। असाध्य बीमारी के समय, यदि अन्य साधु-साध्वी सेवा करने योग्य न हो, तो साधु भ्रातृ-भाव से साध्वी की और साध्वी भगिनी-भाव से साधु की परिचर्या कर सकती है। आवश्यक होने पर एक-दूसरे को उठा-बैठा भी सकते हैं। फिर भी उनका ब्रह्मचर्य-व्रत भंग नहीं होता। परन्तु यदि परस्पर सेवा करते समय भ्रातृत्व एवं भगिनी-भाव की निर्विकार सीमा का उल्लंघन हो जाता है, मन-मस्तिष्क के किसी भी कोने मे वासना की झंकार मुखरित हो उठती है, तो उनकी ब्रह्म-साधना दूषित हो जाती है। ऐसी स्थिति में वे प्रायश्चित्त के अधिकारी बताए गए हैं। विकार की स्थिति में ब्रह्मचर्य की विशुद्ध साधना कथमपि सम्भवित नहीं रहती।

इससे स्पष्ट होता है, कि आगम में साधु-साध्वी को उच्छृङ्खल रूप से परस्पर या अन्य स्त्री-पुरुष का स्पर्श करने का निषेध है। क्योंकि उच्छृङ्खल भाव से सुषुप्त वासना के जागृत होने की संभावना है, और वासना का उदय होना साधना का दोष है। अतः वासना का त्याग एवं वासना को उद्दीप्त करने वाले साधनों का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। वासना, विकार एवं विषयेच्छा आत्मा के शुद्ध भावों की विनाशक है। अतः जिस समय आत्मा के परिणामों में मलिनता आती है, उस समय ब्रह्म-ज्योति स्वतः ही धूमिल पड़ जाती है।

'ब्रह्मचर्य' शब्द भी इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। ब्रह्मचर्य शब्द का निर्माण—'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दो शब्दों के संयोग से हुआ है। गाँधीजी ने इसका अर्थ किया है—'ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की, सत्य की शोध में चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार।' ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा का शुद्ध-भाव और चर्या का अभिप्राय है—चलना, गति करना या आचरण करना। शुद्ध-भाव कहिए, या परमात्म-भाव कहिए, या सत्य-साधना कहिए—बात एक ही है। सब का ध्येय यही है, कि आत्मा को विकारी भावों से हटाकर शुद्धपरिणति में केन्द्रित करना। आत्मा की शुद्ध परिणति ही परमात्म-ज्योति है, पर-ब्रह्म है, अनन्त सत्य की सिद्धि है, और इसे प्राप्त करने की साधना का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की साधना, सत्य की साधना है, परमात्म-स्वरूप की साधना है। ब्रह्म-व्रत की साधना, वासना के अन्धकार को समूलतः विनष्ट करने की साधना है।

गीता[२] में कहा गया है, कि जो साधक परमात्म-भाव क
चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। बिना इसके
साधना नहीं की जा सकती है। क्योंकि विषयासक्त मनुष्य का मन
जन्य भोगों के जंगल में ही भटकता रहता है, वह अन्दर की अ
अन्तर्मुख मन ही ब्रह्मचर्य का साधक हो सकता है। विषयोन्मुख
बना रहता है।

शक्ति का मूल स्रोत :

ब्रह्मचर्य, जीवन की साधना है, अमरत्व की साधना है।
है—ब्रह्मचर्य जीवन है, वासना मृत्यु है। ब्रह्मचर्य अमृत है, वासना
अनन्त शान्ति है, अनुपम सुख है। वासना अशांति एवं दुःख का
ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना कालिमा। ब्रह्मचर्य ज्ञान-विज्ञान है,
अज्ञान। ब्रह्मचर्य अजेय शक्ति है, अनन्त बल है, वासना जीवन की
एवं नपुंसकता।

ब्रह्मचर्य, शरीर की मूल शक्ति है। जीवन का ओज है
है। ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम शरीर को सशक्त बनाता है। वह हमारे म
स्थिर बनाता है। हमारे जीवन को सहिष्णु एवं सक्षम बनाता है।
साधना के लिए शरीर का सक्षम एवं स्वस्थ होना आवश्यक है। वस
शारीरिक क्षमता आध्यात्मिक साधना की पूर्व भूमिका है। जिस
अपने आपको एकाग्र करने की, विचारों को स्थिर करने की तथा
परीषहों को सहने की क्षमता नहीं है, आपत्तियों की संतप्त दुपहरी
बढ़ने का साहस नहीं है, वह आत्मा की शुद्ध ज्योति का साक्षात्कार
भारतीय संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि—"जिस शरीर में
नहीं है, क्षमता नहीं है, उसे आत्मा का दर्शन नहीं होता है।"[३]
सबल आत्मा का निवास होता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि
में भी मेरु के समान स्थिर रहने वाला सहिष्णु व्यक्ति ही आत्मा को
पहचान सकता है। परन्तु कष्टों से डरकर पथ-भ्रष्ट होने वाला म
दर्शन नहीं कर सकता।

अतः आत्म-साधना के लिए सक्षम शरीर आवश्यक है। औ
बनाने के लिए ब्रह्मचर्य का परिपालन आवश्यक है। क्योंकि मन

२ यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति—गीता ८।११

वाणी को एवं शरीर को दुर्बल, अशक्त एवं कमजोर बनाने वाली वासना है। ख
पदार्थों की वासना मनुष्य को स्वादु-लोलुप बनाती है। स्वाद की ओर आकर्षित मनुष्
भक्ष्याभक्ष्य का विवेक भूल जाता है, समय एवं परिमाण को भूल जाता है अर्थात्
वह यह सब भूल जाता है कि उसे क्या खाना चाहिए? कैसे खाना चाहिए? कब खाना
चाहिए? क्यों खाना चाहिए? और कितना खाना चाहिए? अतः अधिक एवं अंट-
शंट वस्तुएँ खाने से उसकी वासना जाग उठती है, काम-भावना में वृद्धि होती है और
पाचन-क्रिया ठीक नहीं होने से रोग आ घेरते हैं। और उसका परिणाम यह होता है
है कि वह दुर्बल एवं कमजोर हो जाता है। इसी तरह कान, आँख, नाक एवं स्पर्शन-
इन्द्रिय की वासना भी मन की स्थिरता को नष्ट कर देती है। इस तरह भोगो की
वासना के निर्मम प्रहार से जीवन निस्तेज हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह कष्टों एवं
परीषहों को जरा भी नही सह सकता और सहिष्णुता के अभाव में वह आत्म-साधना
नहीं कर सकता।

साधना के लिए शरीर का सशक्त होना, ध्रुव सत्य है, और शारीरिक सक्षमता
को बनाने के लिए वासनाओं पर नियंत्रण होना ही चाहिए। क्योंकि वासनाओं के
नियंत्रण में रहने वाला मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है, दास ही नहीं, वह दास
का भी दास बन जाता है।[4] और गुलाम व्यक्ति न कभी अपनी ताकत को बढ़ा पाता
है और न कभी आत्म-दर्शन ही कर पाता है। आत्म-दर्शन करने का एक ही मंत्र है—
वासना पर नियंत्रण करो, संयम से खाओ, संयम से पीओ, संयम से पहनो, संयम से
खो, संयम से सुनो, संयम से बोलो, संयम से सोओ, संयम से जीयो और कामनाओं
त्याग करदो। क्योंकि भोगेच्छा एवं विषयों की कामना का त्याग किए बिना, हम
एवं इन्द्रियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं रख सकते।[5] अतः कामनाओं का त्याग करना
वासनाओ पर विजय पाना है और यही शक्ति का मूल स्रोत है।

ना-संयम :

ब्रह्मचर्य का पालन एक कठोर साधना है, घोर तप है। इसके लिए केवल
र ही नहीं, मन पर, वाणी पर एवं इन्द्रियो पर भी कन्ट्रोल करना पड़ता है।
न एवं काय-योग को नियंत्रण में रखना होता है। मन को आत्मा में केन्द्रित
ता है। जब तक साधक अपने योगों को आत्म-चिन्तन एवं आत्म-साधना

---

rst of slaves is he whom passion rules.

—Burke.

tion of objects, without renunciation of objects, in short-lived,
hard you may try.

—Gandhiji

की प्रवृत्ति में नहीं लगा देता है, तब तक वह ब्रह्मचर्य की साधना में पूर्णतः सफल नहीं हो सकता। इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक अपने जीवन को परिवार, समाज, राष्ट्र एवं धर्म की सेवा और साधना में लगा दे। साधक को चाहिए कि वह धर्म-साधना एवं जनसेवा को अपना ध्येय बनाकर चले। जब उसके तीनों योग किसी शुभ कार्य में केन्द्रित हो जाएँगे, तो उनसे, न तो विषय-विकार का चिन्तन करने का अवसर मिलेगा और न वासनाओं की ओर भागने का अवकाश ही। अतः यह कहावत नितान्त सत्य है कि "काम की दवा काम है।" मन, वचन और काय योग को किसी सत्कर्म में लगादो, वासना का तूफान स्वतः ही शान्त हो जाएगा।

वासना, आत्मा का सबसे भयंकर एवं खतरनाक शत्रु है। इस पर विजय पाना आसान काम नही है। हजारों, लाखों व्यक्तियों को परास्त कर देना सरल है, परन्तु वासना पर काबू पाना दुष्कर ही नहीं, महादुष्कर है। उसमें मनुष्य की शारीरिक एवं सामरिक (शस्त्रों की) शक्ति का नहीं, आत्म-शक्ति का परीक्षण होता है। विषय-वासना की ओर प्रवहमान योगों के प्रबल वेग को सेवा-शुश्रूषा एवं आत्म-साधना की ओर मोड़ना, पूर्व की ओर विद्युत-गति से बहते हुए दरिया के तूफानी प्रवाह को एकाएक पश्चिम की ओर मोड़ने से कम कठिन नहीं है। इसी कारण भगवान् महावीर ने हजारों-हजार योद्धाओं पर पाने वाली विजय को विजय नहीं कह कर, वासना पर प्राप्त विजय को ही सच्ची विजय कहा है।[६] और गांधी जी ने भी इस बात का समर्थन किया है कि—"ताकत के द्वारा विश्व पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा उच्छृङ्खल वासना पर विजय पाना अधिक कठिन है।"[7]

भारतीय संस्कृति का स्वर विजय का स्वर है। वस्तुतः वह विजय की संस्कृति है। बाह्य-विजय की नहीं, आत्म-विजय की। वह इन्सान को इन्सान से लड़ना नहीं सिखाती, बल्कि वासनाओं से संघर्ष करना सिखाती है। वह मानव को वासनाओं पर नियंत्रण करने की प्रेरणा देती है। वह वासनाओं को फैलाने के पक्ष में नहीं है। उसका सदा यह स्वर रहा है कि वासनाओं को फैलाओ मत, समेटो। यदि तुम समस्त वासनाओं पर एकदम कन्ट्रोल नहीं कर सकते हो, तो धीरे-धीरे उन्हें वश में करने का प्रयत्न करो। यदि तुम्हारी गति धीमी है, तो इसके लिए घबराने जैसी बात नहीं है। परन्तु इस बात का सदा, सर्वदा ध्यान रखो कि तुम्हारा प्रयत्न अपने आपको काम, भोग

---

६. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ।

—उत्तराध्ययन सूत्र, ९, ३४।

7. To conquer the subtle passions seems to me to be harder far than the physical conquest of the world by the force of arms.

—*Gandhiji (My Experiment With Truth)*

एवं विलासिता के क्षेत्र में फैलाने का नहीं होना चाहिए। क्योंकि विलासिता (Luxuriousness) विनाश है और संयम विजय है। अतः संयम की ओर कदम बढ़ाने वाला व्यक्ति ही एक दिन वासना पर पूर्णतः (absolutely) विजय पा सकता है। इसलिए आत्म-विजेता ही सच्चा विजेता है।

ब्रह्मचर्य के भेद :

मानवमन की वासना, इच्छा या कामना आध्यात्मिक नहीं, भौतिक शक्ति है। वह स्वतन्त्र नहीं है, उसका नियंत्रण मनुष्य के हाथ में है। यदि मनुष्य उसे अपने नियंत्रण से बाहर नहीं जाने देता है, तो वह इन्सान का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। आँखों का काम देखना है और अन्य इन्द्रियों के भी अपने-अपने काम हैं। ब्रह्मचारी की इन्द्रियां भी देखने, सुनने, सूंघने, चखने आदि के काम तो करती ही हैं, परन्तु वे उसके नियंत्रण से बाहर नहीं हैं, इसलिए वासना की आग उसका जरा भी बाल बांका नहीं कर सकती। परन्तु जब मनुष्य का वासना पर से नियंत्रण हट जाता है, वह बिना किसी रोक-टोक के मन और इन्द्रियों को खुला छोड़ देता है, तो वे अनियंत्रित एवं उच्छृंखल वासनाएं उस को तबाह कर देती हैं, पतन के महागर्त में गिरा देती है।

वस्तुतः शक्ति, शक्ति ही है। निर्माण या ध्वंस की ओर मुड़ते उसे देर नहीं लगती। इसलिए यह अनुशासक (Controller) के हाथ में है कि वह उसका विवेक के साथ उपयोग करे। वह उस शक्ति को नियंत्रण से बाहर न होने दे। आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का उपयोग हो सकता है, परन्तु विवेक के साथ। विवेकशील का काम एक कुशल इंजीनियर (Expert Engineer) का काम है। उसे अपने काम में सदा सावधान रहना पड़ता है और समय एवं परिस्थितियों का भी ध्यान रखना पड़ता है।

मान लो, एक इंजीनियर पानी के प्रवाह को रोककर उसकी ताकत का मानव-जाति के हित में उपयोग करना चाहता है। इसके लिए वह तीनों ओर से मजबूत पहाड़ियों से आवृत्त स्थल को एक ओर दीवार बनाकर बाँध (Dam) का रूप देता है। वह उसमें कई द्वार भी बनाता है, ताकि उनके द्वारा अनावश्यक पानी को निकालकर बाँध की सुरक्षा की जा सके। बाँध में जितने पानी को रखने की क्षमता है, उतने पानी के भरने तक तो बाँध को कोई खतरा नहीं होता। परन्तु जब उसमें उसकी क्षमता से अधिक पानी भर जाता है, उस समय भी यदि इंजीनियर उसके द्वार को खोलकर फालतू पानी को बाहर नहीं निकालता है, तो वह पानी का प्रबल स्रोत इधर-उधर कहीं भी बाँध की दीवार को तोड़ देता है और लक्ष्यहीन बहने वाला उद्दाम जल-प्रवाह मानव-जाति के लिए विनाशकारी प्रलय का दृश्य उपस्थित

कर देता है। अतः कोई भी कुशल इंजीनियर इतनी बड़ी भूल नहीं करता, कि जो देश के लिए खतरा पैदा कर दे।

यही स्थिति हमारे मन के बांध की है। वासनाओं के प्रवाह को पूर्णतः नियंत्रण में रखना, यह साधक का परम कर्तव्य है। परन्तु उसे यह अवश्य देखना चाहिए कि उसकी क्षमता कितनी है। यदि वह उन पर पूर्णतः नियन्त्रण कर सकता है और समुद्र-पायी पौराणिक अगस्त्य ऋषि की भांति, वासना के समुद्र को पीकर पचा सके, तो यह आत्म-विकास के लिए स्वर्ण अवसर है। परन्तु यदि वह वासनाओं पर पूरा नियंत्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, फिर भी वह उस प्रचण्ड प्रवाह को बांधे रखने का असफल प्रयत्न करता है, तो यह उसके जीवन के लिए खतरनाक भी बन सकता है।

भगवान महावीर ने साधना के दो रूप बताए हैं—१. वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण, और २. वासनाओं का केन्द्रीकरण। या यों कहिए पूर्ण ब्रह्मचर्य और आंशिक ब्रह्मचर्य। जो साधक पूर्ण रूप से वासनाओं पर नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं रखता है, वह यदि यथावसर वासना के स्रोत को निर्धारित दिशा में बहने के लिए उसका द्वार खोल देता है, तो कोई भयंकर पाप नहीं करता है। वह उच्छृङ्खल रूप से प्रवहमान वासना के प्रवाह को केन्द्रित करके अपने को भयंकर बर्बादी—अधःपतन से बचा लेता है।

जैन-धर्म की दृष्टि से विवाह वासनाओं का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है। नीतिहीन पाशविक जीवन से मुक्त होकर, नीति-युक्त मानवीय जीवन को स्वीकार करने का साधन है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढ़ने का कदम है। अतः जैन-धर्म मे विवाह के लिए स्थान है, परन्तु पशु-पक्षियों की तरह अनियंत्रित रूप से भटकने के लिए कोई स्थान नहीं है। वेश्यागमन और परदार सेवन के लिए कोई छूट नहीं है। जैन-धर्म वासना को केन्द्रित एवं मर्यादित करने की बात को स्वीकार करता है और साधक की शक्ति एवं अशक्ति को देखते हुए विवाह को अमुक अंशों मे उपयुक्त भी मानता है। परन्तु वह वासनाओं को उच्छृङ्खल रूप देने की बात को बिल्कुल उपयुक्त नहीं मानता। वासना का अनियमित रूप, जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है।

वासना को केन्द्रित करने के लिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष (गृहस्थ) के लिए यह आवश्यक है कि वह जिसके साथ विवाह बन्धन में बंध चुका है या बंध रहा है, उसके अतिरिक्त प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वासना की आंख से नहीं, भ्रातृत्व एवं भगिनीत्व की आंख से देखे। भले ही वह स्त्री या पुरुष किसी के द्वारा गृहीत हो या अगृहीत हो, अर्थात् वह विवाहित हो या अविवाहित, विवाहानन्तर परित्यक्त हो या परित्यक्ता,

श्रावक एवं श्राविका का उसके साथ पवित्र सम्बन्ध रहता है। वह कभी भी उसे अपवित्र दृष्टि से नही देखता।

श्रावक-श्राविका के लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्पर्श-इन्द्रियजन्य वासना पर ही नहीं, प्रत्युत अन्य इन्द्रियों पर भी नियंत्रण रखे। उन्हें ऐसे पदार्थों को नहीं खाना चाहिए, जो वासना की आग को प्रज्वलित करने वाले हैं। उनका खाना स्वाद के लिए नही, बल्कि साधना के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के हेतु है। इसलिए उन्हें खाना खाते समय सदा मादक वस्तुओं से, अधिक मिर्च मसालेदार पदार्थों से, तामस पदार्थों से एवं प्रकाम भोजन से बचना चाहिए। उनकी खुराक नियमित होनी चाहिए और उन्हें पशु-पक्षी की तरह जब चाहा तब नहीं, प्रत्युत नियत समय का ध्यान रखना चाहिए। इससे स्वास्थ्य भी नहीं बिगड़ता और विकार भी कम जागृत होते हैं।

खाने की तरह सुनने, देखने एवं बोलने पर भी संयम रखना आवश्यक है। उन्हें ऐसे शृङ्गारिक एवं अश्लील गीत न गाना चाहिए और न सुनना चाहिए, जिससे सुषुप्त वासना जागृत होती हो। उन्हें अश्लील एवं असभ्य हँसी मजाक से भी बचना चाहिए। उन्हें न तो अश्लील सिनेमा एवं नाटक देखना चाहिए और न ऐसे भद्दे एवं गन्दे उपन्यासों एवं कहानियों को पढ़ने में समय बर्बाद करना चाहिए।

अश्लील गीत, असभ्य हँसी-मजाक, शृङ्गारिक सिने चित्र और गन्दे उपन्यास देश, समाज एवं धर्म के भावी कर्णधार बनने वाले युवक-युवतियों के हृदय में वासना की आग भड़काने वाले हैं। कुलीनता और शिष्टता के लिए खुली चुनौती हैं और समग्र सामाजिक वायुमण्डल को विषाक्त बनाने वाले हैं। अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इस संक्रामक रोग से अवश्य ही बचकर रहे।

विवाह वासना को नियंत्रित करने का एक साधन है। यह एक मलहम (Ointment) है। और मलहम का उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग पर जख्म हो गया हो। परन्तु घाव के भरने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति शरीर पर मलहम लगाकर पट्टी नहीं बांधता; क्योंकि मलहम सुख का साधन नही, बल्कि रोग को शान्त करने का उपाय है। इसी तरह विवाह वासना के उद्दाम वेग को रोकने के लिए, विकारों के रोग को क्षणिक-उपशान्त करने के लिए है, न कि उसे बढ़ाने के लिए। अतः दाम्पत्य जीवन भी अमर्यादित नहीं, मर्यादित होना चाहिए। उन्हें भोगों में आसक्त नहीं रहना चाहिए। अस्तु दाम्पत्य जीवन में भी परस्पर ऐसी मर्यादाहीन क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए, जिससे वासना को भड़कने का प्रोत्साहन मिलता हो। अतः श्रावक को भगवत्स्मरण करते हुए नियत समय पर सोना चाहिए, नियत समय पर ही उठना चाहिए और विवेक को नहीं भूलना चाहिए।

श्रावक को ऐसे कार्यों में शामिल नहीं होना चाहिए, जिनमें विषय-वासना को उत्तेजित करने वाला कार्यक्रम हो। उसे दूसरों के वैषयिक कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिए और न वैषयिक कामों में प्रोत्साहन एवं प्रेरणा ही देनी चाहिए।

इस प्रकार गृहस्थ को वासना का केन्द्रीकरण करने के लिए प्रत्येक कार्य विवेक के साथ करना चाहिए। इसी में उसके जीवन का विकास है, हित है, सुख है, एवं अनन्त शान्ति है।

ब्रह्मचर्य की साधना :

ब्रह्मचर्य की साधना, जीवन की एक कला है। अपने आचार-विचार और व्यवहार को बदलने की साधना है। कला वस्तु को सुन्दर बनाती है, उसके सौन्दर्य में अभिवृद्धि करती है। और आचार भी यही काम करता है। वह जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है। जीवन में शारीरिक सौन्दर्य से, आचरण का सौन्दर्य हजारों-हजार गुणा अच्छा है। श्रेष्ठ आचरण मूर्ति, चित्र एवं अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक आनन्द प्रदाता है।[8] वह केवल अपने जीवन के लिए ही नहीं, बल्कि अन्य व्यक्तियों के लिए भी आनन्दप्रद होता है। आचरण-हीन व्यक्ति सबके मन में काँटे की तरह खटकता है और आचार-संपन्न पुरुष सर्वत्र सम्मान पाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसके श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करता है। वह अन्य व्यक्तियों के लिए एक आदर्श स्थापित करता है।[९] अतः आचार समस्त कलाओं में सुन्दरतम कला है।[10]

आचरण जीवन का एक दर्पण है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देखा-परखा जा सकता है।[11] आचरण व्यक्ति की श्रेष्ठता और निकृष्टता का मापक यंत्र (Thermometer) है। आचरण की श्रेष्ठता उसके जीवन की उच्चता एवं उसके उच्चतम रहन-सहन तथा व्यवहार को प्रकट करती है। इसके अन्दर कार्य करने वाली मानवता और दानवता का, मनुष्यता और पाशविकता का स्पष्ट परिचय मिलता है।[11] मनुष्य के पास आचार, विचार एवं व्यवहार से बढ़कर कोई प्रमाण-पत्र नहीं है, जो उसके जीवन की सच्चाई एवं यथार्थ स्थिति को खोलकर रख सके। यह एक जीवित प्रमाण-पत्र है, जिसे दुनिया की कोई भी शक्ति झुठला नहीं सकती।

आचरण की गिरावट, जीवन की गिरावट है, जीवन का पतन है। रूढ़िवाद के द्वारा माने जाने वाले किसी नीच कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति पतित

---

8. A beautiful behaviour is better than a beautiful form it gives a higher pleasure than statues and pictures. —*Emerson.*
९. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः, स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ —गीता।
10. Behaviour is the finest of fine art. —*Emerson.*
11. Behaviour is mirror in which every one displays his image. —*Goethe.*

एवं अपवित्र नहीं हो जाता है। वस्तुतः पतित वह है, जिसका आचार-विचार निकृष्ट है। जिसके भाव, भाषा और कर्म निम्न कोटि के हैं, जो रात-दिन भोग-वासना में डूबा रहता है, वह उच्च कुल में पैदा होने पर भी नीच है, पामर है। यथार्थ में चाण्डाल वह है जो सज्जनों को उत्पीड़ित करता है[१२], व्यभिचार में डूबा रहता है और अनैतिक व्यवसाय करता है या उसे चलाने में सहयोग देता है।

देश के प्रत्येक युवक और युवती का कर्तव्य है कि वह अपने आचार की श्रेष्ठता के लिए "Simple living and high thinking."—सादा जीवन और उच्च विचार का आदर्श अपनाए। वस्तुतः सादगी ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार है। क्योंकि स्वाभाविक सुन्दरता (Natural beauty) ही महत्वपूर्ण है, और उसे प्रकट करने के लिए किसी तरह की बाह्य सजावट (Make-up) की आवश्यकता नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर की सफाई एवं स्वस्थता के लिए योग्य साधनों का प्रयोग ही न किया जाए। यहाँ शरीर की सफाई के लिए इन्कार नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि वास्तविक सौन्दर्य को दबाकर कृत्रिमता को उभारने के लिए विलासी प्रसाधनों का उपयोग करना हानिप्रद है। इससे जीवन में विलासिता बढ़ती है और काम-वासना को उद्दीप्त होने का अवसर मिल सकता है। अतः सामाजिक व्यक्ति को अपने यथाप्राप्त रूप को कुरूप करके वास्तविक सौन्दर्य को छिपाने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु उसे कृत्रिम बनाने का प्रयत्न न करे। उसे कृत्रिम साधनों से चमकाने के लिए समय एवं शक्ति की बर्बादी करना मूर्खता है। हमारा बाहरी जीवन सादा और आन्तरिक जीवन सद्गुणों एवं सद्विचारों से सम्पन्न होना चाहिए।[13]

सौन्दर्य आत्मा का गुण है। उसे चमकाने के लिए आत्म-शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। अपने आप पर नियन्त्रण रखना सीखें। वासनाओं के प्रवाह में न बह कर, उन्हें नियन्त्रित करने की कला सीखें। यही कला जीवन को बनाने की कला है। और इसी का नाम आचार है, चरित्र (Character) है और नैतिक शक्ति (Moral Power) है। इसका विकास आत्मा का, जीवन का विकास है।

---

१२. ये अभिभवन्ति साधुं, ते पापा ते च चाण्डाला। —मृच्छकटिक १०, २२।
13. Let our life be simple in its outer aspect and rich in its inner gain.
—*Ravindra Nath Tagore.*

प्रवचन खण्ड

प्रवचन | १

आत्म-शोधन

मानव-जीवन का विराट् स्वरूप हम सबके सामने है। जब हम उसका गहराई से अध्ययन करते हैं, तब उसमे अच्छाइयों और बुराइयों का एक विचित्र-सा ताना-बाना हमे परिलक्षित होता है। एक ओर आध्यात्मिक भावना की पवित्र एवं निर्मल धाराएं प्रवाहित होती नजर आती हैं, तो दूसरी ओर दुर्वासनाओं की गन्दी और सड़ती हुई नालियाँ भी बहती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर सद्गुणों के फूलों का सुन्दर बाग खिला है, तो दूसरी ओर दुर्गुणों के कांटों का जंगल भी खड़ा है। एक ओर घना अन्धकार घिरा है, तो दूसरी ओर उज्ज्वल प्रकाश भी चमक रहा है। दैवी और आसुरी भावनाओ का यह चिरन्तन देवासुर-संग्राम मानव-जीवन के कण-कण मे परिव्याप्त है।

मेरे कथन का अभिप्राय यह है, कि मनुष्य-जीवन में जहाँ अच्छाइयाँ हैं, वहाँ बुराइयाँ भी हैं। एक क्षण के लिए भी दोनों का महायुद्ध कभी बन्द नहीं हुआ। कभी अच्छाइयाँ विजय प्राप्त करती दिखाई देती हैं, तो कभी बुराइयाँ सर उठाती नजर आती हैं।

इस अन्तर्द्वन्द्व के सम्बन्ध में कुछ लोगों ने माना है, कि चैतन्य आत्मा अपने मूल स्वभाव में बुरा ही है, वह कभी अच्छा हो ही नहीं सकता। अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी वह अच्छा नहीं बना और अनन्त-काल गुजर जाएगा, तब भी वह अच्छा नहीं बन सकेगा। क्योंकि उसमें वासनाएँ बनी रहती हैं, फलस्वरूप जन्म-मरण का चक्र भी सदा चलता ही रहता है।

इसी मान्यता के आधार पर भारत में एक दर्शन-शास्त्र का निर्माण भी हुआ और उसकी परम्परा आगे बढ़ी। इस दार्शनिक परम्परा ने आत्मा की पूर्ण पवित्रता और निर्मलता की भावना से एक तरह से साफ इन्कार कर दिया और मान लिया, कि आत्मा को संसार में ही रहना है और वह संसार में ही रहेगी, क्योंकि उसके लिए संसार से ऊँची कोई भूमिका है ही नहीं।

और वासना? यह तो अन्दर की एक अग्नि है। कभी तीव्र तो कभी मंद

होती रहती है। कभी तेज हो जाती है, तो तेज दिखाई देती है और कभी मंद हो जाती है, तो मंद दिखाई देती है। परन्तु मूलतः उसका कभी नाश नहीं होता।

इस प्रकार के दर्शन की मान्यता ने मनुष्य जीवन के उच्च आदर्शों की चमक को मलिन कर दिया है। मनुष्य, जो अपने जीवन को अन्य जीवनों से श्रेष्ठ बनाने की दौड़ में था, एवं जीवन की ऊँचाइयों को छूने का प्रयत्न कर रहा था, उक्त दर्शन की भावना ने एक तरह से उसके मन को मार दिया और उसे हताश एवं निराश बना दिया।

इस दर्शन ने मनुष्य के सामने निराशा का अभेद्य अन्धकार फैलाकर निष्क्रियता का मार्ग रखा। इस दर्शन का अर्थ है, कि हम हथियार डाल दें। क्रोध आता है और प्रयत्न किया जाता है, कि उसे समाप्त कर दिया जाय, किन्तु फिर भी क्रोध आ जाता है, तो क्या उस क्रोध के आगे हथियार डाल दें। समझ लें, कि यह जाने वाला नहीं है? न इस जन्म में और न अगले जन्म में ही।

इसका अर्थ यही हुआ, कि कुछ करने-धरने की जरूरत ही नहीं है। इस तरह तो जितनी भी बुराइयाँ हैं, वे सब हम को घेर कर खड़ी हो जाती हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह उनसे लड़े। मगर यह दर्शन कहता है, कि कितना ही लड़ो, जीत कभी नहीं होगी। मनुष्य अपने विकारों से मुक्त नहीं हो सकता।

यदि कोई डाक्टर बीमार के पास आकर यह कह दे, कि मैं इलाज तो करता हूँ, किन्तु बीमारी जाने वाली नहीं है। इस से कदापि मुक्ति नहीं हो सकती। बीमार को घुल-घुल कर मरना है।

जो डॉक्टर या वैद्य यह कहता है, उस से मरीज का क्या लाभ होना-जाना है। अगर वह चिकित्सा भी करा रहा है तो उस का मूल्य ही क्या है?

जिस दर्शन ने इस प्रकार की निराशा जीवन में पैदा कर दी है, उससे आत्मा का क्या लाभ हो सकता है?

इस दर्शन के विपरीत दूसरा दर्शन कहता है, कि आत्मा में बुराई है ही नहीं, सब अच्छाइयाँ ही है, और प्रत्येक आत्मा अनन्त-अनन्त काल से पर-ब्रह्म रूप ही है। आत्मा में जो विकार और वासनाएँ मालूम होती हैं, वे वास्तव में आत्मा में नहीं हैं। वे तो तुम्हारी बुद्धि में, कल्पना में हैं। यह तो एक प्रकार का स्वप्न है, विभ्रम है, एक प्रकार का मिथ्या विकल्प है, जो सत्य नहीं है।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार भी, विकारों से लड़ने की जो चेतना एवं प्रेरणा पैदा होनी चाहिए, वह नहीं हो पाती है।

कल्पना कीजिए, एक आदमी बीमार पड़ा है। व्यथा से कराह रहा है, उसकी हालत बड़ी खराब है। यदि उसे वैद्य यह कहे, कि तू तो बीमार ही नहीं है, तो क्या

उसके कहने से बीमारी चली जाएगी ? एक आदमी के पैर मे शीशा चुभ गया। वह किसी के यहाँ गया, और जिसके यहाँ गया, वह कहता है कि शीशा चुभा ही नहीं है, इतने कहने भर से तो काम नहीं चलेगा।

ये दो दर्शन, दो किनारों पर खड़े हैं, ये जीवन की महत्वपूर्ण साधना के लिए कोई प्रेरणा नहीं देते, बल्कि साधना के मार्ग में विघ्न उत्पन्न करते हैं।

जैनदर्शन इस सम्बन्ध मे जन-जीवन के समक्ष एक महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत करता है। वह हमें बतलाता है, कि अपेक्षा-विशेष से आत्मा बुरा भी है और अच्छा भी है। आत्मा की ये बुराइयाँ और अच्छाइयाँ अनादि-काल से चली आ रही हैं। कब से चली आ रही हैं, यह प्रश्न छोड़ देना चाहिए। आत्मा की जो बुराइयाँ हैं, उनसे लड़ना है, उन्हें दूर करना है और आत्मा को निर्मल बनाना है। यह तभी होगा, जब साधना का मार्ग सही हो।

एक वस्त्र मैला हो गया है, गंदा हो गया है। उसके विषय में जो आदमी यह दृष्टिकोण रख लेता है, कि यह तो मैला है और मैला ही रहेगा। यह कभी निर्मल होने वाला नहीं। तो, वह उसे धोने का उपक्रम क्यों करेगा ? हजार प्रयत्न करने पर भी जो वस्त्र साफ हो ही नहीं सकता, उसे धोने से लाभ ही क्या है।

जो लोग यह कहते हैं कि—अजी, वस्त्र मैला है ही नहीं। यह तो तुम्हारी आँखों का भ्रम है, कि तुम उसे मैला देखते हो। वस्त्र तो साफ है और कभी मलिन हो ही नहीं सकता ! तब भी कौन उसे धोएगा ?

वस्त्र धोने की क्रिया तभी हो सकती है, जब आप उस की मलिनता पर विश्वास रखें और साथ ही उसके साफ होने में भी विश्वास रखें।

कहा जा सकता है, कि वस्त्र यदि मैला है, तो निर्मल कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि मैल, मैल की जगह है और वस्त्र, वस्त्र की जगह है। मैल को दूर करने की क्रिया करने से मैल हट जाएगा और वस्त्र साफ हो जाएगा। इस प्रकार वस्त्र को मैला समझकर धोएँगे, तो वह साफ हो सकेगा। वस्त्र को जो मैला ही नही समझेगा, अथवा जो उसकी निर्मलता की सम्भावना पर विश्वास नहीं करेगा, वह धोने की क्रिया भी नही करेगा और उस हालत में वस्त्र साफ भी नहीं होगा।

जैनधर्म आत्मा की अशुद्ध दशा पर भी विश्वास करता है और शुद्ध होने की सम्भावना पर भी विश्वास करता है। वह अशुद्धता और शुद्धता के कारणों का बड़ा ही सुन्दर विश्लेषण करता है। हमारे अनेक सहयोगी धर्म भी उसका साथ देते हैं। इसका मतलब यह है, कि आत्मा मलिनता की स्थिति में है, और स्वीकार करना ही चाहिए कि विकार उसमें रह रहे हैं, किन्तु वे विकार उसका स्वभाव नहीं हैं, जिससे

कि आत्मा विकारमय हो जाएगा । स्वभाव कभी छूटता नहीं है । जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वह कदापि उस से पृथक् नहीं हो सकता । स्वभाव ही तो वस्तु है, और यदि स्वभाव चला गया, तो वस्तु के नाम पर रह ही क्या जाएगा ? विकार आत्मा में रहते हुए भी आत्मा के स्वभाव नहीं बन पाते ।

वस्त्र की मलिनता और निर्मलता के सम्बन्ध में ही विचार कर के देखें। परस्पर विरुद्ध दो स्वभाव एक वस्तु में नहीं हो सकते । ऐसा हो, तो उस वस्तु को एक नहीं कहा जाएगा । दो स्वभावों के कारण वह वस्तु भी दो माननी पड़ेंगी । पानी स्वभाव से शीत है, तो स्वभाव से उष्ण नहीं हो सकता । आग स्वभाव से गरम है, तो स्वभाव से ठंडी नही हो सकती । आशय यह है, कि एक वस्तु के परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं हो सकते हैं । अतएव आत्मा स्वभाव से विकारमय एवं मलिन ही हो सकता है, या निर्मल निर्विकार ही हो सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आत्मा में दोनों चीजें हैं—मलिनता भी और निर्मलता भी । तब अपने आप यह बात समझ में आ जानी चाहिए, कि वे दोनों आत्मा के स्वभाव हैं, या और कुछ ? दोनों उसमें विद्यमान हैं अवश्य, मगर दोनों उसमें एक रूप से नहीं हैं । दोनों में एक स्वभाव है, और दूसरा विभाव है, आगन्तुक है, एवं औपाधिक है । दोनों में जो विभाव स्वरूप है, वही हट सकता है । स्वभाव नहीं हट सकता है ।

यहां पर यह प्रश्न होता है कि आत्मा का स्वभाव क्या है ? और विभाव क्या है ? यह समझने के लिए वस्त्र की मलिनता और निर्मलता पर विचार कर लीजिए । वस्त्र में मलिनता बाहर से आई है, निर्मलता बाहर से नहीं आई है । निर्मलता तो उसका सहज-भाव है, स्वभाव है । जिस प्रकार निर्मलता वस्त्र का स्वभाव है और मलिनता उसका विभाव है, औपाधिक भाव है, उसी प्रकार निर्मलता आत्मा का स्वभाव है और विकार तथा वासनाएँ विभाव हैं । जैनदर्शन कहता है, कि आत्मा *विभाव के कारण अशुद्ध दशा में है, पर उसे शुद्ध किया जा सकता है ।*

जो धर्म वस्तु में किसी कारण से आ गया है—किन्तु जो उसका अपना रूप नहीं है, वही विभाव कहलाता है । और जो वस्तु का मूल एवं असली रूप हो, जो किसी बाह्य निमित्त कारण से उत्पन्न न हुआ हो, वह स्वभाव कहलाता है ।

जैन धर्म ने माना है, कि क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा जो भी विकार आत्मा में मालूम हो रहे हैं, वे आत्मा के स्वभाव या निजरूप नहीं हैं । विकार तुम्हारे अन्दर रह रहे हैं, इतने मात्र से तुम वहम में मत पड़ो । वे कितने ही गहरे घुसे हो, फिर भी तुम्हारा अपना रूप नहीं है । तुम, तुम हो, विकार, विकार हैं ।

जैनधर्म ने इस रूप में भेद-विज्ञान की उपदेशना की है। भेद-विज्ञान के विषय में हमारे यहां यह कहा गया है—

भेद-विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।

—आचार्य अमृतचन्द्र

अनादि-काल से आज तक जितनी भी आत्माएँ मुक्त हुई हैं, और जो आगे होंगी, वे तुम्हारे इस कोरे क्रियाकाण्ड से नहीं हुई हैं, और न होंगी। यह तो निमित्त-मात्र है। मुक्ति तो भेद-विज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती है। जड़ और चेतन को अलग-अलग समझने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

जड़ और चेतन को अलग-अलग समझना एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण से जब आत्मा स्वयं को देखती और साधना करती है, तभी जीवन में रस आता है। वह रस क्या है? आत्मा भेद-विज्ञान की ज्योति को आगे-आगे अधिकाधिक प्रकाशित करती जाती है और एक दिन उस स्वरूप में पहुँच जाती है, कि दोनों में सचमुच ही भेद हो जाता है। जड़ से आत्मा सम्पूर्ण रूप से पृथक् हो जाती है और अपने असली स्वभाव में आ जाती है। इस प्रकार पहले भेद-विज्ञान होता है और फिर भेद हो जाता है।

इस प्रकार पहली चीज है, भेद-विज्ञान को पा लेना। सर्वप्रथम यह समझ लेना है, कि जड़ और चेतन एक नहीं हैं। दोनों को अलग-अलग समझना है, अलग-अलग करने का प्रयत्न करना है। जड़ और चेतन की सर्वथा भिन्न दशा को ही वस्तुतः मोक्ष कहा गया है। जड़, जड़ की जगह और चेतन, चेतन की जगह पहुँच जाता है। जो गुण-धर्म आत्मा के अपने हैं, वे ही वास्तव में आत्मा में शेष रह जाते हैं।

जैनधर्म का यह आध्यात्मिक सन्देश है। उसने मनुष्य को उच्च जीवन के लिए बल दिया है, प्रेरणा दी है।

अभिप्राय यह है, कि स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव नहीं समझ लेना चाहिए। आज तक यही भूल होती आई है, कि स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव समझ लिया गया है। दो दर्शन दोनों किनारों पर खड़े हो गए हैं और उनमें से एक कहता है, कि चाहे जितनी शुद्धि करो, आत्मा तो शुद्ध होने वाला है नहीं। दूसरा कहता है, कि आत्मा तो सदा से ही विशुद्ध है। शुद्ध को और क्या शुद्ध करना है?

एक बार जब मैं दिल्ली में था, वहां गांधी मैदान में एक बड़े दार्शनिक भाषण कर रहे थे।

उन्होंने कहा, "पतन होना मनुष्य की मूल प्रकृति है। गिर जाना, पथभ्रष्ट होना, विषयों की ओर जाना और वासनाओं की ओर आकृष्ट होना, आत्मा का स्वभाव

है।" और फिर, उन्होंने विकारों और वासनाओं से अपने आपको मुक्त रखने के लिए भी कहा।

जहाँ तक साधारण उपदेशक का प्रश्न है, कोई आपत्ति नहीं, मगर जब एक दार्शनिक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है, तो उसकी भाषा गलत भाषा हो जाती है। पहले तो यह कहना कि पतन होना स्वभाव है, और फिर यह भी कहना, कि उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। कैसे समझ में आ सकता है? किसी आदमी से यह कहना, कि क्रोध करना आत्मा का स्वभाव है और क्रोध से कोई मुक्त हो ही नहीं सकता, और फिर दूसरी साँस मे उसे क्रोध न करने का उपदेश देना, क्या गलत चीज नहीं है?

दीपक की ज्योति का स्वभाव प्रकाश देना है, किन्तु उससे यह इच्छा की जाए कि वह प्रकाश न करे, तो क्या यह कभी संभव हो सकता है? स्वभाव कभी अलग नहीं हो सकता।

आज विभाव को स्वभाव मानकर चलने की आदत हो गई है। एक दर्शन ने इस मान्यता का समर्थन कर दिया है। अतएव लोग अपनी अनन्त शक्ति के प्रति शंका शील हो रहे हैं और उस ओर से उदासीन होते जा रहे हैं। इस दृष्टिकोण के मूल में ही भूल पैदा हो गई है। जब तक इस भूल को दुरुस्त न कर लिया जाए, जीवन के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं की जा सकेगी।

जैनधर्म का सिद्धान्त यह है, कि अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी विभाव, विभाव ही रहेगा, वह कभी स्वभाव नहीं हो सकता। जो स्वभाव है, वह कदापि विभाव नहीं बनेगा।

जैनधर्म इस विराट् संसार को दो भागों में विभाजित करता है—जड़ और चेतन। और यह कहता है, कि जड़ अनन्त है और चेतन भी अनन्त है। पूर्व-बद्ध कर्म-पुद्गल रूप जड़ के संसर्ग से चेतन में रागादि रूप और रागादियुक्त चेतन के संसर्ग से जड़ पुद्गल में कर्म रूप विभाव परिणति उत्पन्न होती है।

चार्वाक लोग सारे संसार, को एक इकाई के रूप में मान रहे हैं, और कहते हैं कि यह दृश्यमान सारा संसार, मात्र जड़ है, और चैतन्य भी जड़ का ही विकार है। जड़ से भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार उन्होंने सारे संसार को जड़ का रूप दे दिया है।

दूसरी ओर हमारे यहाँ वेदान्ती हैं, जो बड़े ऊँचे विचारक कहे जाते हैं, वे भी एक सिरे पर खड़े हैं। उनका कहना है, कि यह समग्र विश्व, जो आपके सामने है, जड़ नहीं, चेतन है और चेतन के सिवाय और कुछ भी नहीं है। जो जड़ दिखाई देता है, वह भी चेतन ही है। उसे जड़ समझना वास्तव में तुम्हारे मन की भ्रान्ति है।

उनका यह तर्क है कि—अँधेरे में तुम्हारे सामने रस्सी पड़ी है। तुम्हारी उस

पर नजर पड़ी और मन में अचानक ख्याल आया कि यह साँप है। और तुम भयभीत हो गए और उसे मारने लाठी लेने दौड़े। मतलब यह है, कि असली साँप को देखकर जो विचार और भावनाएँ हुआ करती हैं, भय पैदा होता है और मनुष्य मारने को तैयार होता है, वही सब कुछ आप उस समय करते हैं। किन्तु जब प्रकाश लेकर देखते है, तब वह साँप नही, रस्सी निकलती है। बस, उसी समय आपकी वे सब भावनाएँ बदल जाती हैं और आप कहते हैं—अरे यह तो रस्सी थी, यह साँप कहाँ था?

साँप पहले भी नही था और बाद में भी नही था। और भला! वह बीच मे भी कहाँ था? वह तो एक भ्रान्त स्फुरणा थी, मात्र भ्रान्ति थी, जो मन में ही जागृत हुई और मन में ही विलुप्त हो गई।

वेदान्त के विद्वान् यही उदाहरण सारे संसार पर लागू करते हैं। उनका आशय यह है, कि सारे ब्रह्माण्ड में नदी, पर्वत, वृक्ष, और मकान आदि जड़ के रूप मे तथा मनुष्य, पशु और पक्षी आदि चेतन के रूप में जो प्रसार है, वह एक पर-ब्रह्म चैतन्य का ही है। चैतन्य से पृथक् न कोई भूमि या पहाड़ है, न महल और मकान है और न कोई देह-धारी जीव है। एक चैतन्य के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। जैसे रस्सी को साँप समझ लिया जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म को लोग नाना रूपो में समझ रहे हैं। जिस समय रस्सी को साँप समझा जाता है, उस समय यह नही मालूम होता, कि वास्तव में यह साँप नही है और हमें भ्रम हो रहा है। उस समय तो वह वास्तविक साँप ही मालूम होता है। भ्रम का पता तो प्रकाश में देखने पर ही चलता है। इसी प्रकार जब दिव्य आत्मिक प्रकाश आत्मा को प्राप्त होता है, उस समय आत्मा समझती है, कि यह सारा विस्तार भ्रम के सिवाय और कुछ भी नही है। उस समय आत्मा ज्योति रूप बन जाती है और ब्रह्ममय हो जाती है।

चार्वाक भी अद्वैतवादी है, किन्तु वह जड़ाद्वैतवादी है। और दूसरी ओर वेदान्त भी अद्वैतवादी है, किन्तु वह चैतन्याद्वैतवादी है। जैनधर्म द्वैतवादी है। इसका अर्थ यह हुआ, कि वह सारे संसार को एक इकाई न मानकर दो इकाइयों के रूप में स्वीकार करता है। जैनधर्म के अनुसार जड़ और चेतन स्वभावतः पृथक् दो पदार्थ हैं और दोनों की अपनी-अपनी सत्ता है। यह नहीं कि एक ही तत्त्व दो रूपों में हो गया हो। जैन दर्शन मूल में दो तत्त्व स्वीकार करता है—जीव और अजीव, चेतन और जड़।

बस, यही से साधना का रूप प्रारम्भ होता है। जैन दर्शन की साधना का उद्देश्य है, कि जड़ को अलग और चेतन को अलग कर लिया जाए।

पहले कहा जा चुका है, कि जड़ की भाँति ही चेतन भी अनन्त हैं। उन सब का अपना-अपना स्वतन्त्र और मौलिक अस्तित्व है। फिर भी सब चेतन स्वभाव से एक समान हैं।

प्रश्न होता है, कि चेतन अनन्त हैं और समान स्वभाव वाले हैं, तो सब एक रूप में क्यों नहीं हैं ? कोई अत्यन्त क्रोधी है तो कोई क्षमावान् है। कोई अत्यन्त विनम्र है, इतना विनम्र कि अभिमान को पास भी नहीं फटकने देता, तो दूसरा अभिमान के कारण धरती पर पैर ही नही धरता। यह सब भिन्नताएँ क्यों दिखाई देती हैं ? अगर आत्मा का रूप एक सरीखा है, तो सब का रूप एक-सा क्यों नही है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि आत्माओं में जो भिन्नता दिखाई देती है, उसका कारण विभाव-परिणति है। अपने मूल और शुद्ध स्वभाव के रूप में सब आत्माओं में समानता है, मगर जड़ के संसर्ग के कारण उनके स्वभाव में जो विकार उत्पन्न हो जाता है, वह विकार नाना प्रकार का है।

स्थानांग सूत्र मे कहा है—एग आया अर्थात् आत्मा एक है। यह कथन संख्या की दृष्टि से नही, स्वभाव की दृष्टि से है। अर्थात् जगत् की जो अनन्त-अनन्त आत्माएँ हैं, वे सब गुण, और स्वभाव की दृष्टि से चैतन्य-स्वरूप हैं, अनन्त शक्तिमय हैं और अपने आप मे निर्मल हैं।

फिर भी आत्माओं में जो भिन्नता एवं विकार मालूम दे रहे हैं, वे बाहर के हैं, जड़ के संसर्ग से उत्पन्न हुए हैं—कर्म या माया ने उन्हें उत्पन्न किया है। जिस आत्मा में जितने ही ज्यादा विकार हैं, वह उतनी ही ज्यादा दूषित है। और जिसमें जितने कम विकार हैं, वह उतनी ही अधिक पवित्र आत्मा है।

एक वस्त्र पूर्ण रूप से स्वच्छ है और एक पूर्ण रूप से गंदा है और एक कुछ गंदा और कुछ साफ है। प्रश्न होता है, कि यह बीच की स्थिति अवस्था कहाँ से आई ?

इस अवस्था-भेद का कारण मैल की न्यूनाधिकता है। जहाँ मैल का पूरी तरह अभाव है, वहाँ पूरी निर्मलता है और जहाँ मैल जितना ज्यादा है, वहाँ उतनी ही अधिक मलिनता है।

इसी प्रकार जो आत्मा क्षमा, नम्रता और सरलता के मार्ग पर है, अपनी वासनाओं एवं विकारों पर विजय प्राप्त करती हुई दिखाई देती है, और अपना जीवन सहज भाव की ओर ले जा रही है, समझना चाहिए कि उसमें विभाव का अंश कम है और स्वभाव का अंश अधिक है। जितने-जितने अंश में विभाव कम होता जाता है और मलिनता कम होती जाती है, उतने-उतने अंशों में आत्मा की पवित्रता धीरे-धीरे अभिव्यक्त होती जा रही है। वह स्वभाव की ओर आती जा रही है।

जैनधर्म की इस दृष्टि से पता लगता है कि जड़, जड़ है और चेतन, चेतन है। अतः साधक को समझना चाहिए कि मैं चेतन हूँ, जड़ नहीं हूँ। मैं विकार-वासना भी नहीं हूँ। मैं क्रोध, मान, माया एवं लोभ भी नहीं हूँ। नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और

देवता भी नहीं हूँ। मुझमें जो विकार मालूम होते हैं, ये सब पुद्गल संयोग-जनित हैं। पानी में मिट्टी आ गई है, तो कीचड़ का रूप दिखलाई दे रहा है।

जब यह सम्यग् दृष्टि जगी, तब आत्मा इस अश में अपने स्वरूप मे आ गई। यह दृष्टिकोण यदि एक बार भी जाग जाए, यदि एक बार भी जड और चेतन को अलग-अलग समझ लिया जाए, तो फिर आत्मा कितनी ही क्यो न अधोदिशा मे चली जाए, एक दिन वह अवश्य ही ऊपर उठेगी, कर्मों के बन्धन को काट कर अपने असली शुद्ध-स्वरूप मे आ जाएगी। अपने शुद्ध-स्वरूप में आजाना, जड़ से सर्वथा पृथक् हो जाना ही मोक्ष होना कहलाता है। शुद्ध दृष्टि होने पर देर होना सम्भव है, मगर अंधेर होना सम्भव नही। अंधेर या अधकार तभी तक सम्भव है, जब तक भेद-विज्ञान नहीं होता।

भगवान् महावीर ने संसार भर की आत्माओं को एक बहुत महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया। जिन्हें यह सन्देश मिला, जिन्होने इस पर विश्वास किया, उन्होंने अपनी मूल शक्ति को जगाने का प्रयत्न किया। भगवान ने कहा है, कि मेरा काम ज्योति जगाना है। ज्योति जगाने के बाद भी कभी अधकार दिखाई दे, तो निराश मत होओ। वह अंधकार अब टिक नहीं सकता। एक बार भेद-विज्ञान की ज्योति का स्पर्श होते ही वह इतना कच्चा पड़ गया है, कि उसे नष्ट होना ही पड़ेगा। वह नष्ट होकर ही रहेगा।

भगवान् महावीर के पास हजारों जिज्ञासु और साधक आते थे। उनमें से कुछ ऐसे होते थे, कि भगवान् का प्रवचन जब तक सुनते, तब तक तो आनंद में झूमते रहते और जब घर पहुँचते, तो फिर ज्यों के त्यों हो जाते, फिर उसी संसार के चक्र में फँस जाते।

इस पर प्रश्न उठा, कि जो आत्माएँ प्रवचन सुन कर गद्गद हो जाती हैं, जिनकी भावनाएँ जाग उठती हैं, और मन मे उल्लास पैदा हो जाता है, किन्तु ज्यों ही घर में पैर रक्खा कि ज्ञान की वह ज्योति बुझ गई, और भावना की वह लहर मिट गई, तो इस प्रकार के श्रवण से क्या लाभ ?

भगवान् ने कहा—'इसमें भी बड़ा लाभ है। उनको आज तक प्रकाश की किरण नहीं मिली थी, और अनन्त-अनन्त जीवन धारण करके भी उन्हें पता नही चला था, कि जड़ क्या है और चेतन क्या है ? अगर एक बार भी किसी के अंतः-करण में यह बुद्धि जाग उठी और उसने अपने चिदानन्द के दर्शन कर लिए, तो मेरा काम पूरा हो गया। वह भूलेगा और भटकेगा, किन्तु कहाँ तक भूला भटका रहेगा ? आखिर, तो अपनी राह पर आएगा ही। वह अवश्य ही परम पद को प्राप्त करेगा।

एक बार भगवान् महावीर अपने शिष्यों के साथ मगध से सिंध की विहार-यात्रा पर जा रहे थे। राजा उदायी के अत्यन्त आग्रह पर सिन्ध की ओर उनका

विहार हुआ। जब वे मरु भूमि के मैदान से गुजर रहे थे, तब भयानक गरमी के दिन थे। वर्णन आता है, कि कई साधक तो रास्ते में ही आहार-पानी के अभाव में देह-त्याग कर गए। इस पर भी भगवान् और उनके शिष्य अनाकुल थे। जो भी रास्ते में मिलता, खड़े होते, उसे सद्धर्म का सन्देश देते और फिर मन्थर गति से आगे की ओर बढ़ जाते। भूख-प्यास और ताप से शरीर गिरने को है, किन्तु आत्मा फिर भी नहीं गिर रही है। मन में किसी भी प्रकार के आकुलता-व्याकुलता के भाव नहीं हैं।

कुछ सन्त आगे चले गए और कुछ पीछे रह गए। इस तरह सन्त छोटी-छोटी कई टोलियों में बँट गए।

भगवान् महावीर और गणधर गौतम साथ-साथ थे। गौतम भगवान् के पक्के अन्तेवासी थे, अतः छाया की तरह भगवान् का अनुगमन कर रहे थे। पल भर भी भगवान् से अलग होना उन्हें पसन्द नहीं था। अन्तेवासी का अर्थ होता है—सदा समीप में रहने वाला।

तेज गरमी पड़ रही थी। सूर्य उत्तप्त हो उठा था, और जमीन जल रही थी। फिर भी सन्तों की टोलियाँ धीर और मन्द गति से, ईर्या-समिति का ध्यान रखते हुए, चली जा रही थीं। चित्त में खिन्नता नहीं, मन में व्याकुलता नहीं, चेहरे पर परेशानी नहीं, ललाट पर सिकुड़न नहीं। सन्त-गण निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे थे।

गाँव दूर है, और मार्ग में ऐसे वृक्ष भी नहीं, कि जिनकी छाया में बैठकर क्षण भर को विश्रान्ति कर सकें।

तभी दीख पड़ा, कि एक वृद्ध किसान अपने बूढ़े और निर्बल बैलों को लिए जमीन जोत रहा है।

भगवान् ने किसान की वास्तविक स्थिति का परिचय कराते हुए गौतम से कहा—'यह किसान किस बुरी स्थिति में अपना जीवन चला रहा है? तुम जाकर इसे बोध दो!'

गौतम ने कहा—'भंते! जो आज्ञा।'

आज का कोई साधु होता तो कह देता—"यह भी कोई बोध देने का समय है? आसमान से आग बरस रही है, और जमीन आग उगल रही है। आहार-पानी का पता नहीं और आपको बोध देने की सूझी है। अभी हमारे सामने तो एक ही समस्या है, कि कैसे गाँव में पहुँचेंगे, कहाँ से लाएँगे और कैसे खाएँगे-पीएँगे?"

किन्तु गौतम जैसे आज्ञाकारी शिष्य ऐसी भाषा बोलने के लिए नहीं थे। वे तत्काल उस किसान के पास पहुँचे। उन्होंने पूछा—"तुम्हारा क्या नाम है? तुम्हारी क्या स्थिति है?"

किसान ने कहा—"तुम अपना काम करो और मुझे अपना काम करने दो।"

गौतम अवाक् थोड़ी देर खड़े रहे। बूढ़ा किसान जमीन जोत कर चलने लगा, तो गौतम भी नंगे पाँव उसके पीछे-पीछे जलती रेत में चलने लगे।

गौतम विचार-मग्न थे। आखिर उन्होंने कहा—"अरे भाई, मेरी एक बात तो सुन लो।"

किसान बोला—"कहो, क्या बात है ?"

गौतम—"घर मे तुम कितने आदमी हो ?"

किसान—"मैं अकेला राम हूँ, अन्य कोई नहीं है।"

गौतम—"और मकान ?"

किसान—"एक फूँस का छप्पर है। जब वह खराब हो जाता है, तब जंगल से घास-पात ले जाकर फिर ठीक कर लेता हूँ।"

गौतम—"तुम इतने दिनों में भी सुखी नही हो सके, तो इस ढलती उम्र में ही क्या सुखी हो सकोगे ?"

किसान—"मेरे भाग्य में सुख है ही नही। बहुत-सी जिंदगी बीत गई। थोड़ी और बाकी है, उसे भी यों ही बिता दूँगा।"

गौतम—"क्या दो रोटियों के लिए अपनी शेष अनमोल जिन्दगी यूँ ही समाप्त कर दोगे ? अगले जन्म के लिए भी कुछ करोगे या नहीं ? न करोगे, तो पीछे पछताओगे।"

गौतम जैसे महान् त्यागी का उपदेश कारगर हुआ। किसान के हृदय में गौतम के प्रति श्रद्धा जाग उठी। उत्कंठा के साथ उसने पूछा—"भगवन् ! क्या मेरे भाग्य मे भी कहीं सुख लिखा है ? मैं तो अब बूढ़ा हो चुका हूँ। जिंदगी किनारे लग गई है। अब इस जन्म में मुझे तारने वाला कौन है ? आप ही कहिए, मुझे क्या करना चाहिए ?"

गौतम—"सुख की बात तो यह है, कि प्रत्येक आत्मा में अनन्त आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है। भाग्य में क्या लिखा है, इसकी क्या बात करते हो ? आत्मा के कण-कण में अक्षय आनन्द का निधि भरा पड़ा है। उसे समझने भर की देर है। अब रही बात तारने की, तो जो मुझे तारने वाला है, वही तुम्हें भी तारने वाला है, और वही समग्र जगत् को तारने वाला है। मैंने जिन प्रभु का आश्रय लिया है, उन्हीं प्रभु के चरणों में चल कर तुम भी आत्म-समर्पण कर दो। भगवान् के सर्वोदय संघ में सबको समान स्थान प्राप्त है। वहाँ बालक और वृद्ध, राजा और रंक, ऊँचे और नीचे, सब एक-सा स्थान पाते हैं। भगवान् की गोद में सभी साधक आश्रय पा सकते हैं। वह गोद शान्ति की एक सुन्दर स्थली है। वहाँ जात-पाँत आदि की विभिन्न मर्यादाएँ नहीं है, किसी किस्म की दीवारें नहीं हैं।"

बूढ़े किसान के मन में गौतम की बात बैठ गई। उसने उसी समय गौतम से दीक्षा ले ली। गणधर गौतम भगवान् की ओर चले और उनका नवदीक्षित शिष्य भी उनके पीछे-पीछे चला।

गौतम ने जाते ही प्रभु को वन्दन किया। किसान ने, जो साधु बन चुका था, भगवान् को देखा—उनकी परिषदा देखी, स्त्री और पुरुषों की एक बड़ी भीड़ देखी, तो वह भड़क गया। कहने लगा—"यह तो ढोंग है। मैं समझता था, कि यह निःस्पृह और त्यागी होंगे। मगर यहाँ का तो रंग-ढंग ही निराला है।"

यह कह कर उस बूढ़े किसान ने फिर वही अपना पहले का पथ अपना लिया और चल दिया।

सभी लोग उसकी यह चर्या देखकर चकित रह गए। गौतम ने प्रभु से पूछा—"भगवन्! यह क्या बात है? मेरे साथ आया, तब तक तो उसके मन में कोई बात नहीं थी। वह मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा था। परन्तु अब उसके हृदय में सहसा यह हलचल क्यों उत्पन्न हुई? आपको देखते ही क्यों भाग खड़ा हुआ?"

भगवान ने कहा—"आयुष्मान्! इस घटना के पीछे एक लम्बा इतिहास है। सुनो, जब मैं त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में था, तब यह किसान सिंह के रूप में था। मैं सिंह को मारने जा रहा था, तब तुम मेरे सारथी थे। मैंने सिंह का वध किया, अतः यह जब मरा तो मेरे प्रति घृणा का भाव लेकर मरा। मगर तुम्हारे प्रति उसके हृदय में प्रेम के अंकुर पैदा हो गए थे। तुमने उस मरण की घड़ी में उसे मीठे वचनों से समझाया था—"हे सिंह! तुम मृगराज हो, और यह नर-राज है। पछतावा मत करो। तुम किसी साधारण आदमी के हाथ से तो नहीं मारे गए हो। राजा राजा से मरा है।"

जन्म-मरण की एक लम्बी परम्परा के बाद अब मैं महावीर के रूप में हूँ, तुम मेरे शिष्य गौतम के रूप में हो और वह तीसरा साथी सिंह, किसान के रूप में जन्मा है। तुम्हारी वाणी का इसी कारण उस पर प्रभाव हो गया, कि तुमने उसे उस जन्म में भी प्रतिबोध दिया था। उसी प्रेम के कारण किसान मिलते ही तुम्हारे साथ हो गया। मगर मेरे साथ उसका पिछले जन्म का वैर-भाव था, वह मुझसे नहीं समझ सकता था। देखते ही, मुझे देखते ही उसके हृदय में दबे हुए घृणा के संस्कार जाग उठे और वह संयम का पथ छोड़कर भाग गया।"

भगवान् ने फिर कहा—"अभी बेचारा कर्मों के चक्कर में फँसा है। अभी उसे बहुत कर्म भोगने हैं। उसका कोई दोष नहीं है। वह तो कर्मों का नचाया नाच रहा है। उस पर हमें किसी प्रकार का द्वेष नहीं करना है, घृणा नहीं करनी है। गौतम, खिन्न होने की कोई बात नहीं है, हमारा कार्य पूरा हो चुका है। तुम्हारे द्वारा उसके अन्तर में सत्य-दृष्टि का, सम्यग्-दर्शन का जो बीजारोपण हुआ है; वह एक दिन अवश्य अंकुरित होगा और उसकी मुक्ति का कारण बनेगा।"

यह है सम्यग्दर्शन की, भेद-विज्ञान की महिमा ! भगवान् महावीर ने गौतम के द्वारा भेद विज्ञान का बीजारोपण कराया, और किसान के लिए अवश्य भावी मुक्त होने का पथ प्रशस्त कर दिया। भले ही, वह उस समय भटक गया, परन्तु सदा काल भटका नही रहेगा। एक बार भी यदि अंशतः भी स्वभाव में आया कि बेड़ा पार !

हिंसा, झूठ, चोरी और अब्रह्मचर्य—सब विभाव हैं, विकार हैं। इन विभावों को नष्ट करना है, तो अपने असली स्वरूप को, आत्मा की स्वाभाविक परिणति को पकड़ना चाहिए। विभाव से स्वभाव में आना कर्मोदय का फल नहीं, स्वभाव से विभाव की ओर जाना कर्मोदय का फल है। यह कर्मोदय का फल है और साथ ही कर्म-बन्ध का कारण भी है।

स्वभाव मुक्ति है, विभाव बन्धन है। मिथ्यात्व आदि विभाव हैं, अतएव बन्धन हैं। जब कि सम्यक्त्व आदि स्वभाव हैं—कर्म और उसके फल से छूटना है।

इस प्रकार सही दृष्टिकोण पाकर और अपनी भावनाओं का सम्यक् रूप से विश्लेषण करके जीवन में स्वभाव की ओर बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए और विभाव को छोड़ते चलने का प्रयास करना चाहिए। ज्यों-ज्यों आत्मा विभाव से दूर होता जाएगा, त्यों-त्यों अपने असली स्वरूप के निकटतर होता जाएगा, यही साधना का मूल-मंत्र है। इस में ही जीवन की सफलता और कृतार्थता है। स्वभाव में पूरी तरह स्थिर हो जाना ही जीवन की चरम सिद्धि है।

इस जीवन मे हमें शत्रुओं से लड़ना है और उन्हे पछाड़ना है। परन्तु अपने असली शत्रुओं को पहचान लेना चाहिए। हमारे असली शत्रु हमारे मनोगत विकार ही हैं, विभाव ही हैं। हमें इन्हे दुर्बल और क्षीण करना है और 'स्व' का बल बढ़ाना है। गीताकार भी यही कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः, परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ॥

स्वधर्म-स्वगुण अर्थात् आत्मा का निज रूप ही श्रेयस्कर है और परधर्म अर्थात् वैभाविक परिणति भयंकर है। स्वधर्म में ही मृत्यु प्राप्त करना कल्याण-कर है। परधर्म मनुष्य को दुर्गति और दुरवस्था में ले जाता है।

ब्रह्मचर्य स्वभाव है, आत्मा की स्व-परिणति है और अहंचर्य विभाव है, आत्मा की पर-परिणति है। यहाँ 'अहं' देहाभिमान अर्थ में है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—जिस की चर्या अर्थात् गमन ब्रह्म की ओर हो, आत्मा की ओर हो। अहंचर्य का अर्थ है, जिस की चर्या, जिसका गमन शरीर की ओर हो, देह-भाव की ओर हो। ब्रह्मचारी बाहर से अन्दर की ओर आता है, और अहंचारी अन्दर से बाहर की ओर जाता है। अहंचर्य

में मन एवं इन्द्रियों की दासता रहती है, और ब्रह्मचर्य में मन एवं इन्द्रियों की वृत्ति पर प्रभुता रहती है।

आज जिस व्रत के वर्णन का उपक्रम किया है, वह ब्रह्मचर्य व्रत स्वधर्म है—आत्मा का स्वभाव है। ब्रह्म में अर्थात् आत्मा में, विचरना अर्थात् रमण करना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य को जिसने धारण कर लिया होगा, वह कभी विभाव में पड़ने वाला नहीं रहेगा। संसार की वैभाविक प्रवृत्तियाँ उसे निःस्वाद और निःसार जान पड़ेंगी। उसे अक्षय शान्ति, अखण्ड सन्तोष और अनन्त आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर
४-११-५०

●

सदाचार और संयम धर्म का सूक्ष्म रूप है, जो अन्दर रहता है। और साम्प्रदायिक क्रियाकाण्ड तथा वेश-भूषा उसका स्थूल रूप है, जिसे हर कोई देख सकता है, जान सकता है। धर्म के सूक्ष्म रूप की रक्षा के लिए बाहर का स्थूल आवरण आवश्यक है। परन्तु यदि ऐसा हो, कि सुन्दर, सचित्र, रंग-बिरंगा लिफाफा हाथ में आ जाए, और खोलने पर पत्र न मिले, तो यह कितना मर्म-भेदक परिहास है। आजकल के धर्म-पन्थों को इससे बचना चाहिए।

●

मनोनिग्रह का अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। हजारों दार्शनिक पुकारते हैं, मन को रोको, मन को वश में करो। परन्तु, मैं पूछता हूँ—मन को रोक कर आखिर करना क्या है? यदि मन को अशुभ संकल्पों से रोक कर शुभ संकल्पों के मार्ग पर नहीं चलाया, तो फिर वही दशा होगी कि घोड़े को गलत राह पर जाने से रोक तो लिया, परन्तु वहीं लगाम पकड़े खड़े रहे। उसे ठीक राह पर न डाल सके।

अन्तर्द्वन्द्व

कल मैंने बतलाया था, कि मनुष्य के जीवन मे अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी हैं। मनुष्य का जीवन-प्रवाह चला आ रहा है, उसमें कोई स्थिति ऐसी नहीं थी, कि वहाँ अच्छाइयाँ कतई न हों। अच्छाइयाँ हर हालत में रही हैं, पर साथ ही बुराइयाँ भी आती रही हैं।

सच पूछो, तो यही जीवन का द्वन्द्व है, यही संघर्ष है और यह लड़ाई है। हम अपने जीवन मे यही लड़ाई लड़ते रहे हैं और अब भी लड़ रहे हैं। इस प्रकार मनुष्य का जीवन एक तरह से कुरुक्षेत्र बना हुआ है। गीता मे एक प्रश्न उठाया गया है—

धर्म-क्षेत्रे कुरु-क्षेत्रे, समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव, किमकुर्वत संजय॥

धर्मक्षेत्र एवं कुरुक्षेत्र मे लड़ने के अभिलाषी जो कौरव और पाण्डव आए, तो हे संजय! उन्होने क्या किया?

यह धृतराष्ट्र का प्रश्न है, और इसी प्रश्न के आधार पर सारी गीता खड़ी हो गई। यह प्रश्न कुरु-क्षेत्र के मैदान के विषय में किया गया है। पर वह तो इतिहास की एक घटना थी, जो हुई और समाप्त हो चुकी। किन्तु सबसे बड़ी युद्ध की भूमि, लड़ाई का मैदान तो यह जीवन-क्षेत्र है। इसमें भी कौरव और पाण्डव लड़ रहे हैं!

कौरव और पाण्डव तो भूमि के कुछ टुकड़े के लिए लड़े थे। वह जो भी भली या बुरी घटना थी, उसी युग में समाप्त भी हो गई। पर हमारे जीवन का महाभारत तो अनादि काल से चलता आ रहा है और अब चल रहा है। उक्त महाभारत में हमारा हृदय कुरु-क्षेत्र है और उसमें जो अच्छी और बुरी वृत्तियाँ हैं, वे कौरव और पाण्डव हैं। उनका जो द्वन्द्व या संघर्ष चल रहा है, वह महाभारत है। पाण्डव अच्छी वृत्तियों के प्रतीक हैं, तो कौरव बुरी वृत्तियों के हैं।

जब तक कोई मनुष्य इस लड़ाई को नहीं जीत लेता और अच्छी वृत्तियाँ बुरी

वृत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेतीं और अपने मन पर पूरा अंकुश नहीं लगाया जाता, तब तक हमारा जीवन एक सिरे पर नहीं पहुँच सकता।

जितने भी विचारक, दार्शनिक और चिन्तन-शील हुए है, वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध में जितना कहते हैं उससे कहीं अधिक वे अन्तर्जगत् के विषय में कहते हैं।

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

जो पिण्ड मे हो रहा है, वही ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि मे है, वही समष्टि में भी होता है।

बाह्य संसार में जो काम हो रहे हैं, वहां सर्वत्र तुम्हारे अन्तर जीवन की छाया ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र, जो तुमने बाहर खड़े कर रखे हैं, वे तुम्हारी अन्दर की वृत्तियों ने ही खड़े किए हैं। बाहर जो प्रतिबिम्ब है, वह अन्दर से ही आता है। *यदि अन्तर में मैत्री-भाव जागृत होता है, तो सम्पूर्ण विश्व मित्र के ही रूप में नजर आता है। और जब अन्तर में द्वेष, शत्रुता और घृणा के भाव चलते हैं, तब सारा* संसार हमें शत्रु के रूप में खड़ा नजर आता है। यही कारण है, कि जब हमारे बड़े-बड़े विचारक आए, चिन्तन-शील साधु और सद्गृहस्थ आए, और जब उन्होंने विश्व का *प्रतिनिधित्व किया, तो उन्होंने जन-जीवन मे यही मंत्र फूंका—*

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

हम संसार को मित्र की आँखों से देखते हैं—प्राणी मात्र को अपना मित्र मानते हैं।

जब ऐसी दृष्टि पैदा हो गई, तब उन्हें संसार में कोई शत्रु नजर नहीं आया। और तो क्या, विरोधी भी मित्र के रूप में ही नजर आए। जो तलवार लेकर मारने दौड़े, वे भी प्रेम और स्नेह की मूर्ति के रूप में ही दिखाई दिए। कोई भी जिन्दगी आग बरसाती हुई नजर नहीं आई। उन्होंने समस्त जिंदगियों को प्रेम और अमृत बरसाते हुए ही देखा।

इसके विपरीत, जिनके हृदय में घृणा और द्वेष की आग की ज्वालाएँ धधक रही थीं, वे जब आगे बढ़े, तब उन्हें अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई दिए। और तो क्या, जो उनका कल्याण करने के लिए आए, वे भी उन्हें विरोधी के रूप में ही नजर आए। यही कारण है कि रावण की नजरों में राम शत्रु के रूप में रहे, और गोशाला को भगवान् महावीर की अमृत-वाणी भी विष-भरी जान पड़ी। किन्तु भगवान् महावीर के हृदय में गोशाला के प्रति वही दया थी, जो गौतम के लिए थी। यह नहीं था, कि गौतम के लिए भगवान् महावीर के हृदय में कोई दूसरी चीज हो, और गोशाला आदि के प्रति वे कोई और भाव रखते हों। भगवान् का दोनों के प्रति एक-सा भाव था।

मगर गोशाला को भगवान् और ही रूप में नजर आए और उधर गौतम को कुछ और ही। हम समझते हैं, कि बाहर में जो गुत्थियाँ हैं, वे सब हमारे मन में रहती है। अतः जैसा हमारा मन होता है, वैसा ही संसार हमको नजर आने लगता है।

पुराने दर्शनों की जो विभिन्न परम्पराएँ हैं, उनमें एक दृष्टि-सृष्टिवाद की भी परम्परा है। उसकी मूल विचारणा है—

यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि:।

जैसी दृष्टि होती है, जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण बन जाता है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि हो जाती है।

अभिप्राय यह है, कि कोई पूछे कि सृष्टि भली है या बुरी? तो इसके लिए उसी से पूछ लो, कि तुम्हारी दृष्टि अच्छी है या बुरी? अगर दृष्टि अच्छी है, तो सृष्टि भी अच्छी नजर आएगी और दृष्टि बुरी है, वो सृष्टि भी बुरी नजर आएगी।

मनुष्य बाहर में जो संघर्ष कर रहा है, उसका मूल अन्दर में है। वह अन्तर्वृत्तियों के कारण ही बाहर में जूझ रहा है। इस सम्बन्ध में पुराने विचारकों ने एक सुन्दर रूपक की संयोजना की है।

कांच के एक महल में जहाँ ऊपर, नीचे और इधर-उधर कांच ही कांच जड़ा था, एक कुत्ता पहुँच गया। वह अकेला ही था, उसका कोई संगी-साथी भी नहीं था। वहाँ उसे रोटी का एक टुकड़ा पड़ा मिला। ज्यों ही वह उसे लेने के लिए झपटा। क्या देखता है, कि सैकड़ों कुत्ते उस टुकड़े के लिए झपट रहे हैं। कुत्ता वहाँ अकेला ही था, परन्तु उसी के अपने सैकड़ों प्रतिबिम्ब सैकड़ों कुत्तों के रूप में उसे नजर आ रहे थे। वह उनसे संघर्ष करता है, लड़ता है। जब मुँह फाड़ता है और दाँत निकालता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी सैकड़ो कुत्ते भी वैसा ही करते हैं। वह कांच की दीवारों से टकरा-टकरा कर लोहूलुहान हो जाता है। टुकड़ा वहीं पड़ा है। उसे कोई उठाने वाला नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भूमिका में से सैकड़ों कुत्ते पैदा हो गए और उनसे लड़-लड़ कर उसने अपनी ही दुर्गति कर डाली।

हमारे विचारकोंने कहा है, ठीक यही स्थिति संसारासक्त मनुष्य की हो रही है। उसे जीवन के बाहर के जो शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं, और उनसे वह संघर्ष करता हुआ नजर आता है, किन्तु वास्तव में वह संघर्ष बाहर का नहीं है, वह तो उसको अन्दर की वृत्ति का है। किन्तु मनुष्य अपनी वृत्तियों को ठीक रूप से न समझने के कारण बाहर में संघर्ष करता दिखाई देता है, और अपनी स्वयं की दुर्गति कर लेता है।

यदि संसार की समस्या को हल करना चाहते हो, तो पहले अपने अन्दर की [illegible] को हल करो। यदि तुमने अन्दर के दृष्टिकोण को स्पष्ट समझ लिया है, तो जो तुम चाहोगे, वही हो जाएगा।

वृत्तियों पर विजय नही प्राप्त कर लेतीं और अपने मन पर पूरा अंकुश नहीं लगाया जाता, तब तक हमारा जीवन एक सिरे पर नहीं पहुँच सकता।

जितने भी विचारक, दार्शनिक और चिन्तन-शील हुए हैं, वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध में जितना कहते हैं उससे कही अधिक वे अन्तर्जगत् के विषय में कहते हैं।

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे ।

जो पिण्ड में हो रहा है, वही ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि में है, वही समष्टि में भी होता है।

बाह्य संसार में जो काम हो रहे हैं, वहाँ सर्वत्र तुम्हारे अन्तर जीवन की छाया ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र, जो तुमने बाहर खड़े कर रखे हैं, वे तुम्हारी अन्दर की वृत्तियों ने ही खड़े किए हैं। बाहर जो प्रतिबिम्ब है, वह अन्दर से ही आता है। यदि अन्तर में मैत्री-भाव जागृत होता है, तो सम्पूर्ण विश्व मित्र के ही रूप में नजर आता है। और जब अन्तर मे द्वेष, शत्रुता और घृणा के भाव चलते हैं, तब सारा संसार हमें शत्रु के रूप में खड़ा नजर आता है। यही कारण है, कि जब हमारे बड़े-बडे विचारक आए, चिन्तन-शील साधु और सद्गृहस्थ आए, और जब उन्होंने विश्व का प्रतिनिधित्व किया, तो उन्होने जन-जीवन मे यही मंत्र फूँका—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।

हम संसार को मित्र की आँखों से देखते है—प्राणी मात्र को अपना मित्र मानते हैं।

जब ऐसी दृष्टि पैदा हो गई, तब उन्हें संसार में कोई शत्रु नजर नहीं आया। और तो क्या, विरोधी भी मित्र के रूप में ही नजर आए। जो तलवार लेकर मारने दौड़े, वे भी प्रेम और स्नेह की मूर्ति के रूप में ही दिखाई दिए। कोई भी जिन्दगी आग बरसाती हुई नजर नहीं आई। उन्होंने समस्त जिंदगियों को प्रेम और अमृत बरसाते हुए ही देखा।

इसके विपरीत, जिनके हृदय में घृणा और द्वेष की आग की ज्वालाएँ धधक रही थीं, वे जब आगे बढ़े, तब उन्हें अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई दिए। और तो क्या, जो उनका कल्याण करने के लिए आए, वे भी उन्हें विरोधी के रूप में ही नजर आए। यही कारण है कि रावण की नजरों में राम शत्रु के रूप में रहे, और गोशाला को भगवान् महावीर की अमृत-वाणी भी विष-भरी जान पड़ी। किन्तु भगवान् महावीर के हृदय में गोशाला के प्रति वही दया थी, जो गौतम के लिए थी। यह नहीं था, कि गौतम के लिए भगवान् महावीर के हृदय में कोई दूसरी चीज हो, और गोशाला आदि के प्रति वे कोई और भाव रखते हों। भगवान् का दोनों के प्रति एक-सा भाव था।

मगर गोशाला को भगवान् और ही रूप में नजर आए और उधर गौतम को कुछ और ही। हम समझते है, कि बाहर में जो गुत्थियाँ हैं, वे सब हमारे मन में रहती हैं। अतः जैसा हमारा मन होता है, वैसा ही संसार हमको नजर आने लगता है।

पुराने दर्शनों की जो विभिन्न परम्पराएँ हैं, उनमें एक दृष्टि-सृष्टिवाद की भी परम्परा है। उसकी मूल विचारणा है—

यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि :।

जैसी दृष्टि होती है, जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण बन जाता है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि हो जाती है।

अभिप्राय यह है, कि कोई पूछे कि सृष्टि भली है या बुरी? तो इसके लिए उसी से पूछ लो, कि तुम्हारी दृष्टि अच्छी है या बुरी? अगर दृष्टि अच्छी है, तो सृष्टि भी अच्छी नजर आएगी और दृष्टि बुरी है, वो सृष्टि भी बुरी नजर आएगी।

मनुष्य बाहर में जो संघर्ष कर रहा है, उसका मूल अन्दर में है। वह अन्तर्वृत्तियों के कारण ही बाहर में जूझ रहा है। इस सम्बन्ध में पुराने विचारकों ने एक सुन्दर रूपक की संयोजना की है।

काँच के एक महल मे जहाँ ऊपर, नीचे और इधर-उधर काँच ही काँच जड़ा था, एक कुत्ता पहुँच गया। वह अकेला ही था, उसका कोई संगी-साथी भी नही था। वहाँ उसे रोटी का एक टुकड़ा पड़ा मिला। ज्यों ही वह उसे लेने के लिए झपटा। क्या देखता है, कि सैंकड़ों कुत्ते उस टुकड़े के लिए झपट रहे हैं। कुता वहाँ अकेला ही था, परन्तु उसी के अपने सैंकड़ों प्रतिबिम्ब सैंकड़ों कुत्तों के रूप में उसे नजर आ रहे थे। वह उनसे संघर्ष करता है, लड़ता है। जब मुँह फाड़ता है और दांत निकालता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी सैंकड़ों कुत्ते भी वैसा ही करते हैं। वह कांच की दीवारों से टकरा-टकरा कर लोहूलुहान हो जाता है। टुकड़ा वहो पड़ा है। उसे कोई उठाने वाला नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भूमिका में से सैंकड़ों कुत्ते पैदा हो गए और उनसे लड़-लड़ कर उसने अपनी ही दुर्गति कर डाली।

हमारे विचारकोने कहा है, ठीक यही स्थिति संसारासक्त मनुष्य की हो रही है। उसे जीवन के बाहर के जो शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं, और उनसे वह संघर्ष करता हुआ नजर आता है, किन्तु वास्तव में वह संघर्ष बाहर का नहीं है, वह तो उसको अन्दर की वृत्ति का है। किन्तु मनुष्य अपनी वृत्तियों को ठीक रूप से न समझने के कारण बाहर में संघर्ष करता दिखाई देता है, और अपनो स्वयं की दुर्गति कर लेता है।

यदि संसार की समस्या को हल करना चाहते हो, तो पहले अपने अन्दर की समस्या को हल करो। यदि तुमने अन्दर के दृष्टिकोण को स्पष्ट समझ लिया है, तो जो तुम चाहोगे, वही हो जाएगा।

वृत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेतीं और अपने मन पर पूरा अंकुश नहीं लगाया जाता, तब तक हमारा जीवन एक सिरे पर नहीं पहुँच सकता।

जितने भी विचारक, दार्शनिक और चिन्तन-शील हुए हैं, वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध में जितना कहते हैं उससे कहीं अधिक वे अन्तर्जगत् के विषय में कहते हैं।

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

जो पिण्ड मे हो रहा है, वही ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि में है, वही समष्टि मे भी होता है।

बाह्य संसार मे जो काम हो रहे हैं, वहाँ सर्वत्र तुम्हारे अन्तर जीवन की छाया ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र, जो तुमने बाहर खड़े कर रखे हैं, वे तुम्हारी अन्दर की वृत्तियों ने ही खड़े किए हैं। बाहर जो प्रतिबिम्ब है, वह अन्दर से ही आता है। यदि अन्तर में मैत्री-भाव जागृत होता है, तो सम्पूर्ण विश्व मित्र के ही रूप में नजर आता है। और जब अन्तर में द्वेष, शत्रुता और घृणा के भाव चलते हैं, तब सारा संसार हमें शत्रु के रूप में खड़ा नजर आता है। यही कारण है, कि जब हमारे बड़े-बड़े विचारक आए, चिन्तन-शील साधु और सद्गृहस्थ आए, और जब उन्होंने विश्व का प्रतिनिधित्व किया, तो उन्होंने जन-जीवन में यही मंत्र फूँका—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

हम संसार को मित्र की आँखों से देखते हैं—प्राणी मात्र को अपना मित्र मानते हैं।

जब ऐसी दृष्टि पैदा हो गई, तब उन्हें संसार में कोई शत्रु नजर नहीं आया। और तो क्या, विरोधी भी मित्र के रूप में ही नजर आए। जो तलवार लेकर मारने दौड़े, वे भी प्रेम और स्नेह की मूर्ति के रूप में ही दिखाई दिए। कोई भी जिन्दगी आग बरसाती हुई नजर नहीं आई। उन्होंने समस्त जिंदगियों को प्रेम और अमृत बरसाते हुए ही देखा।

इसके विपरीत, जिनके हृदय में घृणा और द्वेष की आग की ज्वालाएँ धधक रही थी, वे जब आगे बढ़े, तब उन्हें अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई दिए। और तो क्या, जो उनका कल्याण करने के लिए आए, वे भी उन्हें विरोधी के रूप में ही नजर आए। यही कारण है कि रावण की नजरों मे राम शत्रु के रूप में रहे, और गोशाला को भगवान् महावीर की अमृत-वाणी भी विष-भरी जान पड़ी। किन्तु भगवान् महावीर के हृदय में गोशाला के प्रति वही दया थी, जो गौतम के लिए थी। यह नहीं था, कि गौतम के लिए भगवान् महावीर के हृदय में कोई दूसरी चीज हो, और गोशाला आदि के प्रति वे कोई और भाव रखते हों। भगवान् का दोनों के प्रति एक-सा भाव था।

मगर गोशाला को भगवान् और ही रूप में नजर आए और उधर गौतम को कुछ और ही। हम समझते है, कि बाहर में जो गुत्थियाँ हैं, वे सब हमारे मन में रहती हैं। अतः जैसा हमारा मन होता है, वैसा ही संसार हमको नजर आने लगता है।

पुराने दर्शनों की जो विभिन्न परम्पराएँ हैं, उनमें एक दृष्टि-सृष्टिवाद की भी परम्परा है। उसकी मूल विचारणा है—

याद्दशी दृष्टिस्ताद्दशी सृष्टि:।

जैसी दृष्टि होती है, जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण बन जाता है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि हो जाती है।

अभिप्राय यह है, कि कोई पूछे कि सृष्टि भली है या बुरी? तो इसके लिए उसी से पूछ लो, कि तुम्हारी दृष्टि अच्छी है या बुरी? अगर दृष्टि अच्छी है, तो सृष्टि भी अच्छी नजर आएगी और दृष्टि बुरी है, तो सृष्टि भी बुरी नजर आएगी।

मनुष्य बाहर में जो संघर्ष कर रहा है, उसका मूल अन्दर में है। वह अन्तर्वृत्तियों के कारण ही बाहर में जूझ रहा है। इस सम्बन्ध में पुराने विचारकों ने एक सुन्दर रूपक की संयोजना की है।

काँच के एक महल मे जहाँ ऊपर, नीचे और इधर-उधर काँच ही काँच जड़ा था, एक कुत्ता पहुँच गया। वह अकेला ही था, उसका कोई संगी-साथी भी नहीं था। वहाँ उसे रोटी का एक टुकड़ा पड़ा मिला। ज्यों ही वह उसे लेने के लिए झपटा। क्या देखता है, कि सैकड़ों कुत्ते उस टुकड़े के लिए झपट रहे हैं। कुत्ता वहाँ अकेला ही था, परन्तु उसी के अपने सैकड़ों प्रतिबिम्ब सैकड़ों कुत्तों के रूप में उसे नजर आ रहे थे। वह उनसे संघर्ष करता है, लड़ता है। जब मुँह फाड़ता है और दाँत निकालता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी सैकड़ों कुत्ते भी वैसा ही करते हैं। वह कांच की दीवारों से टकरा-टकरा कर लोहूलुहान हो जाता है। टुकड़ा वहीं पड़ा है। उसे कोई उठाने वाला नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भूमिका में से सैकड़ों कुत्ते पैदा हो गए और उनसे लड़-लड़ कर उसने अपनी ही दुर्गति कर डाली।

हमारे विचारकोने कहा है, ठीक यही स्थिति संसारासक्त मनुष्य की हो रही है। उसे जीवन के बाहर के जो शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं, और उनसे वह संघर्ष करता हुआ नजर आता है, किन्तु वास्तव में वह संघर्ष बाहर का नहीं है, वह तो उसकी अन्दर की वृत्ति का है। किन्तु मनुष्य अपनी वृत्तियों को ठीक रूप से न समझने के कारण बाहर में संघर्ष करता दिखाई देता है, और अपनी स्वयं की दुर्गति कर लेता है।

यदि संसार की समस्या को हल करना चाहते हो, तो पहले अपने अन्दर की समस्या को हल करो। यदि तुमने अन्दर के दृष्टिकोण को स्पष्ट समझ लिया है, तो जो तुम चाहोगे, वही हो जाएगा।

वृत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेतीं और अपने मन पर पूरा अंकुश नहीं लगाया जाता, तब तक हमारा जीवन एक सिरे पर नहीं पहुँच सकता।

जितने भी विचारक, दार्शनिक और चिन्तन-शील हुए हैं, वे बाह्य जगत् के सम्बन्ध मे जितना कहते हैं उससे कही अधिक वे अन्तर्जगत् के विषय में कहते हैं।

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

जो पिण्ड में हो रहा है, वही ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि मे है, वही समष्टि में भी होता है।

बाह्य संसार में जो काम हो रहे हैं, वहाँ सर्वत्र तुम्हारे अन्तर जीवन की छाया ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र, जो तुमने बाहर खड़े कर रखे हैं, वे तुम्हारी अन्दर की वृत्तियों ने ही खड़े किए हैं। बाहर जो प्रतिबिम्ब है, वह अन्दर से ही आता है। यदि अन्तर में मैत्री-भाव जागृत होता है, तो सम्पूर्ण विश्व मित्र के ही रूप में नजर आता है। और जब अन्तर में द्वेष, शत्रुता और घृणा के भाव चलते हैं, तब सारा संसार हमें शत्रु के रूप में खड़ा नजर आता है। यही कारण है, कि जब हमारे बड़े-बड़े विचारक आए, चिन्तन-शील साधु और सद्गृहस्थ आए, और जब उन्होंने विश्व का प्रतिनिधित्व किया, तो उन्होंने जन-जीवन मे यही मंत्र फूँका—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

हम संसार को मित्र की आँखों से देखते हैं—प्राणी मात्र को अपना मित्र मानते हैं।

जब ऐसी दृष्टि पैदा हो गई, तब उन्हें संसार में कोई शत्रु नजर नहीं आया। और तो क्या, विरोधी भी मित्र के रूप में ही नजर आए। जो तलवार लेकर मारने दौड़े, वे भी प्रेम और स्नेह की मूर्ति के रूप में ही दिखाई दिए। कोई भी जिन्दगी आग बरसाती हुई नजर नहीं आई। उन्होंने समस्त जिंदगियों को प्रेम और अमृत बरसाते हुए ही देखा।

इसके विपरीत, जिनके हृदय मे घृणा और द्वेष की आग की ज्वालाएँ धधक रही थी, वे जब आगे बढ़े, तब उन्हें अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई दिए। और तो क्या, जो उनका कल्याण करने के लिए आए, वे भी उन्हें विरोधी के रूप में ही नजर आए। यही कारण है कि रावण की नजरों में राम शत्रु के रूप में रहे, और गोशाला को भगवान् महावीर की अमृत-वाणी भी विष-भरी जान पड़ी। किन्तु भगवान् महावीर के हृदय में गोशाला के प्रति वही दया थी, जो गौतम के लिए थी। यह नहीं था, कि गौतम के लिए भगवान् महावीर के हृदय मे कोई दूसरी चीज हो, और गोशाला आदि के प्रति वे कोई और भाव रखते हों। भगवान् का दोनों के प्रति एक-सा भाव था।

मगर गोशाला को भगवान् और ही रूप में नजर आए और उधर गौतम को कुछ और ही। हम समझते हैं, कि बाहर में जो गुत्थियाँ हैं, वे सब हमारे मन में रहती हैं। अतः जैसा हमारा मन होता है, वैसा ही संसार हमको नजर आने लगता है।

पुराने दर्शनों की जो विभिन्न परम्पराएँ हैं, उनमें एक दृष्टि-सृष्टिवाद की भी परम्परा है। उसकी मूल विचारणा है—

यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टिः।

जैसी दृष्टि होती है, जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण बन जाता है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि हो जाती है।

अभिप्राय यह है, कि कोई पूछे कि सृष्टि भली है या बुरी? तो इसके लिए उसी से पूछ लो, कि तुम्हारी दृष्टि अच्छी है या बुरी? अगर दृष्टि अच्छी है, तो सृष्टि भी अच्छी नजर आएगी और दृष्टि बुरी है, तो सृष्टि भी बुरी नजर आएगी।

मनुष्य बाहर में जो संघर्ष कर रहा है, उसका मूल अन्दर में है। वह अन्तर्वृत्तियों के कारण ही बाहर में जूझ रहा है। इस सम्बन्ध में पुराने विचारकों ने एक सुन्दर रूपक की संयोजना की है।

काँच के एक महल में जहाँ ऊपर, नीचे और इधर-उधर काँच ही काँच जड़ा था, एक कुत्ता पहुँच गया। वह अकेला ही था, उसका कोई संगी-साथी भी नहीं था। वहाँ उसे रोटी का एक टुकड़ा पड़ा मिला। ज्यों ही वह उसे लेने के लिए झपटा। क्या देखता है, कि सैकड़ों कुत्ते उस टुकड़े के लिए झपट रहे हैं। कुत्ता वहाँ अकेला ही था, परन्तु उसी के अपने सैकड़ों प्रतिबिम्ब सैकड़ों कुत्तों के रूप में उसे नजर आ रहे थे। वह उनसे संघर्ष करता है, लड़ता है। जब मुँह फाड़ता है और दाँत निकालता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी सैकड़ों कुत्ते भी वैसा ही करते हैं। वह काँच की दीवारों से टकरा-टकरा कर लोहूलुहान हो जाता है। टुकड़ा वहीं पड़ा है। उसे कोई उठाने वाला नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भूमिका में से सैकड़ों कुत्ते पैदा हो गए और उनसे लड़-लड़ कर उसने अपनी ही दुर्गति कर डाली।

हमारे विचारकों ने कहा है, ठीक यही स्थिति संसारासक्त मनुष्य की हो रही है। उसे जीवन के बाहर के जो शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं, और उनसे वह संघर्ष करता हुआ नजर आता है, किन्तु वास्तव में वह संघर्ष बाहर का नहीं है, वह तो उसकी अन्दर की वृत्ति का है। किन्तु मनुष्य अपनी वृत्तियों को ठीक रूप से न समझने के कारण बाहर में संघर्ष करता दिखाई देता है, और अपनी स्वयं की दुर्गति कर लेता है।

यदि संसार की समस्या को हल करना चाहते हो, तो पहले अपने अन्दर की समस्या को हल करो। यदि तुमने अन्दर के दृष्टिकोण को स्पष्ट समझ लिया है, तो जो तुम चाहोगे, वही हो जाएगा।

वृत्तियों पर विजय नहीं प्राप्त कर लेतीं और अपने मन पर पूरा अंकुश नहीं लगा जाता, तब तक हमारा जीवन एक सिरे पर नहीं पहुँच सकता।

जितने भी विचारक, दार्शनिक और चिन्तन-शील हुए हैं, वे बाह्य जगत् सम्बन्ध में जितना कहते हैं उससे कही अधिक वे अन्तर्जगत् के विषय में कहते हैं।

यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।

जो पिण्ड मे हो रहा है, वही ब्रह्माण्ड में हो रहा है। जो व्यष्टि में है, व समष्टि मे भी होता है।

बाह्य संसार में जो काम हो रहे हैं, वहाँ सर्वत्र तुम्हारे अन्तर जीवन की छा ही काम कर रही है। शत्रु और मित्र, जो तुमने बाहर खड़े कर रखे हैं, वे तुम्हा अन्दर की वृत्तियों ने ही खड़े किए हैं। बाहर जो प्रतिबिम्ब है, वह अन्दर से ही अ है। यदि अन्तर में मैत्री-भाव जागृत होता है, तो सम्पूर्ण विश्व मित्र के ही रूप में न आता है। और जब अन्तर में द्वेष, शत्रुता और घृणा के भाव चलते हैं, तब सा संसार हमें शत्रु के रूप में खड़ा नजर आता है। यही कारण है, कि जब हमारे बड़े विचारक आए, चिन्तन-शील साधु और सद्गृहस्थ आए, और जब उन्होंने विश्व प्रतिनिधित्व किया, तो उन्होंने जन-जीवन मे यही मंत्र फूँका—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

हम संसार को मित्र की आँखों से देखते हैं—प्राणी मात्र को अपना मानते हैं।

जब ऐसी दृष्टि पैदा हो गई, तब उन्हें संसार में कोई शत्रु नजर नहीं आ और तो क्या, विरोधी भी मित्र के रूप में ही नजर आए। जो तलवार लेकर म दौड़े, वे भी प्रेम और स्नेह की मूर्ति के रूप में ही दिखाई दिए। कोई भी जि आग बरसाती हुई नजर नही आई। उन्होंने समस्त जिंदगियों को प्रेम और बरसाते हुए ही देखा।

इसके विपरीत, जिनके हृदय में घृणा और द्वेष की आग की ज्वालाएँ रही थीं, वे जब आगे बढ़े, तब उन्हें अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखलाई दिए। तो क्या, जो उनका कल्याण करने के लिए आए, वे भी उन्हें विरोधी के रूप में ही आए। यही कारण है कि रावण की नजरों में राम शत्रु के रूप में रहे, और गो को *भगवान् महावीर की अमृत-वाणी भी विष-भरी जान पड़ी। किन्तु भगवान् म*. के हृदय में गोशाला के प्रति वही दया थी, जो गौतम के लिए थी। यह नहीं गौतम के लिए भगवान् महावीर के हृदय में कोई दूसरी चीज हो, और गोशाल के प्रति वे कोई और भाव रखते हों। भगवान् का दोनों के प्रति एक-सा भाव

मगर गोशाला को भगवान् और ही रूप में नजर आए और उधर गौतम को कुछ और ही। हम समझते हैं, कि बाहर में जो गुत्थियाँ हैं, वे सब हमारे मन में रहती हैं। अतः जैसा हमारा मन होता है, वैसा ही संसार हमको नजर आने लगता है।

पुराने दर्शनों की जो विभिन्न परम्पराएँ हैं, उनमें एक दृष्टि-सृष्टिवाद की भी परम्परा है। उसकी मूल विचारणा है—

यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि:।

जैसी दृष्टि होती है, जिस मनुष्य का जैसा दृष्टिकोण बन जाता है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि हो जाती है।

अभिप्राय यह है, कि कोई पूछे कि सृष्टि भली है या बुरी? तो इसके लिए उसी से पूछ लो, कि तुम्हारी दृष्टि अच्छी है या बुरी? अगर दृष्टि अच्छी है, तो सृष्टि भी अच्छी नजर आएगी और दृष्टि बुरी है, तो सृष्टि भी बुरी नजर आएगी।

मनुष्य बाहर में जो संघर्ष कर रहा है, उसका मूल अन्दर में है। वह अन्तर्वृत्तियों के कारण ही बाहर में जूझ रहा है। इस सम्बन्ध में पुराने विचारकों ने एक सुन्दर रूपक की संयोजना की है।

कांच के एक महल में जहाँ ऊपर, नीचे और इधर-उधर कांच ही कांच जड़ा था, एक कुत्ता पहुँच गया। वह अकेला ही था, उसका कोई संगी-साथी भी नहीं था। वहाँ उसे रोटी का एक टुकड़ा पड़ा मिला। ज्यों ही वह उसे लेने के लिए झपटा। क्या देखता है, कि सैकड़ों कुत्ते उस टुकड़े के लिए झपट रहे हैं। कुत्ता वहाँ अकेला ही था, परन्तु उसी के अपने सैकड़ों प्रतिबिम्ब सैकड़ों कुत्तों के रूप में उसे नजर आ रहे थे। वह उनसे संघर्ष करता है, लड़ता है। जब मुँह फाड़ता है और दाँत निकालता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी सैकड़ों कुत्ते भी वैसा ही करते हैं। वह कांच की दीवारों से टकरा-टकरा कर लोहूलुहान हो जाता है। टुकड़ा वहीं पड़ा है। उसे कोई उठाने वाला नहीं है, परन्तु उसकी मानसिक भूमिका में से सैकड़ों कुत्ते पैदा हो गए और उनसे लड़-लड़ कर उसने अपनी ही दुर्गति कर डाली।

हमारे विचारकोंने कहा है, ठीक यही स्थिति संसारासक्त मनुष्य की हो रही है। उसे जीवन के बाहर के जो शत्रु और मित्र दिखाई देते हैं, और उनसे वह संघर्ष करता हुआ नजर आता है, किन्तु वास्तव में वह संघर्ष बाहर का नहीं है, वह तो उसको अन्दर की वृत्ति का है। किन्तु मनुष्य अपनी वृत्तियों को ठीक रूप से न समझने के कारण बाहर में संघर्ष करता दिखाई देता है, और अपनो स्वयं की दुर्गति कर लेता है।

यदि संसार की समस्या को हल करना चाहते हो, तो पहले अपने अन्दर की [illegible] को हल करो। यदि तुमने अन्दर के दृष्टिकोण को स्पष्ट समझ लिया है, तो जो तुम चाहोगे, वही हो जाएगा।

एक पुराना कथानक है। एक छोटा-सा गाँव था। और उसका एक मुखिया था, जिसने सब की सेवा की, हर जगह अपना समय, जीवन और पुरुषार्थ लगाया। उसने गांव के हर बूढ़े, नौजवान, बच्चे और बहिन के कल्याण के लिए अपना जीवन व्यतीत कर दिया। जब जीवन में बुढ़ापा आया, तब घर का मोह त्याग कर, गाँव का पंचायती स्थान था, वहाँ आसन जमा लिया और सोचा, कि जीवन की इन आखिरी घड़ियों में भी गाँव की अधिक से अधिक सेवा कर जाऊँ। गाँव के बच्चे आते, तो उन्हें ऐसी शिक्षा देता, कि उनके मन के मैल को धोकर साफ कर देता। नौजवान आते तो उनसे भी समाजोन्नति की बातें करता, उनकी गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश करता और उनके निकट सम्पर्क में रहकर उनके विकारों को दूर करने का प्रयत्न करता। और जो बूढ़े आते—जीवन से सर्वथा हताश और निराश, तो उनमें भी नव-जीवन की ज्योति फैलाता। बहिनें आतीं और उनसे भी जब शिक्षा की बातें करता, तो उनके जीवन में भी एक ज्योति-सी जग जाती।

सच्चे भाव से सेवा करने वाले को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त होती ही है। उस बूढ़े मुखिया की इतनी प्रसिद्धि हो गई, और उस पर गाँव के लोगों की ऐसी श्रद्धा जम गई, कि जैसा वह जो कुछ कहता; सारा गाँव वही करता। जैसा वह आचरण करता, सारा गाँव भी उसी का अनुसरण करता।

बूढ़े के प्रयत्नों से गाँव की अनेकता में एकता के भाव आने लगे। गाँव में जन-वर्ग अनेक थे, किन्तु उसने प्रयत्न कर उन अनेकों को एक-रस और एक-रूप बना दिया। कुछ ही दिनों में वे अनेक व्यक्ति एवं वर्ग एक हो गए।

नेता की परिभाषा भी यही है, कि जो विभिन्नता को एक रूप दे सके, जो अलग-अलग राहों पर भटकने वालों को एक राह पर ला सके तथा जिसकी आँखों का जिस ओर इशारा हो, जनता उसी ओर चलने लगे, वही नेता कहलाता है।

ऋग्वेद में एक पुरुष-सूक्त है-जिसमें नेता की महिमा का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने तो दूसरे रूप में उसका अर्थ किया है, किन्तु हम उससे मिलता जुलता अर्थ लेते हैं। वहाँ प्रसंग आता है कि—

> सहस्र-शीर्षा पुरुषः,सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं सर्वतःस्पृष्ट्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह महापुरुष है, ईश्वर है, जिसके हजार सिर हैं, हजार नेत्र हैं और हजार पैर हैं, और वह सारे भू-मण्डल को छूकर भी उससे दस अंगुल बाहर है।

वहाँ, यह ईश्वर के लिए कहा गया है, पर हम विचार करेंगे तो मालूम होगा, कि नेता के विषय में भी यह कथन सत्य के समीप ही है।

नेता वही होता है, जिसके हजार सिर होते हैं। अर्थात् जो कुछ वह सोचे तो हजारों सिर भी वही सोचने लगें और वही हरकत हरेक के मन में सहसहाने लगे। इस रूप में जो विचारों का एकीकरण कर सकता है, वही सच्चा नेता है।

इसी प्रकार नेता जिस दृष्टिकोण से देखे, हजारों लोग भी उसी दृष्टिकोण से देखने लगें, उसे जो दिखाई दे, हजारों को वही दिखाई दे, हजारों उसके दृष्टिकोण को अपनाने लगें, तो समझना चाहिए कि उसमें नेतृत्व आने लगा है।

मनुष्य के शरीर में पैर तो दो ही होते हैं, किन्तु जिस राह पर नेता चलता है, हजारों कदम उसी पर चलने को तैयार हो जाते हैं, इस प्रकार जो हजार पैर वाला है, वही वास्तव में नेता है।

ऐसा नेता सारे भू-मण्डल का स्पर्श करता है। अर्थात् जो गाँव का नेता है, वह सारे गाँव पर छा जाता है, जो समाज का नेता है, वह सारे समाज पर छा सकता है और यदि कोई राष्ट्र का नेता बना है, तो समग्र राष्ट्र पर छा सकता है; समग्र जनता उस के संकेत पर चलती है। मगर वह उस से दस अंगुल अलग रहता है। वह समाज में काम करता है, जनता की सेवा करता है, जनता के जीवन में घुल-मिल जाता है, जनता का एकीकरण करता है, फिर भी वह उसके वैभव से दस अंगुल दूर रहता है। यहाँ पर दस अंगुल दूर रहने का अर्थ है—सच्चा लोकनायक पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सुख अर्थात् संसार के भोग-वैभव से दूर रहता है।

देश का नेता देशका निर्माण करता है, समाज का नेता समाज का निर्माण करता है, नगर का नेता नगर का निर्माण करता है, और ग्राम का नेता ग्राम का निर्माण करता है और इस तरह नेताओं के द्वारा संसार का युगानुरूप नव-निर्माण होता है।

किन्तु यदि नेता अपने जीवन को ऊँचा न रख सका और संसार की दलदल में फंस गया, तो निर्माण कार्य अच्छी तरह पूरा नहीं हो सकता।

मैं उस ग्रामीण बूढ़े की बात कह रहा हूँ। वह गाँव के जीवन में घुल-मिल गया था। वह गाँव को उस पगडंडी पर ले आया था, कि उसका देखना, गाँव का देखना और उसका सोचना; गाँव का सोचना, माना जाता था।

एक समय की बात है। संध्या का समय था और शीतल पवन चल रहा था। वह बूढ़ा समीप में बैठे बहुत से नवयुवकों से ज्ञान-चर्चा कर रहा था। 'जब ज्ञान-चर्चा करते हुए बहुत देर हो गई, तब बीच ही में वह बोल उठा—'यों बैठे रहने से शरीर ठीक नहीं रहता है। चलो, बाहर घूम आएँ। बाहर मैदान में यही चर्चा चलेगी।"

सब चल पड़े। चल कर गाँव के बाहर आए तो थोड़ी दूर पर, एक सुहावनी जगह बैठकर बातें करने लगे। कुछ देर बाद उधर से एक पथिक निकला, बहुत ह

एक पुराना कथानक है। एक छोटा-सा गाँव था। और उसका एक मुखिया था, जिसने सब की सेवा की, हर जगह अपना समय, जीवन और पुरुषार्थ लगाया। उसने गाव के हर बूढ़े, नौजवान, बच्चे और बहिन के कल्याण के लिए अपना जीवन व्यतीत कर दिया। जब जीवन में बुढ़ापा आया, तब घर का मोह त्याग कर, गाँव का पंचायती स्थान था, वहाँ आसन जमा लिया और सोचा, कि जीवन की इन आखिरी घड़ियों में भी गाँव की अधिक से अधिक सेवा कर जाऊँ। गाँव के बच्चे आते, तो उन्हें ऐसी शिक्षा देता, कि उनके मन के मैल को धोकर साफ कर देता। नौजवान आते तो उनसे भी समाजोन्नति की बातें करता, उनकी गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश करता और उनके निकट सम्पर्क में रहकर उनके विकारों को दूर करने का प्रयत्न करता। और जो बूढ़े आते—जीवन से सर्वथा हताश और निराश, तो उनमें भी नव-जीवन की ज्योति फैलाता। बहिनें आती और उनसे भी जब शिक्षा की बातें करता, तो उनके जीवन में भी एक ज्योति-सी जग जाती।

सच्चे भाव से सेवा करने वाले को प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त होती ही है। उस बूढ़े मुखिया की इतनी प्रसिद्धि हो गई, और उस पर गाँव के लोगों की ऐसी श्रद्धा जम गई, कि जैसा वह जो कुछ कहता; सारा गाँव वही करता। जैसा वह आचरण करता, सारा गाँव भी उसी का अनुसरण करता।

बूढ़े के प्रयत्नों से गाँव की अनेकता में एकता के भाव आने लगे। गाँव में जन-वर्ग अनेक थे, किन्तु उसने प्रयत्न कर उन अनेकों को एक-रस और एक-रूप बना दिया। कुछ ही दिनों में वे अनेक व्यक्ति एवं वर्ग एक हो गए।

नेता की परिभाषा भी यही है, कि जो विभिन्नता को एक रूप दे सके, जो अलग-अलग राहों पर भटकने वालों को एक राह पर ला सके तथा जिसकी आँखों का जिस ओर इशारा हो, जनता उसी ओर चलने लगे, वही नेता कहलाता है।

ऋग्वेद में एक पुरुष-सूक्त है- जिसमें नेता की महिमा का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के भाष्यकार सायण ने तो दूसरे रूप में उसका अर्थ किया है, किन्तु हम उससे मिलता जुलता अर्थ लेते हैं। वहाँ प्रसंग आता है कि—

> सहस्र-शीर्षा पुरुषः,सहस्राक्षः सहस्रपात्।
> स भूमिं सर्वतःस्पृष्ट्वाऽ त्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

यह महापुरुष है, ईश्वर है, जिसके हजार सिर हैं, हजार नेत्र हैं और हजार पैर हैं, और वह सारे भू-मण्डल को छूकर भी उससे दस अंगुल बाहर है।

यहाँ, यह ईश्वर के लिए कहा गया है, पर हम विचार करेंगे तो मालूम होगा, कि नेता के विषय में भी यह कथन सत्य के समीप ही है।

है और यहाँ रोते-रोते आने वाले भी हँसते-हँसते विदा होते हैं ? समझ में नहीं आता, ऐसी परस्पर विरोधी बातें क्यों कहते हैं ?"

आखिर, साहस करके एक लड़के ने पूछ ही लिया—"बाबा, पहले तो आपने हमारे गाँव की बहुत बुराई की थी और अब उसी को स्वर्ग-भूमि बता दिया। यह क्या बात है ? इसमें क्या रहस्य है ? एक ही गाँव के विषय में आपके दो विभिन्न-विचार क्यों हैं ?"

तब बुड्ढा बोला—"तुम समझते नहीं। पहला आदमी आग की चिनगारी था और जलती हुई भेड़ था। जलती भेड़ जहाँ भी जाएगी, सब जगह आग लगाएगी ! सोचो तो सही—जिस जन्मभूमि में उसकी कई पीढ़ियां गुजर चुकी है और स्वयं भी जिन्दगी के ३०-४० वर्ष गुजार चुका है, फिर भी वह एक भी स्नेही और मित्र नहीं बना सका, और कहता है कि सारे के सारे शत्रु हैं, मुझे कुचलने के लिए हैं, बस किसी तरह प्राण बचाकर आया हूँ। जो इतने जीवन में अपना एक भी प्रेमी नहीं जुटा सका, एक भी संगी-साथी नहीं बना सका, वह यहाँ रह कर घृणा और द्वेष फैलाने के सिवाय और क्या करता ? वह जितनी देर गाँव में रहता, बुरे संस्कार डाल कर जाता। अतएव यों बुरा बता कर मैंने तुम्हारे गाँव की रक्षा की है। वह इस गाँव में न रहे, इसी में गाँव की भलाई है। वह आग, जो बाहर से जलती हुई आई है, बाहर की बाहर ही चली जाए। ऐसे आदमी को क्या तुम अपने घर में रखना पसंद करोगे ?"

सब लड़के कहने लगे—"नहीं, हम तो नहीं रखेंगे।"

गाँव के बूढे नेता की कहानी समाप्त हो गई; किन्तु जीवन-निर्माण की कहानी कहाँ समाप्त होती है ? वह तो निरन्तर आगे बढ़ती है । आप समझ गए न कहानी का सारांश ? कहानी का सत्य है:—

"आप भला, तो जग भला"

आप भले हैं, तो सारा संसार आपके लिए भला है । आप भले नहीं हैं, और आपके हृदय में घृणा तथा द्वेष की ज्वालाएं जल रही हैं, तो आप संसार के एक किनारे से दूसरे किनारे तक कहीं भी जाएँ, आपको कहीं भी अच्छाई या भलाई नहीं मिलेगी । मिलेगी, तो भी आप उसे घृणा की दृष्टि से ही देखेंगे ।

मतलब यह है, कि पहले अन्दर के जीवन को स्वच्छ करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए । जिसने अपनी अन्तरात्मा को स्वच्छ बना लिया, उसने स्वयं अपने को अपना मित्र बना लिया । इतना ही नहीं, उसने सारे संसार को भी अपना मित्र बना लिया । और जो अपनी अन्तरात्मा को विकारों और वासनाओं की तीव्रता के कारण मलिन बनाता है, वह स्वयं अपना शत्रु बन जाता है और फिर सारा संसार उसे शत्रु के रूप में दिखाई देने लगता है । उत्तराध्ययन सूत्र में बड़े ही सुन्दर रूप से इस विषय का निरूपण किया गया है—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा में नंदणं वणं ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य,दुहाण य, सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियं सुपट्ठिओ ॥

भगवान् कहते हैं—नरक की भयंकर वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष आत्मा ही है । आत्मा ही अभीष्ट सुखप्रद काम धेनु गाय है और सुन्दर नन्दन वन भी आत्मा ही है ।

अन्तरात्मा ही दुःखों और सुखों का कर्ता एवं भोक्ता है । अरे, तुम स्वयं ही अपने मित्र हो और स्वयं अपने शत्रु हो । जब तुम सही राह पर चलते हो, तब स्वयं के मित्र बन जाते हो, और जब सही राह छोड़ कर गलत राह पर चल पड़ते हो, तब अपने शत्रु बन जाते हो ।

प्रश्न हो सकता है, वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष, जो नरक दुःख के प्रतीक हैं, और कामधेनु तथा नन्दनवन, जो स्वर्ग सुख के प्रतीक हैं, वे आत्म-रूप कैसे हो सकते हैं ? अगर आत्मा स्वयं अपना मित्र है, तो शत्रु कैसे हो सकता है ? और यदि शत्रु है, तो मित्र कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यही है, कि आत्मा में दुर्वृत्तियाँ भी हैं और सद्वृत्तियाँ भी हैं । जैसा कि अभी कहा जा चुका है, दोनों में निरन्तर युद्ध होता रहता है । हृदय-

रूपी कुरुक्षेत्र और धर्म क्षेत्र में जीवन की लड़ाई लड़ी जा रही है। उसमें एक तरफ अच्छी और दूसरी तरफ बुरी वृत्तियाँ हैं। बुरी वृत्तियों के कारण, हजारों लाखों क्या, अनन्त जिन्दगियाँ बर्बाद हो चुकी हैं। यदि आज भी हम उन वृत्तियों को नहीं जीत सकते, तो अनन्त जिन्दगियाँ जैसे पहिले बर्बाद हुई हैं, वैसे ही भविष्य में भी बर्बाद हो जाएँगी।

इन्सान की जिन्दगी बहुत ऊँची जिन्दगी है और उसका जन्म बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उसकी महिमा नहीं गाई जा सकती। देवताओं के जन्म से भी अधिक महिमामय है मानव-जन्म ! भगवान् महावीर ने अपने सभी साधकों को बार-बार 'देवाणुप्पिया' 'देवों के प्यारे' कह कर सम्बोधित किया है।

अपने जीवन-कल्याण के लिए जो भी बालक, बूढ़े या नौजवान भगवान् के सम्मुख आए, जो भी बहिनें सामने आईं, और तो क्या, पापी से पापी और अधम से से अधम व्यक्ति भी आए, उन सबसे भगवान् महावीर ने यही कहा, कि तुम प्राप्त जीवन का कल्याण करो। तुम्हारा जीवन देवताओं के जीवन से भी अधिक धन्य है।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद - मार्ग-भूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

—विष्णु पुराण २, ३, २४

स्वर्ग में बैठे हुए देवता भी गाते हैं, कि धन्य हैं वे लोग, जिन्हो ने भारत-जैसी आर्य-भूमि में जन्म लिया है। हम न जाने कब देवता से इन्सान बनेंगे, कब हम अपने बन्धनों को तोड़ कर स्वतंत्र मुक्त हो सकेंगे।

इस रूप में भारत की पौराणिक गाथाओं में मानव-जीवन की महत्ता का नाद गूंज रहा है। हाँ, तो पूर्व पुण्योदय से इस भूमि पर मनुष्य के रूप में अवतरित तो हो गए, मगर प्रश्न है कि अब उसे सार्थक किस प्रकार किया जाए ?

एक दिन राम ने बालक के रूप में जन्म लिया और रावण ने भी बालक के रूप में जन्म लिया। जन्म से ही राम, मर्यादा पुरुषोत्तम राम नहीं बन गए थे और जन्म से ही रावण, परनारी-हारी राक्षस नहीं बन गया था। जब वे अपने जीवन की राह पर आगे बढ़े, तब एक राम और दूसरा रावण बन गया। एक की अच्छी वृत्तियों ने, बुरी वृत्तियों को पराजित करके उसे राम बना दिया; और दूसरे की बुरी वृत्तियों ने अच्छी वृत्तियों पर विजय पाकर उसे रावण बना दिया।

अभिप्राय यह है, कि भली बुरी वृत्तियों के निरन्तर जारी रहने वाले संघर्ष में अगर भली वृत्तियों को विजय प्राप्त होती है, तो जीवन भला बन जाता है, और

यदि बुरी वृत्तियाँ विजेता के रूप में अपना सिर उठा लेती हैं, तो जीवन बर्बाद हो जाता है।

तो क्या, यह समझ लिया जाए, कि मनुष्य अपनी वृत्तियों का गुलाम है ? और उनके जय-पराजय पर ही उसकी किस्मत का फैसला होना है ?

नहीं, हमें स्मरण रखना चाहिए कि समस्त वृत्तियां, चाहे वे भली हैं या बुरी, मनुष्य की अपनी ही हैं। वह जहाँ उनसे निर्मित होता है, वहाँ उनका निर्माण भी करता है। उनका निर्माता मनुष्य से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। इसीलिए तो कहा गया था :

"अप्पा कत्ता विकत्ता य।"

आत्मा ही कर्म का कर्त्ता है और आत्मा ही कर्म-फल का भोक्ता है।

अपनी वृत्तियों का निर्माण करना, एक पर दूसरी को विजयी बनाना, यह आत्मा का ही - अपना - स्वतंत्र अधिकार है। यदि ऐसा न होता, तो मनुष्य के सारे सत्प्रयास, मनुष्य की समस्त साधना, निष्फल ही न हो जाती ?

इसीलिए तो आनन्द गृहपति ने, अपने जीवन में साधना का मार्ग तलाश किया। उसने भगवान् महावीर के चरणों में संकल्प किया था कि आज से बुरे विचारों में, दुर्वृत्तियों में नहीं रहना है, और जीवन की सही राह, जो अहिंसा और सदाचरण की राह है, उस पर चलना है। आनन्द स्वदार सन्तोष व्रत के रूप में ब्रह्मचर्य की राह पर चल पड़ा।

जो आनन्द ने किया, वही आप कर सकते हैं, वही सब कर सकते हैं। यदि न कर सकते होते, तो आनन्द का और दूसरे महान् साधकों का पुण्य-चरित लिखा ही क्यों जाता ? उसे कोई क्यों पढ़ता और क्यों सुनता ?

हमारे जीवन में दो धाराएँ रहती हैं—एक मोह की, दूसरी प्रेम की। मोह में वासना, विकार और अब्रह्मचर्य है और स्त्री पुरुष में परस्पर एक दूसरे के लिए आकर्षण है। वह आकर्षण इतना प्रबल है कि एक दूसरे के साथ अपने जीवन को जोड़ देना चाहता है। वासना किसी न किसी के साथ सम्पर्क क़ायम करती है और जीवन का साथी बनाती है।

और जहाँ प्रेम है, आकर्षण वहाँ भी होता है। मनुष्य अपने आप में अकेला है परन्तु अकेला पड़कर ही न रह जाए, इसलिए वह भी दूसरे से सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। विश्व में वह भी स्नेह-सम्बन्ध कायम करना चाहता है।

इस प्रकार मोह और प्रेम में ऊपर दिखाई देने वाला आकर्षण एक-सा है। किन्तु दोनों के आकर्षण भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। उनकी भिन्नता को ठीक तरह समझने के

लिए गाय के दूध और आक के दूध का उदाहरण उपयुक्त है। गाय का दूध भी दूध कहलाता है और आक का दूध भी दूध कहलाता है। दोनो दूध कहलाते हैं और दोनों ही सफेद होते हैं। किन्तु दोनों में आकाश-पाताल जितना अन्तर है। एक में अमृत भरा है, और दूसरे में विष छलकता है। आक के दूध की एक-एक बूंद जहर का काम करती है और गाय का अमृतोपम दूध शरीर के कण-कण में बल और शक्ति का संचार करता है।

इसी प्रकार प्रेम और मोह दोनो मे आकर्षण है, पर दोनों के आकर्षण में अन्तर है। जब मोह का आकर्षण एक का दूसरे पर चलता है, तब वह दोनों की जिन्दगी को वासना मे डाल देता है। जिस किसी के पास वह आकर्षण का प्रवाह जाता है, तो विकार और वासना की विषाक्त लहरें लेकर जाता है। प्रेम का आकर्षण ऐसा नहीं होता। उसमें विकार नहीं होता। वासना भी नहीं होती। प्रेम अपने आपमें विशुद्ध होता है। प्रेम त्याग के पथ पर चलता है, कर्तव्य की ज्योति जलाता है। वासना-जन्य भोग के तमस् से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

सीता के प्रति एक ओर रावण के हृदय मे आकर्षण है और दूसरी ओर लक्ष्मण के हृदय मे भी आकर्षण है। किन्तु रावण का आकर्षण वासना के विष से भरा है, और लक्ष्मण का आकर्षण मातृत्व-भाव की पवित्र भावना से ओत-प्रोत है। सीता की सेवा लक्ष्मण ने किस प्रकार की ! उसके लिए वह प्राण देने को भी तैयार रहा, और अपनी सुख-सुविधाओं को ठोकर लगाई। यह सब आकर्षण के बिना सम्भव नहीं था। परन्तु यह आकर्षण निःस्वार्थ भाव से था। उसमें वासना के लिए रंचमात्र भी अवकाश न था। सीता के प्रति लक्ष्मण की मातृत्व-बुद्धि थी। उसने अपने जीवन में सीता को सदा माता की दृष्टि से ही देखा था।

जब रावण सीता का अपहरण कर आकाश-मार्ग से जा रहा था, तब सीता अपने शरीर के अलंकार नीचे फेंकती गई थी, जिससे राम को पता लग जाए कि वह किस मार्ग से कहाँ ले जाई गई है। ज्यों ही राम की दृष्टि उन पर पड़ी, उन्होंने उनको उठा लिया और कहा—ये आभूषण तो सीता के ही मालूम होते हैं। देखना लक्ष्मण, ये सीता के ही हैं न ?

उस समय लक्ष्मण के अन्तर जीवन की उज्ज्वलता एवं पवित्रता बाहर में भी चमक उठती है। लक्ष्मण का वह जीवन, भारतीय आदर्श का प्रतीक बनकर रह जाता है। वह भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है और भारत के शील तथा सौजन्य को चार चाँद लगा देता है। उस समय लक्ष्मण क्या बोले, मानो, भारत की अन्त-र्हृदय बोल उठी ? लक्ष्मण ने कहा—

नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

भैया, मैं नहीं कह सकता, कि यह केयूर सीता का है, या नहीं? मैं यह भी नहीं जानता कि कौन-से कुण्डल सीता के हैं और कौन से नही। मैं तो केवल उनके नूपुरों को पहचानता हूँ। जब मैं माता सीता के चरणों में नमस्कार करने के लिए जाता था, और पैर पड़ता था, तब उनके पैरों पर ही मेरी निगाह रहती थी। इस कारण पैरों मे पहरे हुए नूपुरों को तो मैं पहचान सकता हूँ। मैंने उनके दूसरे गहने नही देखे हैं।

यह कोई साधारण बात नही है, बहुत बड़ी बात है। मनुष्य का जीवन कितनी ऊँचाई तक पहुँच सकता है? यह उक्ति, इस बात का निर्देश करने वाली मानव-संस्कृति में रोशनी की एक ऊँची मीनार है। आज के भारतवासी जिस रूप में रह रहे हैं, और अपनी संस्कृति बिगाड़ रहे हैं, वासना के और भोगोपभोग के जिस विषाक्त वातावरण में जीवन गुजार रहे हैं, उनके पास लक्ष्मणकी इस सर्वतः प्रकाशमान ऊँचाई को देखने और परखने के लिए सतेज एवं निर्मल आँखें कहाँ हैं?

शायद तर्क आ जाए, कि यह तो अलंकार है। ऐसा होना सम्भव नही है। किन्तु मैं समझता हूँ, कि आप आज के अपने बौने गज से पूर्वजों को न नापें। आप राम, लक्ष्मण, महावीर और बुद्ध को अपने गज से नही नाप सकते, क्योंकि उनका जीवन इतना महान् है, कि आपका गज उनके विराट् व्यक्तित्व के समक्ष बहुत छोटा पड़ता है। वे इस क्षुद्र गज से नहीं नापे जा सकते।

तो, लक्ष्मण की जिन्दगी भी जिन्दगी है। वे भी सीता से स्नेह रखते थे। उनके हृदय मे भी सीता के प्रति आकर्षण था और इतना आकर्षण था, कि सीता के लिए जितने राम नही रोए, उससे अधिक कहीं वे रोए।

यह आकर्षण है, कि जिसमे जीवन की ऊँचाई और मिठास मालूम होती है। जीवन की मधुरिमा और पवित्रता झलकती है।

दूसरी ओर रावण का भी सीता के प्रति आकर्षण था। पर, वह बुरे विचारों और वासना के कारण विष मालूम होता है। कितना गन्दा, कितना कुत्सित?

इस तरह दोनों ही जीवन के एक ही केन्द्र में खड़े हुए थे, किन्तु लक्ष्मण देवता के रूप मे और रावण राक्षस के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

मगर लक्ष्मण और रावण के जीवन के विषय में कोई अच्छा-बुरा फैसला कर लेने से ही हमारा काम नहीं चल सकता है। हमें अपने निज के जीवन के बारे में भी निर्णय करना होगा। सोचना होगा और विश्लेषण करना होगा, कि अन्दर में हम

क्या हैं ? भगवान् महावीर के ज्ञान का जो अलौकिक प्रकाश हमें उपलब्ध है, उसमें आप अपने आन्तरिक जीवन का परीक्षण कर सकते हैं।

इसी प्रकाश में गृहपति आनन्द के जीवन को देखिए। वह भगवान महावीर के श्री चरणों में ब्रह्मचर्य व्रत ले रहा है; कि संसार में अपनी पत्नी के सिवाय, जितनी भी स्त्रियाँ है, उनके प्रति मैं माता और बहिन का पवित्र प्रेम स्थापित करता हूँ। संसार में जो करोड़ो नारियाँ हैं; वे सब मेरी माताएँ और बहिनें होंगी और मैं होऊँगा उनका निर्मल-हृदय सच्चा भाई।

जब जीवन में इतना ऊंचा आदर्श आता है, तब अपने आप बुरी वृत्तियों के पैर उखड़ने लगते हैं। संसार की वासनाएँ अनादिकाल से जीवन में घर किए हुए हैं, उनके कारण जीवन निरन्तर गिरता चला जा रहा है और इतना अधिक गिरता जा रहा है, कि सँभल नहीं रहा है। किन्तु सद्वृत्तियों के जागृत होने पर वही जीवन कर्तव्य के मोर्चे पर तनकर खड़ा हो जाता है। यदि जीवन मे एक भी ऊँचाई तनकर खड़ी हो जाती है, और बुराइयों को ललकारती है, तो बुराइयां, आज नही तो कल, जरूर मैदान खाली करके भाग जाती हैं। ब्रह्मचर्य में एक अद्भुत शक्ति है।

आखिर, हमारा वर्तमान जीवन क्या है ? मैं आपसे ही पूछता हूँ कि आप क्या हैं ? भारतीय दर्शन का उत्तर है, कि आज आप आत्मा भी हैं और शरीर भी हैं। हमारे वर्तमान जीवन के दो रूप हैं—न वह शुद्ध चेतन है, न केवल जड़। यह दृश्य देह-पिण्ड, जो हमारे पास है, जड़ और चेतन-दोनों का सम्मिश्रण है।

मनुष्य को वर्तमान कलुषित-जीवन का मैदान पार करना है, और पवित्रता के अन्तिम सर्वातिशायी बिन्दु पर पहुँचना है। आज की दृष्टि से न केवल आत्मा को और न केवल शरीर को ही लेकर हम आगे बढ़ सकते हैं। प्रत्युत दोनों को मजबूत बना कर ही, हम अपना मार्ग तय कर सकते हैं। मगर दोनों को मजबूत बनाने का उपाय क्या है ? मैं समझता हूँ, कि वह उपाय ब्रह्मचर्य ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ब्रह्मचर्य में अमित शक्ति है। उसकी शक्ति हमारे मन को मजबूत बनाती है, हमारी अन्तरात्मा को शक्तिशाली बनाती है, और हमारे तन को भी मजबूत करती है।

मनुष्य का तन, मन और आत्मा जब सब कुछ मजबूत हो जाता है, तब उसमें ऐसी प्रचण्ड शक्ति का, ऐसे अपूर्व और देदीप्यमान तेज का और ऐसी अद्भुत क्षमता का आविर्भाव होता है, कि वह अपने जीवन में एकदम अप्रतिहत हो जाता है। बाहर की और भीतर की, कोई भी माया-शक्ति, उसके मार्ग में रोड़ा बन कर खड़ी नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्य की आग, वह आग है, जिसमें तप कर आत्मा कुन्दन बन जाती है। उस आग में अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ चिपटा हुआ कर्म-मल जल कर भस्म हो जाता है।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना मनुष्य के जीवन को, जिसमें शरीर और आत्मा-दोनों का समावेश है, शक्तिशाली बनाने वाली है। ब्रह्मचर्य की बूटी की यह एक बड़ी विशेषता है। अहिंसा और सत्य आदि की आध्यात्मिक बूटियाँ आत्मा की शक्ति को बढ़ाती हैं और संसार की दूसरी भौतिक बूटियाँ इस शरीर को मजबूत बनाती हैं, परन्तु ब्रह्मचर्य की यह बूटी, एक साथ दोनों को अपरिमित बल प्रदान करती है।

इसी कारण ब्रह्मचर्य उत्तम तप माना गया है। तवेसु वा उत्तम बम्हचेरं। जो भाग्यशाली इस तप का अनुष्ठान करते हैं, वे अपने जीवन को पावन, पवित्र और मंगलमय बना लेते हैं।

ब्यावर,
५-११-५० ।

●

त्याग का आरम्भ सबसे निकट और सबसे प्रिय वस्तुओं से करना चाहिए। जिसका त्याग करना परमावश्यक है—वह है मिथ्या अहंकार, अर्थात्—'मैं यह कर रहा हूँ'—यही भाव हमारे अन्दर मिथ्याभिमान को उत्पन्न करता है—इसको त्याग देना होगा।

प्रवचन | ३

शक्ति का केन्द्र-बिन्दु

कल के प्रवचन की अन्तिम बात आपकी स्मृति में है न कि, मनुष्य का जो वर्तमान जीवन है, जो मौजूदा जिन्दगी है, वह न अकेले आत्मा से ही सम्बन्धित है और न अकेले शरीर से ही। यह मानव-जीवन आत्मा की एक वैभाविक पर्याय है। और, जो भी आत्मा के मनुष्य आदि वैभाविक पर्याय होते हैं, वे सब संसार के पर्याय हैं। वे न तो शुद्ध आत्मा के पर्याय होते हैं और न शुद्ध जड़ के ही पर्याय होते हैं।

शुद्ध जड़-पर्याय का मतलब यह है कि उसमें चेतन का निमित्त न हो। जड़ में जो परिवर्तन आए, चैतन्य के द्वारा न आए। इस प्रकार चेतना के निमित्त के बिना ही जो भी जड़ में अदल-बदल होती है, वह शुद्ध जड़-पर्याय है।

इसी तरह शुद्ध आत्म-पर्याय का अर्थ है—आत्मा के द्वारा ही आत्मा में परिवर्तन का होना, किसी भी रूप में जड़ का निमित्त न होना। शुद्ध आत्मा में जो पर्याय होते हैं, वे केवल आत्मा के द्वारा ही होते हैं। जैसे सम्यक्त्व का आविर्भाव होना, आत्माका शुद्ध पर्याय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र भी आत्मा के शुद्ध पर्याय हैं, श्रावकत्व और साधुत्व भी आत्मा के ही पर्याय हैं। और इससे आगे बढ़ते-बढ़ते जो परमात्म-भाव अर्थात् सिद्धत्व-दशा की प्राप्ति होती है, वह भी आत्मा का अपना शुद्ध पर्याय है। उसमें जड़ का निमित्त नहीं है। उस पर्याय की प्राप्ति आत्मा को स्वयं की अध्यात्म-साधना द्वारा ही होती है।

शुद्ध जड़-पर्याय और शुद्ध चेतन-पर्याय के अतिरिक्त जड़ और चेतन के कुछ ऐसे पर्याय भी हैं, जिन्हें हम अशुद्ध पर्याय कहते हैं। उदाहरणार्थ शरीर का एक-एक ज़र्रा, जो शरीर के रूप में आया है, वह चेतन के अधिष्ठान से आया है। चेतन ने ही जड़ पुद्गल को शरीर का रूप प्रदान किया है। अतएव यह जो शरीर, इन्द्रियाँ, और मन हैं, इन्हें हम जड़-पर्याय कहते हैं, किन्तु वे उसके अशुद्ध पर्याय हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि जो कर्म-पुद्गल हैं, वे अपने आप में जड़ और सारे लोक में बिखरे पड़े हैं। जब वे बिखरे पड़े हैं, तब भी उनमें स्वभावतः

रूपान्तर होता रहता है, मगर वह रूपान्तर चेतन के निमित्त से नहीं होता। अतः उस समय उनके जो पर्याय होते हैं, वे शुद्ध जड़-पर्याय कहे जाते हैं। उस समय उन पुद्गलों को पुद्गल ही कहा जा सकता है, जड़ ही कह सकते हैं, कर्म नहीं कह सकते। उन पुद्गलों में कर्म-रूप पर्याय की उत्पत्ति तभी होती है, जब योग और कषाय से प्रेरित होकर आत्मा उन्हें ग्रहण करती है। जब वे पुद्गल, आत्म-प्रदेशों के साथ एकमेक हुए और उनमें कार्मिक शक्ति उत्पन्न हो गई, तब उन्हें कर्म-संज्ञा प्राप्त हुई, अर्थात् उनमें कर्म-रूप पर्याय की उत्पत्ति हुई। जब तक वे आत्मा के साथ सम्बद्ध रहेंगे—आत्मा के साथ चिपटे रहेंगे, कर्म कहलाते रहेंगे। जब आत्मा से अलग हो जाएँगे, तब उन्हे फिर कर्म नहीं कहेंगे। वे फिर जड़ कहलाएँगे, पुद्गल-परमाणु कहलाएँगे या पर्यायान्तर से और कुछ भी कहलाएँगे, पर कर्म नहीं कहलाएँगे।

अभिप्राय यह है, कि कर्म भी एक प्रकार के पुद्गल हैं। उन पुद्गलों में कर्म-रूप पर्याय का होना अशुद्ध पर्याय है, क्योंकि वह चेतन के द्वारा उत्पन्न हुआ है।

आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ या राग-द्वेष रूप जो विकार उत्पन्न होते हैं, उनके निमित्तसे वह स्व-क्षेत्रावगाही उन पुद्गलो को ग्रहण करती है, और फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के रूप में उन्हें परिणत करती है। यह परिणति आत्मा के द्वारा ही होती है। इस कारण पुद्गलों के उस परिवर्तन को हम पुद्गल की अशुद्ध पर्याय कहते हैं।

ये इन्द्रियाँ, शरीर और मन भी जब तक आत्मा के साथ हैं, तब तक ही शरीर को शरीर, इन्द्रिय को इन्द्रिय और मन को मन कहते हैं। और जब आत्मा इन सबको छोड़ देती है, तब फिर आगम की भाषा में शरीर, शरीर नहीं कहलाता, इन्द्रिय, इन्द्रिय नहीं कहलाती और मन, मन नहीं कहलाता।

यों तो, आप आत्मा के द्वारा छोड़ देने पर भी शरीर को शरीर कहते रहते हैं, पर वास्तव में ऐसा कहकर आप पुरानी याद को ताजा करते हैं। वह शरीर पहले आत्मा के साथ रहता था, इसी कारण उसे शरीर कहते हैं और वह भी कुछ समय तक ही कहते हैं—जब तक उसकी आकृति वही बनी रहती है। राख बन जाने पर उसे कौन शरीर कहता है?

यदि वह शरीर है, तो किसी न किसी का होना चाहिए। जब आत्मा उसे छोड़ कर चली गई है, तब यह किस का शरीर है? अतएव इस रूप में वह शरीर, शरीर नहीं माना जाता और इन्द्रिय, इन्द्रिय नहीं मानी जाती और मन, मन नहीं माना जाता। आगम की भाषा में ये सब पुद्गल माने जाते हैं।

इस प्रकार जड़ पुद्गल और आत्मा के द्वारा एक दूसरे में अशुद्ध पर्याय उत्पन्न किए जाते हैं।

कोई जीव नरक में गया। उसने जो नारक का रूप लिया है, तो वह आत्मा का शुद्ध पर्याय है या अशुद्ध पर्याय ? वह कर्म-निमित्त से नारक बना है, पुद्गल के संसर्ग से बना है, इसलिए अशुद्ध पर्याय है। इसी प्रकार देव, मनुष्य और तिर्यञ्च आदि पर्याय भी आत्मा के अशुद्ध पर्याय हैं।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ भी अशुद्ध पर्याय हैं। किं बहुना, जितने भी औदयिक-भाव आत्मा में उत्पन्न होते हैं, वे सब अशुद्ध पर्याय हैं। वे आत्मा के निज-पर्याय नहीं हैं; क्योंकि उनकी उत्पत्ति जड़ कर्मों के निमित्त से होती है।

कोई मनुष्य क्रोध करता है। हम जानते हैं, कि जड़ में क्रोध उत्पन्न नहीं होता, चेतन आत्मा में ही होता है। पर, क्रोध यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण होता, तो मुक्त-दशा में भी उसकी सत्ता रहनी चाहिए थी। यही नहीं, मुक्त-दशा में तो स्वाभाविक गुणों का परिपूर्ण विकास होता है, अतएव वहाँ क्रोध का भी पूर्ण विकास होना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं है। क्रोध और दूसरे कषाय भी, कर्म के सयोग से आत्मा में उत्पन्न होते हैं। अतः आत्मा में उत्पन्न होने पर भी उन्हें आत्मा का शुद्ध पर्याय नहीं कह सकते।

हमारी स्थिति क्या है ? मनुष्य जब तक संसार में है और संसार की भूमिका में रह रहा है, तब तक उसे हम न एकान्ततः शुद्ध कहेंगे और न अशुद्ध। उसमें शुद्ध पर्याय भी हैं और अशुद्ध पर्याय भी हैं।

मनुष्य का जीवन अपने आप में अशुद्ध पर्याय है। जड़ और चेतन, दोनों के विकार से मानव-शरीर और मानव-जीवन बना है। एक ओर कर्म हैं, शरीर है, इन्द्रियां हैं और मन है और दूसरी ओर उसकी अपनी आत्मा है। दोनों का मिलकर हमारे सामने एक पिण्ड खड़ा है। उसकी उपमा दी गई है, कि लोहे का एक गोला आग में पड़ा है। धीरे-धीरे जब लोहे का गोला आग की गरमी ले लेता है, और उस के कण-कण में आग समा जाती है, तब उसका कोई भाग ऐसा बाकी नहीं रहता, जिसमें लोहा और आग-दोनों न हों। जहाँ लोहा है, वहीं अग्नि है और जहाँ अग्नि है, वही लोहा है।

लोहे के गोले की यह जो स्थिति है, वही मनुष्य जीवन की स्थिति है। एक ओर तो हमारा शरीर है, पिण्ड है, दूसरी ओर उसके अणु-अणु में आत्मा अग्नि की तरह व्याप्त है। कोई जगह खाली नहीं, जहाँ आत्मा न हो, और कोई जगह ऐसी नहीं, जहाँ आत्मा तो हो, पर शरीर न हो।

सर्वत्र यही विधान है। इसका विश्लेषण करना ही साधक का अपना काम है। भेद-विज्ञान साधक-जीवन की विशेष साधना है।

एक वैज्ञानिक के सामने जब तपा हुआ गोला आ जाता है, तब वह विश्लेषण करता है, कि यह लोहा है और यह अग्नि है। दो चीजें सामने आती हैं, तो विश्ले-

पण किया जाता है, कि यह अमुक है, और यह अमुक है। विचारक के मन में भी अवश्य ही विश्लेषण-बुद्धि उत्पन्न होती है।

साधक, चाहे वे गृहस्थ हों, अथवा साधु हों, एक ही ध्येय लेकर आए हैं। और वह महान् ध्येय यही है, कि आत्मा को अलग, और शरीर, इन्द्रिय एवं मन को अलग समझ लें। आत्मा में पैदा होने वाले औदयिक-भावों को, क्रोध आदि विकारों को अलग समझ लें, और शुद्ध आत्मा को अलग समझ लें।

जिस साधक ने यह समझ लिया, वह अपनी साधना में दृढ़ बन गया। फिर संसार का कोई भी सुख या दुःख उसको विचलित नहीं कर सकता। जब तक यह भूमिका नहीं आती है, तब तक मनुष्य, सुख से मचलता है और दुःख से घबराता है। जीवन की दोनों दशाएँ हैं—एक सुख और दूसरी दुःख। किन्तु, जब उक्त भेद-विज्ञान-दशा को प्राप्त कर लिया जाता है, तब न सुख विचलित कर सकता है और न दुःख ही। जब दुःख आए, तब दुःख में न रहकर आत्मा में रहे, और जब सुख आए, तब भी सुख में न रह कर आत्मा में रहे। और समझ लिया जाए, कि यह तो संसार की परिणति है। जो कुछ भी अच्छा या बुरा चल रहा है, वह आत्मा का अपना नहीं है। यह आत्मा का स्व-स्वरूप नहीं है। यह तो पुद्गल के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होने वाली विभाव-परिणति है। जब तक है, तब तक है, और जब चली जाएगी, तो फिर कुछ नहीं है। इस प्रकार भेद-विज्ञान की भूमिका प्राप्त कर लेने वाला साधक अपने स्वरूप में रमण करने लगता है।

जैन-धर्म का यही दर्शन है। जैन-धर्म मे बतलाए गए चौदह गुणस्थान और क्या हैं? वे यही बतलाते हैं कि अमुक भूमिका में पहुँचने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाएगी और अमुक भूमिका में जाने पर क्रोध, मान, माया और लोभ छूट जाएँगे और अमुक भूमिका मे जाकर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और अन्तराय कर्म हट जाएँगे और फिर आगे की भूमिका में आयुष् आदि शेष चार कर्म भी दूर हो जाएँगे। इसके पश्चात् आत्मा सर्वथा विशुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। यह है, जैन-दर्शन की आध्यात्मिक वस्तु-स्थिति!

अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की जो साधना है, वह किस रूप में है? इसी रूप में कि हम इस शरीर मे रहते हुए भी शरीर से अलग हो सकें। शरीर मे रहते हुए भी शरीर से अलग होने का अर्थ क्या है? अर्थ यह है, कि कर्मों का क्षय तो जब होगा, तब होगा, किन्तु हम अपनी विवेक-बुद्धि से तो उनसे पहले ही अलग हो सकें!

जब तक आयु कर्म की सत्ता मौजूद है, हमें शरीर में रहना है और जब तक नाम कर्म की धारा बह रही है, तब तक शरीर से पृथक् नहीं हो सकते—एक के बाद एक शरीर का निर्माण होता ही जाएगा, किन्तु यह शरीर और ये इन्द्रियाँ आत्मा से

भिन्न हैं, जो इस परम-तत्त्व को समझ लेते हैं और उसमें आस्थावान् हो जाते हैं, वे शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग मालूम होते हैं। गुजरात के एक अध्यात्म-योगी ने कहा है, कि—

देह छतां जेनी, दशा वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीनां चरणमां वन्दन हो अगणीत॥

इसे स्व-पर विवेक कहें, भेद-विज्ञान कहें, आत्मा-अनात्मा का भान कहें, या आत्मानुभूति कहें, वास्तव में यही धर्म है। समस्त साधनाएँ और सारे क्रिया-काण्ड इसी अनुभूति के लिए हैं। व्रत, नियम, तप और जप, आदि का उद्देश्य इसी अनुभूति को पा लेना है। ज्ञान, ध्यान, सामायिक और स्वाध्याय इसी के लिए किए जाते हैं। जिस साधक को यह भेद-विज्ञान प्राप्त हो गया उसकी मुक्ति हो गई, उसके भव-भव के बन्धन छिन्न-विच्छिन्न हो गए, वह कृतार्थ हुआ और शुद्ध सच्चिदानन्दमय बन गया।

आज कल धर्म के सम्बन्ध में इतना संघर्षमय वातावरण बन गया है, कि साधक को सही राह नहीं मिलती है और वह चक्कर में पड़ जाता है कि किधर चले और किधर नहीं ? धर्म के वास्तविक रूप को समझना उसके लिए मुश्किल हो जाता है !

वास्तव में धर्म क्या है ? जितना-जितना पुद्गल का और जड़ का अंश कम होता जाता है, और जड़ के निमित्त से आत्मा में पैदा होने वाले विकार जितने-जितने कम होते जाते हैं, उतनी ही उतनी आत्मा, शुद्ध होती जाती है। आत्मा में जितनी-जितनी यह शुद्धि बढ़ती जाती है, वह धर्म है, और वह धर्म, जितना-जितना बढ़ता जाता है, उतना-उतना वह हमारे बन्धनों को तोड़ता चलता है, और जैसे-जैसे बंधन टूटते जाते हैं, परम- पद मोक्ष प्राप्त होता जाता है।

यही आत्मा की मूल और सही स्थिति है। हमारी इस स्थिति में ब्रह्मचर्य क्या करता है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

'ब्रह्मचर्य' में एक 'ब्रह्म' और दूसरा 'चर्य' शब्द है। व्याकरण की दृष्टि से शब्दों की बनावट पर ध्यान देना चाहिए। किसी भी शब्द का जब तक विश्लेषण करके न देख लें तब तक उसका जो महत्त्वपूर्ण अर्थ है, वह हमारी समझ में नहीं आता है। ब्रह्मचर्य संस्कृत-भाषा का शब्द है और व्याकरण के अनुसार जब उसका विश्लेषण करते हैं, तब दो शब्द हमारे सामने आते हैं। 'ब्रह्म' और 'चर्य', इन दो शब्दों से मिलकर एक 'ब्रह्मचर्य' शब्द बना है।

ब्रह्म' का अर्थ है—शुद्ध आत्म-भाव। शुद्ध आत्म-भाव कहिए, या परमात्म-भाव कह लीजिए, बात एक है। 'ब्रह्म' की ओर 'चर्या' करना, गति करना, या चलना

ब्रह्मचर्य हैं। मतलब यह है, कि ब्रह्म के लिए, परमात्म-भाव के लिए चलना, गति करना, उन्मुख होना, उस ओर अग्रसर होना, उसके लिए साधना करना, बस, यही ब्रह्मचर्य का अर्थ है। तात्पर्य यह है कि जो जीवन में परमात्म-भाव की ज्योति झलका देता है, वही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य, जीवन में परमात्म-भाव की ज्योति, इसलिए झलका देता है कि उसकी साधना में दूसरे विकारों का दमन करना भी आवश्यक बन जाता है और दूसरे विकारों के दमन करने का अर्थ है, महान् अन्तःसंघर्ष। देखा जाता है, कि मनुष्य बाहर की धर्म-क्रियाएँ तो बड़ी सरलता के साथ निभा लेता है, तिलक-छापे लगा कर, माला धारण करके, जटाएँ बढ़ाकर या मुंडा पूरा धार्मिक बन जाता है, मगर परमात्म-भाव की प्राप्ति के निमित्त ब्रह्मचर्य का पालन करना उसके लिए बहुत कठिन पड़ता है। उसके मन के भीतर अनेक द्वन्द्व उठ खड़े होते हैं। ऐसे समय में अनेक विकार जाग उठते हैं और विकारों की छाया में मनुष्य का मन बार-बार मनुष्य से कहता है—पीछे लौट। दुनियाँ में आया है, तो दुनियाँ के सुखों को भोग ले। भोगों से उदासीन क्यों होता है? मूर्ख! इस तरह से स्वयं को कसने में क्या रक्खा है? मन की ऐसी बातें सुनकर, साधक बार-बार अपने साधना—पथ से विचलित होता है और ठोकर खाकर कभी-कभी गिरने की, पथ-च्युत होने की भी बात सोचता है। और ऐसा देखा जाता है, कि कभी पीछे लौट भी जाता है। तो, इस कठिन-कठोर ब्रह्मचर्य के मार्ग पर कोई विरला ही ठहर पाता है, आगे बढ़ पाता है और साधना के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में राजर्षि भर्तृहरि ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> मत्तेभकुम्भ-दलने भुवि सन्ति शूराः,
> केचित् प्रचण्ड-मृगराज-वधेऽपि दक्षाः।
> किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
> कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

धर्म-शास्त्रों की विधान की भाषामें साधु का ब्रह्मचर्य पूर्ण माना जाता है। परन्तु वह पूर्णता, बाह्य प्रत्याख्यान की दृष्टि से है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का लक्ष्य रख कर की जाने वाली एक महान् प्रतिज्ञा-मात्र है। साधु स्व और पर स्त्री दोनों का ही त्याग करके चलता है। उसकी साधना में गृहस्थ के समान स्वस्त्री की भी छूट नहीं रहती है। बस, इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर साधु के ब्रह्मचर्य को पूर्ण बताया गया है। अन्यथा, अन्तर्जीवन में टटोल कर देखें, तो क्या वस्तुतः उसका ब्रह्मचर्य पूर्ण हो गया है—क्या उसके सभी अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो गए हैं—क्या वासना की सभी बूँदें सूख गई हैं? नहीं, यह सब कुछ नहीं हुआ है। अभी साधु को भी मन के विकारों से एक लम्बी लड़ाई

लगती है। यह नहीं कि—'अप्पाणं वोसिरामि' कहा और बस, उसी दिन ब्रह्मचर्य की पूरी साधना हो गई। उसी दिन यदि अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य पूरे हो गए, और, जो भी साधुत्व-भाव की साधना है, वह पूरी हो गई, तो फिर आगे के लिए जीवन संसार में क्यों है? अब उसे करना क्या है? उसे जो कुछ भी पाना था, वह पा ही चुका है। उसी घड़ी और उसी क्षण पा चुका है। उसके जीवन में पूर्णता आ गई है। अशुद्धि जीवन में रही ही नहीं। फिर, अब वह किससे लड़ता है? किस लिए साधना कर रहा है? और साधना के मार्ग पर जो कदम सँभाल कर रख रहा है, वह आखिर, किस प्रयोजन से रख रहा है?

यदि साधुत्व की प्रतिज्ञा लेते ही ब्रह्मचर्य, सत्य और अहिंसा आदि में पूर्णता आ जाती है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि चारित्र में पूर्णता आ जाती है। चारित्र में पूर्णता आ जाने पर, आप जानते हैं, मनुष्य की क्या स्थिति होती है? चारित्र की परिपूर्णता आत्मा में परमात्म-दशा पैदा कर देती है, और मुक्ति-प्रदान करती है। फिर तो कोई भी साधक साधुत्व की प्रतिज्ञा लेने के साथ ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त क्यों नहीं हो जाता?

साधुत्व-भाव की प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा है, और अब जीवन भर उस प्रतिज्ञा के मार्ग पर चलना है, और निरन्तर चलना है। परन्तु चलता-चलता साधक कभी लड़खड़ा भी जाता है, भटक भी जाता है। चिर-काल के संचित संस्कार कभी-कभी दबाने का प्रयत्न करने पर भी उभर आते हैं, और मन को गड़-बड़ में डाल देते हैं।

मन एक ऐसा घोड़ा है, इतना हठी और चंचल है, कि सवार ले जाना चाहता है, उसे और दिशा में और वह दौड़ पड़ता है, किसी और ही दिशा में। वह सवार की आज्ञा नहीं मानता है। सवार दुर्बल है और घोड़ा बलवान् है। गीता में अर्जुन ने कहा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण,
प्रमाथि बलवद् दृढम्।

पूर्ण साधना के क्षेत्र में उपस्थित होकर, साधक को, अपने उक्त मन के घोड़े पर नियन्त्रण करना है। धीरे-धीरे जब ज्ञान की बागडोर 'सवार' के हाथ में आ जाती है, तब वह घोड़े को अपनी अभीष्ट दिशा की ओर ले जाता है।

मन के सम्बन्ध में एक संत कहता है—

मन सब पर असवार है, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, वह लाखन में एक॥

मन सब पर सवार है। कहने को तो कहते है कि घोड़े पर सवार चढ़ा हुआ है, किन्तु मन का घोड़ा, एक ऐसा घोड़ा है कि वह सवार पर ही सवार रहता है, और

सवार को न जाने किधर ले जाता है। उसने सवार पर ही अपना नियंत्रण कर रखा है, लाखों में कोई एक ऐसा वीर साधक निकलता है, जो मन पर सवार होता है, मन के घोड़े को अपने अभीप्ट नियंत्रण में रखता है।

कभी-कभी ऐसा होता है, कि जब बहुत बड़ी सभा होती है, हजारों आदमी इकट्ठे होते हैं, और सभा-पति के गले में फूलों की मालाएँ डालकर उसे कुर्सी पर बिठा देते हैं, तब उसकी अंग-भंगी को देखो, तो मालूम होगा, कि उस पर अहंकार सवार हो गया है। जब यह दृश्य देखने को मिलता है, तब प्रत्यक्ष में तो यह मालूम होता है, कि वह कुर्सी पर बैठा है, किन्तु वास्तव में कुर्सी ही उस पर बैठ गई है। जीवन की यह कैसी विडम्बना है!

जब ये विकार आते हैं, तब मालूम होता है, कि जीवन का नाटक कितना विचित्र है! देखते हैं, कोई घोड़े पर सवार है, पर देखना है, कि घोड़ा ही तो कहीं उस पर सवार नहीं हो गया है? जो कार पर बैठा है, कहीं कार ही तो उस पर नहीं चढ़ बैठी है? कपड़ों ने तो हमें नहीं पहन लिया है? और हम समाज में यश और प्रतिष्ठा पैदा करते हैं किन्तु कहीं उन्होंने तो हमें नहीं पकड़ लिया है? सचमुच संसार में पकड़ की कुछ ऐसी विचित्र बातें हैं, कि हम आश्चर्य-मुग्ध हो जाते हैं।

एक गुरु था, और उसका एक था चेला। प्रभात की लाली में दोनों चले जाया करते थे नदी पर स्नान करने। एक दिन बहुत सवेरे ही नदी-किनारे पहुँचे तो कुछ साफ नजर नहीं आता था। जब शिष्य और गुरू दोनों नदी में स्नान करने लगे, तब अचानक गुरू की दृष्टि एक काली चीज पर पड़ी। वह दूर नदी की धारा में बहती हुई जा रही थी। गुरु ने शिष्य से कहा—देख, वह कम्बल बहा जा रहा है, किसी का बह गया है, तू उसे पकड़ ला।

शिष्य ने कहा—महाराज, मुझसे तो वह नहीं पकड़ा जाएगा। गुरू ने फटकारा—तू इतना हट्टा-कट्टा है, पर एक बहता कम्बल भी नहीं पकड़ा जाता। अच्छा मैं ही जाता हूँ।

गुरू ने छलांग लगाई, और उसे पकड़ा, तो वह कम्बल नहीं, एक रीछ था। गुरु ने ज्यों ही उसे पकड़ा, कि उसने गुरु ही को कस कर पकड़ लिया।

अब गुरु अपना पिण्ड छुड़ाने की कोशिश कर रहे हैं, और जल के अन्दर गुत्थम-गुत्था हो रही है।

चेले को कुछ स्पष्ट दीख नहीं रहा था। देर हो गई, तो उसने आवाज दी—गुरु जी, यदि कम्बल नहीं पकड़ा जाता है, तो छोड़ दो, रहने भी दो! कम्बल कहीं और मांग लेंगे।

तब गुरु ने कहा—अरे, गुरु तो कम्बल को छोड़ना चाहता है, किन्तु कम्बल ही गुरु को नहीं छोड़ रहा है।

जो बात गुरु और शिष्य की है, वही बात सारे संसार की है। हमने किसी चीज को चाहा, और उसे पकड़ने गए और पकड़ लिया, परन्तु बहुत बार ऐसा होता है, कि वही चीज हमें पकड़ लेती है, और ऐसा कस कर पकड़ लेती है, कि सारी जिन्दगी बीत जाती है, फिर भी वह पिण्ड नहीं छोड़ती।

संसार की यह दशा है। इस दशा से मुक्ति पाने के लिए ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की कला बतलाई गई है। मनुष्य, अपनी अन्तः शक्ति का प्रयोग करे, तो एक ही झटके में इस दशा से अपने आपको छुड़ा सकता है, किन्तु मन की गति बड़ी विचित्र है, वह सब पर सवार जो है। मन को जीतना बड़ा कठिन है।

बात यह है, कि मन भी आत्मा की ही एक शक्ति है, आत्मा ने ही उसे जन्म दिया है। अब जन्म देने वाले में यह कला भी होनी चाहिए, कि वह उसे अपने वश में रख सके। किन्तु वह भूत एक ऐसा भूत है, कि जिसे जगा तो दिया है, किन्तु उसे वश में रखने की यदि शक्ति नहीं है, तो वह जैसा चाहेगा, वैसा करेगा। उसके नचाए नाचना पड़ेगा।

हमारे मन ने हमको पकड़ लिया है। सारी जिन्दगी मन की गुलामी करते-करते बरबाद हो जाती है, फिर भी उससे पिण्ड नहीं छूटता। वह कितने खेल-खेलता है, कितना नाच नचाता है। हमारी शक्ति वरदान बनने के बजाय अभिशाप बन जाती है। अनन्त-अनन्त काल बीत गया है और बीतता जा रहा है। मगर मन वासनाओं को नहीं छोड़ता। वह कभी तृप्त नहीं होता, कभी ऊबता नहीं। जब देखो, तभी भूखा-का-भूखा बना रहता है। मन पर हमको सवार होना चाहिए था, पर, वह हम पर सवार हो गया है।

मन की गति का प्रवाह किसी भी क्षण शान्त नहीं होता है। आप किसी नदी के किनारे खड़े हो जाएँ तो देखेंगे, कि नदी की धारा निरन्तर बहती जा रही है एक बूँद के पीछे दूसरी और तीसरी बूँद बह रही है। निरन्तर अविश्रान्त-गति से प्रवाह बहता रहता है। ठीक यही हालत मन-सरिता के प्रवाह की है। सोते-जागते प्रत्येक क्षण मन की नदी भी बहती रहती है। हमारी चेतना का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता। मन की वृत्ति क्षण-क्षण में बदलती रहती है। किन्तु धन्य है वह, जो मन पर सवार हो गया है और जो मन की धाराको अपने अधिकार में रखता है। जिधर चाहता है, उधर ही मन, शरीर और इन्द्रियाँ दौड़ती हैं। सारा शरीर उसकी आज्ञा में है। सेनापति की आज्ञा में हजारों-लाखों वीरों की सेना होती है। उसके जरा से संकेत पर हजारों-लाखों तलवारें म्यान से बाहर होकर चमचमाने लगती हैं और तत्काल उसकी दूसरी आज्ञा पर चुपचाप फिर उसी म्यान में रख दी जाती

हैं। ऐसा अनुशासन होता है, कि हजारों सैनिक मौत के मोर्चे पर लड़ते हैं, और अपनी जान तक लड़ा देते हैं। क्या मजाल कि कोई इधर से उधर हो जाए।

सेना पर सेनापति का जैसा अनुशासन होता है, वैसा ही नियंत्रण जिसका अपने मन पर है, विचारों और इच्छाओं पर है, वह साधक अपने जीवन में कभी पराजित नही हो सकता। उसकी कभी हार नहीं हो सकती।

साधना का एक ही मार्ग है, कि हम अपनी इन्द्रिय, मन और शरीर को आत्मा के केन्द्र पर ले आएँ, अपने समस्त व्यापारों को आत्मा में ही केन्द्रीभूत कर लें।

इस प्रकार जब आत्मा की समस्त शक्तियाँ केन्द्रित हो जाती हैं, तब ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ जाती है, और यह केन्द्रीकरण जितना-जितना मजबूत होता जाता है, ब्रह्मचर्य की शक्ति में अभिवृद्धि होती चली जाती है।

भूख लगेगी तो शरीर को भोजन देंगे, किन्तु मन जो माँगेगा वह नहीं देंगे। वही दिया जाएगा, जो हम चाहते हैं। आँख, कान, नाक आदि अपना-अपना कार्य करते हैं, किन्तु उनका चाहा नही होगा, जो हम चाहेंगे वही होगा।

जब साधक अपने जीवन पर, अपनी इन्द्रियों पर, अपने शरीर और मन पर ठीक रूप में अधिकार कर लेता है, तब आत्मा मे राग और द्वेष की परिणति कम हो जाती है और राग-द्वेष की परिणति जितनी-जितनी कम होती जाएगी, उतना-उतना ही ब्रह्मचर्य का विकास होता जाएगा।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना अन्दर और बाहर दोनों क्षेत्रों में चलती है। वह अकेले आत्मा में या अकेले शरीर में ही नहीं चलती है। यद्यपि शरीर पर ब्रह्मचर्य का प्रभाव पड़ता है और इतना सुन्दर पड़ता है, कि उसे वाणी के द्वारा व्यक्त करना कठिन है। जो सदाचारी माता-पिता की सन्तान है, वह इतना सुदृढ़ एवं सुगठित होता है कि संसार की चोटों से तनिक भी नहीं घबराता। किन्तु इसके विपरीत लम्पट माता-पिता की सन्तान दुःखों की चोटों से काँपने लगती है। छोटे-छोटे बच्चे, जिनकी जिन्दगियाँ अभी पनप ही रही हैं, जब दिल की धड़कन की बीमारी से तंग आ जाते हैं, निस्तेज एवं निष्प्राण से हो जाते हैं, तब मालूम होता है, कि माता-पिता ने भूल की है। इसी कारण उनका शरीर बचपन में ही जर-जर होता जा रहा है। जब अधिष्ठान ही दुर्बल है, तो उसका अधिष्ठाता बलवान् कैसे होगा? दुर्बल और निःसत्त्व शरीर में सबल और सत्त्वशाली आत्मा का निवास किस प्रकार हो सकता है?

आप इस बात पर विचार करें, कि जैनधर्म में जब मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता पर विचार किया गया, तब जहाँ आध्यात्मिक शक्ति की सबलता पर जोर दिया गया, वहाँ शारीरिक शक्ति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

आपको मालूम होना चाहिए, कि हमारे यहाँ 'संहनन' और 'संठाण' (आकृति) का सूक्ष्म विचार किया गया है। शरीर की आकृति कैसी है, वह ऊँचा है या नीचा है, यह सब संस्थान कहलाता है। और शरीर की सबल-निर्बल रचना-विशेष और हड्डियों का बल, यह सब संहनन है। जब मोक्ष की बात आई, तब कहा, कि मोक्ष के लिए कोई विशेष संस्थान अपेक्षित नहीं है। शरीर समचतुरस्र हो, तो भले हो, और न हो, तो भी कोई हानि नही है। शरीर की आकृति सुन्दर हो, तो भी ठीक है और न हो, तो भी कोई बुराई नहीं। न आकृति की सुरूपता से मोक्ष मिलता है और न आकृति की कुरूपता से मोक्ष अटकता है। शरीर की सुन्दरता-असुन्दरता का प्रश्न मुख्य नही है, प्रश्न है-बल का, शक्ति का। अतः उत्तम संहनन अवश्य ही अपेक्षित है। यहाँ आकर जैन-धर्म जितना अध्यात्मवादी है, उतना ही भौतिकवादी भी बन गया है। जैनधर्म जब मोक्ष की साधना के लिए चला, आत्मा के बन्धनों को तोड़ने के लिए चला और जीवन की मंजिल को पार करने के लिए चला, तब उसने आत्मा की बातें कहीं। ९९९ बातें आत्मा की कहीं, तो एक बात शरीर के सम्बन्ध में भी कह दी। इस रूप में वह भौतिकवादी भी हो गया। जैनधर्म ने कहा—कितना ही सुन्दर शरीर क्यों न हो, उससे मोक्ष नही मिलेगा। किन्तु जब वज्रऋषभ नाराच संहनन होगा, तभी मोक्ष मिलेगा। वज्रऋषभनाराच संहनन के अभाव में किसी को भी मोक्ष नहीं मिल सकता।

जैनधर्म ने विचार किया है, कि ऊँचे विचार, ऊँचे संकल्प, उच्च भावना, अपने सिद्धान्त पर अड़े रहने का बल और संसार के संघर्षों मे रहते हुए भी अपने पैर न उखड़ने देने का बल, वज्रऋषभ नाराच संहनन में ही मिल सकता है।

इस का तात्पर्य यह है, कि हमारा अध्यात्मवाद एक प्रकार से भौतिकता की नींव पर खड़ा है, और उसका आधार शरीर-बल को भी बना दिया गया है। किन्तु, साधक भटक न जाए, भ्रम में न रह जाए, इसलिए जैनधर्म साथ ही यह भी कहता है, कि वज्रऋषभनाराच के होने पर ही मोक्ष मिलता है, यह सही है, पर यह सही नही, कि उसके होने पर मोक्ष मिलता ही हो। वज्रऋषभनाराच संहनन, मोक्ष की अनेक आध्यात्मिक अनिवार्यताओं के साथ, एक भौतिक अपरिहार्यता—अनिवार्यता है। पर, अन्त में शरीर को छोड़ना है, वज्रऋषभ नाराच संहनन को भी छोड़ना है, परन्तु यह छोड़ना तभी सम्भव होगा, जब कि पहले साधना-काल में वह संहनन होगा।

किसी भी महल की नींव अगर ठोस जमीन पर रखी गई होगी, तो उसकी मंजिलें भी ऊँची चढ़ती जाएँगी। यदि भूमि दलदल वाली है, और उसमें ठोसपन नहीं है, इस स्थिति में यदि कोई व्यक्ति संगमरमर का महल उस पर खड़ा करना चाहे, तो उसका वह प्रयास निष्फल होगा। वह महल कदाचित् खड़ा हो भी गया, तो अधिक समय तक ठहरने वाला नहीं है। किसी भी समय वह धरा-शायी हो सकता है।

प्रवचन | ४

जीवन-रस

हमारा जो वर्तमान जीवन है, वह शरीर और आत्मा दोनों के सुमेल का प्रतिफल है। जीवन में शरीर भी है और आत्मा भी है। तात्विक दृष्टि से शरीर, शरीर है और आत्मा, आत्मा है। शरीर जड़ है, वह पंच भूतों से बना हुआ है। आत्मा चिदानन्दमय है। वह किसी से भी बना हुआ नहीं है। इस जीवन का जब अन्त होता है, तब यह दृश्य शरीर यहीं पड़ा रह जाता है, और उसका अधिष्ठाता आत्मा अपनी अगली महायात्रा के लिए चल पड़ता है। शरीर, आत्मा नहीं हो सकता और आत्मा, शरीर नहीं हो सकता। दोनों तत्वतः एक-दूसरे से भिन्न हैं।

इस प्रकार दोनों की सत्ता मूलतः पृथक् पृथक होने पर भी, दोनो, में बहुत घनिष्ठ और महत्त्व-पूर्ण सम्बन्ध भी है। दोनों का एक-दूसरे की क्रिया पर गहरा प्रभाव भी पड़ता है। यही कारण है, कि जब हम जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तब शरीर और आत्मा दोनों हमारी नजरों में झूलने लगते है, और इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा करके हम दूसरे का विचार नहीं कर सकते। अगर कोई व्यक्ति इस प्रकार एकांगी विचार करता भी है, तो वह अपने जीवन के विषय में शुद्ध दृष्टि-कोण उपस्थित नहीं कर सकता।

इस स्थिति में मनुष्य का यही कर्तव्य है, कि वह आत्मा और शरीर दोनों का यथोचित विकास करे, दोनों को ही सशक्त बनाए, दोनों में ही किसी प्रकार की गड़बड़ न होने दे।

कई पन्थ ऐसे हैं, जो केवल आत्मा की ही बातें करते हैं, और जब वे बातें करते हैं, तब उनका मुद्दा यही होता है, कि शरीर बीमार रहता है, तो रहा करे! हमें इससे क्या सरोकार है। इसे तो एक दिन छोड़ना है। जब एक दिन छोड़ना ही है, तब इसका क्या लाड़-प्यार। यह तो मिट्टी का पुतला है। जब टूट जाए तभी ठीक है। इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण वे अपने शरीर की ओर यथोचित ध्यान नहीं दे पाते हैं।

इस प्रकार का विचार रखने वाले लोग बड़ी लम्बी-लम्बी और कठोर साध-

नाएँ करते हैं, किन्तु फिर भी आत्मा को मजबूत नहीं बना पाते हैं। आत्मा को सतेज नहीं कर पाते।

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के युग में ऐसे साधकों की संख्या बहुत अधिक थी, जिन्हें अपनी साधना के सही लक्ष्य और उपायों का ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं था, किन्तु जो शरीर को ही दण्डित करने पर तुले हुए थे। भगवान् महावीर ने उनके लिए जिस शब्द का प्रयोग किया है, वह कड़ा तो है, मगर सचाई भी उसमें भरपूर है। भगवान् ने ऐसी साधना को बाल-तप और अज्ञान-कष्ट कहा है। क्योंकि उस तप के पीछे विवेक नहीं है। और बिना विवेक के धर्म की साधना कैसे हो?

अभिप्राय यह है, कि जो लोग इस शरीर को ही दण्ड देने पर तुल गए हैं; इसे बर्बाद करने को तैयार हो गए हैं, वे समझते हैं, कि बुराइयाँ सब शरीर में ही हैं, सारे अनर्थों का मूल शरीर ही है। यदि इस शरीर को नष्ट कर दिया जाए, तो आत्मा स्वतः पवित्र हो जाएगी।

इस प्रकार की धारणा से प्रेरित होकर, वे बड़ा भयंकर तप करते हैं। कोई-कोई साधक अपने चारों ओर धूनियाँ धका लेते हैं और ऊपर से सूर्य की कड़ी धूप को झेलते रहते हैं। जेठ के महीने में पंचाग्नि-ताप से तप कर अपने शरीर को कोयले का ढेर बना लेते हैं। उनकी अपनी समझ में शरीर की चमड़ी क्या जलती है, मानों आत्मा के विकार जलते हैं।

जब कड़ी सरदी पड़ती है, तब ठंडे पानी में खड़े हो जाते हैं। घंटों खड़े रहते हैं, और शीत की वेदना को सहन करते रहते हैं। वे समझते हैं, कि ऐसा करने से हमारी आत्मा पवित्र हो रही है।

कोई-कोई तापस ऐसे भी हैं, जिन्होंने खड़े रहने का ही नियम ले लिया है। मैंने एक वैष्णव साधु को देखा है, जो सात वर्षों से खड़ा था। उसके पैर सूज कर स्तम्भ जैसे हो रहे थे और खून सिमट कर नीचे की ओर जा रहा था। उसने एक झूला डाल रक्खा था, कि जब खड़ा न रहा जाए, तब उस पर झुक कर आराम ले लिया जाए। किन्तु रहे खड़ी अवस्था में ही। मैंने उसे इस रूप में देखा और पूछा—आप यह क्या कर रहे हैं?

उस साधु ने उत्तर दिया—"मैंने बारह वर्ष के लिए खड़े रहने का व्रत ले लिया है। खड़ा ही खाता हूँ, शौच जाता हूँ और सोता हूँ। उक्त तप साधना से अवश्य ही एक दिन मुझे प्रभु दर्शन होंगे, वैकुण्ठवास प्राप्त होगा।"

उसकी साधना कठोर है, वह अपने शरीर को जो यातना दे रहा है, वह असाधारण है, इससे इन्कार भी नहीं किया जा सकता,—परन्तु मुझे भगवान पार्श्वनाथ का अग्नि-तापस कमठ को दिया गया उपदेश याद आ रहा है—

अहो कष्टमहो कष्टं पुनस्तत्त्वं न ज्ञायते ?

कष्ट तो भयंकर है, किन्तु फिर भी तत्व की, सत्य की प्राप्ति नहीं हो रही है। अपने जीवन को होम रहे हैं, किन्तु वह अलौकिक प्रकाश नहीं मिल रहा है, जिसकी अपेक्षा है और जिसकी प्राप्ति के हेतु यह सब कुछ किया जा रहा है।

कोई-कोई तापस सूखे पत्ते ही खाते हैं, और कोई वे भी नहीं खाते। कोई हवा का ही आहार करते हैं। कोई कन्द, मूल और फल ही खाते हैं। यह एक कठोर साधना अवश्य है, परन्तु यह साधना बिना विवेक की है।

भगवान महावीर के युग के साधकों का वर्णन आया है, कि वे भोजन लाते और इक्कीस-इक्कीस बार उसको पानी से धोते। धोते-धोते जब उसका नीरस भाग बाकी बच रहता, तब उसको ग्रहण करते थे।

ऐसे वर्णन भी आते हैं, कि भिक्षा के पात्र में भिन्न-भिन्न कोष्ठक बनवा लेते और गृहस्थ के घर जाते, तो मन में सोच लेते, कि अमुक नम्बर के खाने मे आहार डाला जायगा, तो पक्षियो को खिला दूँगा, अमुक में डाला हुआ अमुक को खिला दूँगा और अमुक खाने में डाला हुआ मैं स्वयं खाऊँगा। इस प्रकार दो, तीन, चार दिन भी हो जाते, और उसके निमित्त के खाने में आहार न पड़ पाता। दूसरों के निमित्त के खानो में ही आहार पड़ता चला जाता, तो आप भूखे रह जाते और वह आहार उसी को खिला दिया जाता, जिसके निमित्त के खाने में वह पड़ता था। इस प्रकार की कठोर साधनाएँ पिछले युग में होती थीं और कहीं-कहीं आज भी होती हैं। *उक्त साधनाओं से अकामनिर्जरा होती है, यह सत्य है, परन्तु परम-तत्व की उपलब्धि* इनसे नहीं हो पाती, अतएव आध्यात्मिक दृष्टि मे उनका कुछ भी मूल्य नहीं है।

और ऐसी कठोर साधनाओं की चरम-सीमा यहीं तक नहीं है। इनसे भी भयानक साधनाएं की जाती हैं। चले जा रहे हैं, किसी की कोई चीज पड़ी हुई दीख गई, और उसे उठा लिया, मगर उठाने के बाद खयाल आया, बहुत गुनाह किया, किसी की चीज उठा ली। फिर सोचा—यदि यह हाथ न होते, तो कैसे उठाता ? और यह पैर न होते, तो कैसे उठाने जाता ? इन हाथों और पैरों की बदौलत ही मैं पाप के कीचड़ में गिर गया, तो, इन्हें समाप्त ही क्यों न कर दूँ ? न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी ! इस प्रकार सोच कर, उन्होंने अपने हाथों-पैरों को क्या सजा दी ? उन्होंने अपने हाथ और पैर ही काट लिए।

ऐसा भी वर्णन आता है, कि कहीं चले जा रहे हैं और किसी सुन्दर स्त्री पर दृष्टि पड़ गई, विकार जाग उठा। विकार जाग उठा, तो सोचा कि इन आँखों के कारण ही विकार जागा है। यदि आँखें न होती, तो मैं देखता ही नहीं, और देखता

ही नहीं, तो विकार जागता भी कैसे ? उन्होंने लोहे की गरम शलाकाएँ लीं, अपनी आंखों में स्वयं अपने हाथों से भौंक ली, और जीवन-भर के लिये अन्धे बन गए।

आज-कल भी इस प्रकार के तपस्वी कहीं-कहीं पाए जाते हैं। एक सन्त थे, जिन्होंने दो-तीन वर्ष से अपने होठों को तार डाल कर सीं रक्खा था, जिस से बोल न सकें। यदि मुंह खुला रहेगा, तो बोल निकल जाएगा। उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं था, तो मुंह को ही सी लिया। जब मुंह ही सी लिया, तब खाना कैसे खाएँ ? बस, छेदों मे से आटे का पानी या दूध तुतई के द्वारा गले के नीचे उतारा जाने लगा।

यह साधक महोदय जब गान्धी जी से मिले, तब गान्धीजी ने पूछा—यह क्या कर रक्खा है, वह बहुत बड़ा विचारक था, किन्तु कभी-कभी बड़े-बड़े विचारक भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। वह भी भ्रान्ति में पड़ गया था। उस ने गान्धी जी को लिखकर उत्तर दिया कि कि मैंने मौन ले रक्खा है, और वह कहीं भंग न हो जाए, इस डर से मैंने अपना मुंह सी लिया है।

गान्धीजी ने उससे कहा-"भले ही बाहर से न बोलो, किन्तु यदि अंदर से बोलने की वृत्ति नहीं टूटी, तो मुंह सी लेने से भी क्या होगा ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि एक बुराई को—सम्भावित बुराई को मिटाने के लिए, दूसरी भलाइयों को भी नष्ट कर दिया जाए ? मुंह खुला होता, तो सम्भव है, कोई दुख में कराहता हुआ मिलता, तो उसे कुछ मधुर शब्द बोलकर सान्त्वना तो देते। और सम्भव है, कोई व्यक्ति आपके पासअध्ययन करनेके लिए आता, तो उसका कुछ भला हो जाता। मुंह सी लेने से वह सब खत्म हो गया। इससे इतना ही तो हुआ, कि मुंह से कोई गलत शब्द न निकल जाए। किन्तु मन से तो वह वृत्ति नहीं निकली है ? यदि मन से वह वृत्ति निकल गई होती, तो मुंह सीने की आवश्यकता ही न रहती। अब तो यह स्थिति है, कि यह होठ भी सूज गए हैं। फ़िर भी मन कहां शान्त है ? तो आपने एक बुराई की सम्भावना को नष्ट करने के लिए, कितनी ही अच्छाइयों को नष्ट कर दिया।"

"वाणी के संयम के लिए मौन की साधना आवश्यक है, मौन का अभ्यास साधक को अर्न्तमुख बनाता है। अभ्यास-काल में यदि स्मृति भ्रंश के कारण मुख से कभी कुछ बोल निकल भी जाए, तो कोई विशेष हानि नही है। बोलने पर ही नही, बोलने की वृत्ति पर नियंत्रण करो। और वह भी गलत एवं अनुचित बोलने की वृत्ति पर।"

गान्धीजी की बात उसकी समझ में आ गई, और उसने अपने मुंह के तार खोल दिए। गान्धीजी का तर्क सत्य को प्रकाशमान कर गया।

मानव जीवन के बड़े ही विचित्र रूप हैं। भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के युग में भी कैसे-कैसे कठोर साधक मौजूद थे। जब आगमों में उनका वर्णन पढ़ते हैं, तब मालूम होता है, कि वे शरीर को नष्ट करने पर ही तुल पड़े थे। उन्होंने यह

पात्र को आग पर रख दिया जाता है और मन्द आंच से उसे तपाया जाता है। पात्र को तपाने का प्रयोजन घी को शुद्ध करना है, पात्र को नष्ट करना नहीं है, और घी को भी नष्ट कर देना नहीं है। पात्र को गरमी पहुँचाई जाती है, किन्तु इतनी मात्रा में ही, कि घी पिघल जाए तथा छाछ और घी अलग-अलग हो जाएँ।

जो बात इस उदाहरण से समझ में आती है, वही बात जैन-धर्म शरीर को तपाने के विषय में कहता है। जैन-धर्म में काय-क्लेश को तप माना गया है, परन्तु उस का उद्देश्य और आशय यही है कि शरीर को घी के पात्र की तरह तपाना है। इस शरीर से तपश्चर्या करनी है और साधना करनी है, और इसी में शरीर की सार्थकता भी है। किन्तु इसका आशय शरीर को झुलसा देना नहीं है और न ही आत्मा को उत्पीडित करना है। आत्मा में जो विकार आ गए हैं, वासनाएँ आ गई हैं, शरीर को तपा कर उन्हें दूर करना है। पर ऐसा नहीं है, कि घी को शुद्ध करने के लिए पात्र को ही जलाकर नष्ट कर दिया जाए।

इस प्रकार जैनधर्म की कुछ मर्यादाएँ हैं, किन्तु दुर्भाग्य से आज हम उन मर्यादाओं को समझने का प्रयत्न नहीं करते। हम उस गम्भीर चिन्तन को भूल गए हैं। दूसरे लोगों की तरह हम भी शरीर पर बिगड़ बैठते हैं और समझ लेते हैं, कि शरीर को खत्म कर देने से ही आत्मा पवित्र हो जायगी। किन्तु हमें यह समझना चाहिए, कि जैनधर्म शरीर का खात्मा करने की बात नहीं करता। वह कहता है कि धर्म की साधना इसी शरीर के द्वारा होगी और कल्याण का रास्ता भी इसी शरीर के द्वारा प्राप्त किया जायगा। आवश्यकता पड़ने पर इसे तपाना भी है और कष्ट भी देना है, किन्तु इतना ही तपाना और कष्ट देना है, जितना आवश्यक हो। जहाँ केवल कष्ट देने का ही उद्देश्य है, वहाँ बालतप है, अज्ञानतप है।

जब इस सिद्धान्त पर ध्यान देते हैं तब एक महत्वपूर्ण बात सामने आ जाती है। वह यह है कि यदि यह शरीर किसी विवेकशील साधक को मिलता है, तो वह कल्याण कर लेता है और यदि विवेक-शून्य को मिलता है, तो यह नरक और तिर्यञ्च गति की राह तैयार कर लेता है। मगर इस में बेचारे शरीर का क्या दोष है? यह तो उस के उपयोग करने वाले का दोष है। किसी के पास रुपया आया। उसने उस रुपये से खरीद कर दूध पिया, और दूसरे ने मदिरापान कर लिया। अब वह कहता है, कि यह रुपया बड़ा पापमय है, इसने मुझे शराब पिला दी है। उसका यह कहना, क्या आपको ठीक लगेगा? आप कहेंगे—इसमें रुपया बेचारा क्या करे? उसका क्या दोष है? दोष तो उसी का है जिसने रुपये का दुरुपयोग किया है। बस यही बात शरीर के विषय में भी है।

जो मनुष्य इस शरीर के द्वारा वासनाओं में भटकता है और शरीर की अद्भुत शक्ति को उसी में खर्च करता है, उस से जैन-धर्म कहता है कि तू गलत काम कर रहा

है। शरीर विषय वासनाओं के लिए नहीं है, शृंगार के लिए नहीं है। अपने और दूसरे के चित्त में वासना की आग जलाने के लिए नहीं है। हम संसार में मनुष्य के रूप में आए हैं, तो कुछ महत्त्व-पूर्ण काम करने के लिए आए हैं। उस काम में हमारा यह शरीर महत्वपूर्ण योग दे सकता है। इस प्रकार शरीर बर्बाद करने के लिए नहीं, अपितु काम करने के लिए, साधना करने के लिए और स्व-पर-कल्याण करने के लिए है।

इस प्रकार यदि हम सावधान होकर, गहरी और पैनी नजर से देखें तो मालूम होगा, कि शरीर अपने आप में गलत नहीं है। गलत हैं, उसका दुरुपयोग करने वाले। जब उपयोग करने वाले गलत होते हैं, तब शरीर भी गलत काम करता है, इन्द्रियां भी गलत राह पर दौड़ती हैं और मन भी गलत रास्ते पर चल पड़ता है। किन्तु साधक जब विवेक-शील होता है तब वह अपने शरीर, इन्द्रिय और मन को और अपने सभी साधनों को ठीक तरह, से काम में लगाता है, उन्हें आत्म-कल्याण में सहायक बना लेता है। एक अध्यात्म-योगी सन्त ने कहा है—

> येनैव देहेन विवेक-हीनाः,
> संसार-बीजं परिपोषयन्ति।
> तेनैव देहेन विवेक-भाजः,
> संसार-बीजं परिशोषयन्ति॥
>
> —अध्यात्म-तत्वालोक

विवेक-शून्य व्यक्ति जिस शरीर के द्वारा जन्म-मरण के बीज को पोषता है, और संसार के विष-वृक्ष को पल्लवित करता है, उसी शरीर के द्वारा ज्ञानी, विवेक-शील और विचारवान् साधक जन्ममरण के बीज को सुखा देता है, और संसार के विष-वृक्ष को नष्ट कर देता है। उसे दग्ध कर डालता है।

भगवान् महावीर की विराट् साधना का साधन यह शरीर ही रहा है, भगवान् पार्श्वनाथ और मर्यादापुरुषोत्तम राम भी इसी मानव-शरीर को धारण करके ही संसार में चमके। किन्तु इस शरीर में रहते हुए रावण-जैसों ने नरक की राह भी पकड़ी। इसमें दोष शरीर का नहीं, उपयोग करने वाले का है। किसी भी वस्तु का अच्छा और बुरा, दोनों उपयोग हो सकते हैं।

इस रूप में जैन-धर्म की साधना का केन्द्र शरीर और आत्मा दोनों हैं। जैन-धर्म यह नहीं कहता, कि आत्मा की पूजा की धुन में शरीर को ही नष्ट कर दो, अथवा शरीर की पूजा के लिए आत्मा को ही भुला दिया जाए। दोनों ओर जब अति होती है, तब साधक अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है। वह स्वयं गलत राह पर चल पड़ता है, और दूसरों को भी वही गलत राह दिखलाता है। वह स्वयं गिरता है और दूसरों को भी गिराता है।

आज हमारे समाज में, इस सम्बन्ध में अनेक ग़लतफ़हमियाँ हैं, और यही कारण है, कि हम अपनी साधना को सही रूप नहीं दे पाते हैं। इस से हमारा अपना ही अहित नही होता, साधारण जन-समाज में भी तपश्चरण की महत्ता कम हो जाती है।

ब्रह्मचर्य एक ऐसी साधना है, जिससे शरीर भी शक्ति-शाली बनता है और आत्मा भी शक्तिशाली बनती है। वह बाह्य जगत् में हमारे शरीर को ठीक रखता है, और अन्तर्जगत् में हमारे मन को और हमारे विचारों को भी पवित्र बनाता है।

मनुष्य को प्रारम्भ से बचपन में शरीर मिलता है, और धीरे-धीरे वह आगे प्रगति करता है। जब तक वासनाएँ नहीं पैदा होती हैं, तब तक वह ठीक-ठीक विकास करता जाता है। किन्तु वासनाओं और विकारों के उत्पन्न होने पर उसका विकास रुक जाता है। यही नहीं, बल्कि ह्रास भी होना प्रारम्भ हो जाता है।

मनुष्य का शरीर तो इतना मूल्यवान् है, कि इससे सोने की खेती हो सकती है, हीरे और जवाहरात की खेती भी हो सकती है, किन्तु दुर्भाग्य से, यौवन-काल आने पर, इसमें एक प्रकार की आग भी सुलगने लग जाती है। अगर मनुष्य उस आग पर क़ाबू पाने के लिए प्रयत्न नहीं करता, अपितु उसे और हवा देने लगता है, संसार की वासना के चक्र में पड़ जाता है, तो उसके शरीर का तेजस् और ओजस् झुलस-झुलस कर नष्ट हो जाता है। उसे अकाल में ही बुढ़ापा घेर लेता है। हज़ारों बीमारियाँ उस शरीर में अड्डा जमा लेती हैं। फिर वह शरीर न भोग के योग्य रह जाता है, न योग की साधना के योग्य ही रह जाता है। जिसने कच्ची उम्र में भोग के द्वारा, शरीर को नष्ट कर दिया है, वह आगे न भोग के योग्य रह जाता है और न त्याग के योग्य ही रह पाता है। जिस भोग के लिए उसने शरीर को गला दिया है, उस भोग की पूर्ति भी उससे नहीं होती। जीवन की यह एक विडम्बना है।

संसार के क्षेत्र में जब आप जीवन को लेकर आगे बढ़ें, उस समय अगर संसार की हवाएँ लगने लोगे, और वासना की चिनगारियाँ सुलगा लोगे, तो जीवन झुलस जाएगा और आगे बढ़ने के मंसूबे जल कर खाक बन जाएँगे। अतएव मनुष्य का यह पवित्र कर्त्तव्य है, कि वह एक-एक क़दम फूँक-फूँक कर रखे, और इस बात को समझे, कि यदि एक बार भी ग़लत क़दम पड़ गया, तो फिर जीवन में उसे सँभालना और बचा लेना मुश्किल हो जाएगा। जो ऊपर के अभिभावक हैं, परिवार वाले हैं, माता-पिता या गुरु-जन हैं, और जिनके संरक्षण में वह रहता है, वे भी ध्यान रखें, कि बालक के अन्दर बुरे संस्कार तो नहीं पड़ रहे हैं। बुरे विचारों के अंकुर तो नहीं जम रहे हैं, और ऐसा तो नहीं है, कि बालक विकारों के ताप की ओर जा रहा है। अगर जाएगा,

तो शरीर सूखे काठ के रूप में परिवर्तित हो जाएगा, और फिर सूखा काठ तो जलने के ही लिए होता है। उसे किसी प्रकार बचाया नहीं जा सकता।

ब्रह्मचर्य, शरीर में खाद के रूप में है। जिस खेत में खेती करनी होती है, किसान उसमें खाद देता है और जितना अच्छा खाद देता है, उतनी ही सुन्दर एवं हरी-भरी खेती होती है। पर्याप्त खाद देने पर खेती का विशाल साम्राज्य खड़ा हो जाता है। अगर ठीक समय पर खाद न दिया गया, तो कितनी ही खेती क्यों न बो लो, वह लहलहाती हुई नजर नहीं आएगी। यह तथ्य हमारे सामने सदा रहना चाहिए।

मुझे एक बार एक विचारक मिले। वे रूस की यात्रा करके आए थे। उन्होंने बतलाया, कि भारत में एक एकड़ भूमि में, पाँच मन भी अनाज अच्छी तरह पैदा नहीं होता, जब कि रूस में, एक एकड़ में, ५०-६०-१०० मन तक अनाज पैदा हो रहा है। ऐसी स्थिति में, भारत की बढ़ती हुई जन-संख्या को देख कर यह सोचना पड़ता है, कि इतने प्राणियों के लिए अनाज कहाँ से आएगा?

इस दृष्टि से हमारे नेताओं के समक्ष एक विकट समस्या उपस्थित हो गई है। अगर समय रहते समुचित व्यवस्था न की गई, तो क्या परिस्थिति उपस्थित हो जायगी? कुछ कहा नहीं जा सकता? आस-पास की सीमाओं पर तो लोगों ने विचारों के गज उठा लिए हैं और वे अपने कर्त्तव्य को नाप रहे हैं। मगर भारत के सामने प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है। जन-संख्या तेजी से बढ़ रही है, खाने-पीने का प्रश्न विकट होता जा रहा है, इस पर समाधान की दिशा में, इधर-उधर जनता में बड़ी अजीब-अजीब बातें हो रही हैं।

कुछ लोग समस्या का हल पेश करते हैं कि सन्तति-नियमन होना चाहिए। जहाँ तक सन्तति-नियमन का सवाल है, कोई भी विचारक उससे असहमत नहीं हो सकता। पर, जब लोग कृत्रिम वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से नियंत्रण की बात कहते हैं, तब हम सोचते हैं, कि यह क्या चीज है? क्या मनुष्य विकारों और वासनाओं का इतना दास हो गया है, कि ऊपर उठ नहीं सकता?

हमारे पास ब्रह्मचर्य का सुन्दर साधन मौजूद है और वह दूसरे उपायों से सुन्दर है, तो फिर क्यों नहीं, उसका उपयोग किया जाता है? उस से सन्तति का प्रश्न भी हल होता है और सन्तति के जनक और जननी का भी प्रश्न हल हो जाता है। वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करने का अर्थ यह है, कि मनुष्य अपनी वासना में खुल कर खेले और अपने जीवन को भोग की आग में होम दे। इस प्रकार से सन्तति नियंत्रण का अर्थ होता है, अपने आप पर अनियंत्रण। अभिप्राय यह है, कि यदि ठीक रूप में और ठीक समय पर इस शरीर को ब्रह्मचर्य का खाद मिलता है, और ब्रह्मचर्य न

संकल्प प्रारम्भ में ही जाग उठता है, तो जीवन की सुन्दर और हरी-भरी खेती उसमें लहलहाने लगती है। यदि दुर्भाग्य से ऐसा न हुआ, तो क्षय की बीमारी आ घेरती है। क्षय के भयंकर रोग से मनुष्य के जीवन की मूल शक्ति नष्ट हो जाती है।

एक नौजवान मुझे मिले। देखने में ठीक थे, किन्तु, *हताश और निराश!* उन्होंने कहा- मेरी हड्डियाँ इतनी कमजोर हैं, कि प्रति दिन खिरती रहती हैं! उस नौजवान के इन शब्दों को ध्यान में रख कर मैंने सोचा—यह इसके माता-पिता की भूल है। वे अपने जीवन को नियंत्रण में नहीं रख सके और उसका कुपरिणाम इस प्रकार उन की सन्तति को भोगना पड़ रहा है।

जब मैं शिमला गया, तो रास्ते में एक गाँव मिला—'धर्मपुरा।' वहाँ क्षय रोग का एक अस्पताल है। उसमें इधर के ही एक भाई बीमार पड़े थे। खबर मिली, कि वे दर्शन करना चाहते हैं। हम वहाँ गए, तो देखा कि सैकड़ों-ही आदमी वहाँ मौजूद हैं। विविध प्रकार की टी० बी० के शिकार! मालूम हुआ, कि कोई-कोई तो चार-चार पाँच-पाँच वर्ष से वहाँ पड़े हैं। इस प्रकार उधर घर बर्बाद हो रहा है, और इधर वे मौत की घड़ियाँ गिन रहे हैं।

एक भाई ने बतलाया—यहाँ तो मैं ठीक हो जाता हूँ, किन्तु घर पहुँच कर फिर बीमार हो जाता हूँ। बस, यहाँ और वहाँ भटकने में ही मेरी जिन्दगी कट रही है।

बात यह है, कि अस्पताल में रहकर शरीर कुछ ठीक बना, तो घर गए। वहाँ जीवन में संयम नहीं रहा, बुरी आदतों के शिकार हो गए। बस, अस्पताल में तैयारी हुई थी, वह घर में बर्बाद हो गई, शरीर फिर गलने लगा और फिर धर्मपुरा पहुँचे।

मैंने सोचा—यह हमारे देश के नौजवान हैं। इनकी उठती हुई जिन्दगियाँ, क्या धर्मपुरा और घर की ही दौड़ लगाने को हैं? इसी दौड़ में इनका जीवन समाप्त होने को है?

इसीलिए जैन-धर्म ने और दूसरे धर्मों ने भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात कही है, कि इस शरीर को यों ही कोई साधारण चीज मत समझो। इस शरीर को न तो भोग की आग में झोंको और न विवेकशून्य *अन्ध-तपस्या की ही आग में झुलसाओ।* जो तपस्या शास्त्र और शक्ति की सीमा से बढ़कर है, और जो केवल शरीर को मारने के ही उद्देश्य से की जाती है, शरीर को बर्बाद करना ही जिसका प्रयोजन है, वह तपस्या अन्ध-तपस्या है। जो अति का मार्ग है, वह धर्म का मार्ग नहीं है। अति-भोग भी शरीर को गला देता है और मर्यादाहीन अति-तप भी शरीर को नष्ट कर देता है। अतएव शरीर को गला देने वाली कोई भी अति प्रवृत्ति या अति निवृत्ति लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर पाती। अपनी शक्ति को लक्ष्य में रख कर सर्वत्र सीमा निर्धारित करने की आवश्यकता है।

ऐसी राह पर चलो, कि जिससे शरीर इतना शक्तिशाली बन जाए, कि समय पर दुःखों और कष्टों को सहन किया जा सके। दुनियां भर के कष्ट आ पड़ने पर भी शरीर कार्य-क्षम बना रह सके, और साथ ही आत्मा भी इतनी बलवान् रहे, कि वह वासनाओं के कांटों में न उलझे, भोग में न गले।

आशय यह है, कि यदि शरीर का केन्द्र मजबूत रहेगा, तो आत्मा भी अपनी साधना में दृढ़ता के साथ तत्पर रह सकेगी। अतएव शरीर को मार कर आत्मा के कल्याण की बात न सोचो और न आत्मा को मार कर शरीर को ही भोगासक्त सुकुमार बनाओ।

यहाँ पर मुझे बुद्ध के जीवन की एक बात याद आ जाती है। बुद्ध साधना-काल में अपनी शारीरिक शक्ति से अधिक कठोर तपश्चरण में लगे रहे। शरीर क्षीण हो गया, इन्द्रियाँ क्षीण हो गईं, यहाँ तक कि स्मृति-चेतना भी विलुप्त होने लगी। कहा जाता है, इसी बीच वीणा बजाती हुई कुछ नर्तकी बालाएँ पास से गुजरीं। वीणावादन की कला के सम्बन्ध में, मुख्य नर्तकी ने दूसरी बाला से कहा कि "वीणा के तारों को न अधिक कसो और न अधिक ढीला रखो। वीणा-वादन के लिए तारों को मध्य की, बीच की स्थिति में रखना आवश्यक है।" इस पर बुद्ध के चिन्तन ने नया मोड़ लिया, कि साधना क्षेत्र में, मानव जीवन के लिए भी कुछ मर्यादा हैं और वह मर्यादा न अत्यन्त भोग की है और न अत्यन्त त्याग की है। वीणा तारों का वाद्य है, उसके तारों में ही स्वर झंकृत होता है। अस्तु, वीणा के तारों को यदि बिल्कुल ही तान दिया जाए और इतना कस दिया जाए, कि उनमें जरा-सी भी लचक न रहे, तो वीणा बज नहीं सकती। लचक नही रही है, तो वह बज भी नहीं सकती है। यदि उसके तारों को एक-दम ढीला छोड़ दिया जाए, तो भी वीणा बज नहीं सकती। उसमे से कोई भी स्वर नहीं निकलेगा। अगर वीणा को ठीक तरह बजाना है, तो तारों को कसना भी पड़ेगा और कसने के साथ उनमें लचक भी छोड़नी पड़ेगी। इस मध्य-स्थिति में जब तारों को छोड़ा जाता है, तब वीणा बजती है, उसमें से रागिनी झंकृति होती है।

जीवन का यही आदर्श है, कि साधना के द्वारा अपने मन के, इन्द्रियों के और शरीर के तारों को जब कसा जाए तब इतना ही कसा जाए, कि उनमें लचक बाकी रह जाए। लचक बनी रहेगी, तो जीवन के तार बेज सकेंगे, और धर्म की रागिनी उस में से पैदा हो सकेगी।

अगर जीवन को सर्वथा खुला छोड़ दिया गया, इन्द्रियों और मन को एक-दम ढीला कर दिया गया, तब भी जीवन के कर्तव्य की रागिनी ठीक तरह नहीं बजेगी। रावन ने इन्हें खुला छोड़ दिया था, तो वह सोलह हजार रानियाँ होने पर भी सीता को चुराने गया, और कहीं का न रहा।

दौड़ लगाना बुरा नहीं है, पर, कहीं रुकने की जगह भी तो बना लो। क्या बिना कहीं रुके दौड़ते ही चले जाओगे ? पूरी की पूरी जिन्दगी इधर-उधर की दौड़ में ही गरक कर देना चाहते हो ?

वास्तव में, ब्रह्मचर्य मनुष्य जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है, वह जीवन की सुन्दर खुराक है। यदि उसका यथोचित उपयोग न किया गया, तो जीवन भोगों में फँस जाएगा। आजकल जहाँ-तहाँ रोग-ग्रस्त शरीर दिखलाई देते हैं और घर-घर में बीमारों के बिस्तर लग रहे हैं, उसका एक प्रधान कारण शरीर का मजबूत न होना है और शरीर के मजबूत न होने का कारण ब्रह्मचर्य का परिपालन न करना ही है। भारत के इतिहास में ब्रह्मचर्य के जो उज्ज्वल और शानदार उदाहरण आए हैं, वे आज दिखलाई नहीं दे रहे हैं।

कहाँ है, आज भारतीय तरुणों के चेहरे पर वह चमक ? कहाँ गई वह भाल पर उद्भासित होने वाली आभा ? कहाँ चली गई, ललाट की वह ओजस्विता ? सभी कुछ तो वासना की आग में जल कर राख बन गया। आज नैसर्गिक सौन्दर्य के स्थान पर पाउडर और लैवेंडर आदि कृत्रिम साधनों द्वारा सुन्दरता पैदा करने का प्रयत्न किया जाता है। पर, क्या कभी मुर्दे का शृंगार उसकी शोभा बढ़ाने में समर्थ हो सकता है ?

ऊपर की लीपा-पोती से पैदा की हुई सुन्दरता, जीवन की सुन्दरता नहीं है। ऐसी कृत्रिम सुन्दरता का प्रदर्शन करके आप दूसरों को भ्रम में नहीं डाल सकते। हाँ, यह हो सकता है, कि आप स्वयं ही भ्रम में पड़ जाएँ। कुछ भी हो, यह निश्चित है, कि उससे कुछ बनने वाला नहीं है। न आपका कुछ बनेगा, और न दूसरों का ही।

कल्पना करो, कि एक वृक्ष सूख रहा है। इस स्थिति में यदि कोई भी रंगरेज या चित्रकार उसमें वसन्त लाना चाहे, तो वह सुन्दर रंग पोत कर उस में वसन्त नहीं ला सकेगा। उसके निष्प्राण सूखे पत्तों पर रंग पोत देने से वसन्त नहीं आने का। वसन्त तो तब आएगा, जब वृक्ष के अन्दर की प्राणशक्ति में हरियाली होगी। उस समय एक भी पत्ते पर रंग लगाने की आवश्यकता नहीं होगी। वह हरा-भरा वृक्ष अपने आप ही अपनी सजीवता के लक्षण प्रकट कर देगा।

इसी प्रकार रंग पोत लेने से जीवन में वसन्त का आगमन नहीं हो सकता। वसन्त तो जीवन-सत्ता के मूलाधार से प्रस्फुटित होता है। जीवन-शक्ति में से ही वसन्त फूटता है :

जीवन में असली रंग ब्रह्मचर्य का है, किन्तु वह नष्ट हो रहा है और देश के हजारों नौजवान, जवानी का दिखावा करने के लिए अपने चेहरे पर रंग पोतने लगे

है। रंग पोतने से क्या होता है ? यदि चेहरे पर चमक और दमक लानी है, ओज और तेज लाना है, जीवन को सत्त्व-मय बनाना है, क्षमता-शाली बनाना है और मन को सशक्त बनाना है, और जीवन को सफल एवं कृतार्थ करना है, तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो। ब्रह्मचर्य की उपासना से ही इस जन्म मे और जन्मान्तर में आपका कल्याण हो सकेगा।

ब्यावर
७-११-५०

●

आदमी को दूसरों के लिए नहीं, अपितु अपने लिए ही भला आदमी बनना चाहिए। क्योंकि भला बने रहने से आदमी को अपने अन्दर में अखण्ड-आनन्द की उपलब्धि होती है।

भलाई क्या है ? भलाई का अर्थ है—विनम्रता, प्रामाणिकता, शील और सौजन्य !

अगर, आदमी बिना किसी भय के सहज भाव से भला आदमी बन जाए, तो उसे अपना दिल साफ मालूम होगा, सामवाब खुशी होगी, वह संसार में हर कहीं स्वतंत्रता से सांस ले सकेगा, और हर आदमी से प्रसन्नतापूर्वक अपनी आंख मिला सकेगा !

ज्योतिर्मय जीवन

मनुष्य को जो जीवन मिला है, यह जो इतना सुन्दर शरीर मिला है, उसका उद्देश्य क्या है ? यदि उसका उद्देश्य केवल भोगों में लिप्त रहना है, और संसार की वासनाओं में रचपच कर जीवन को नष्ट कर देना है, तो फिर मनुष्य जीवन की पशु-जीवन से विशेषता क्या है ? फिर मानव-जीवन की महत्ता और महिमा के गीत क्यों गाए गए हैं ? सांसारिक वासनाओं की पूर्ति तो पशु-पक्षी भी किया करते हैं। और तो क्या, कीट-पतंग तक भी वासना-पूर्ति में लगे हैं।

मनुष्य का अनमोल जीवन इस वासना की पूर्ति के लिए नहीं है। यदि कोई मनुष्य, वासना-पूर्ति में ही अपने जीवन को व्यय करता है, तो उसके लिए हमारे आचार्यों ने कहा है, कि वह मूढ़ है। किसी व्यक्ति को चिन्ता-मणि रत्न मिल गया। वह उसके द्वारा अपनी सब इच्छाएँ पूरी कर सकता है, परन्तु ऐसा न करके अगर वह उससे कई दिनों की सड़ी-गली गाजर-मूली खरीदता है, और इस प्रकार चिन्ता-मणि रत्न को गाजर-मूली के बदले में दे देता है, तो क्या उसे मूढ़ नहीं कहा जाएगा ? क्या उसने चिन्ता-मणिरत्न की वास्तविक प्रतिष्ठा की है ? गाजर-मूली खरीदना चिन्ता-मणि रत्न का काम नहीं है। उसका उपयोग है, मन के संकल्पों को पूरा करना, अपने उद्देश्य को पूरा करना।

मानव-जीवन भी चिन्तामणि रत्न के समान है। मानव-जीवन के द्वारा लौकिक और लोकोत्तर सभी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। हम जितना ऊँचा उठना चाहें, उठ सकते हैं। इस जीवन के द्वारा हम सभी लौकिक सुख और समृद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं, और आध्यात्मिक जीवन की समस्त ऊँचाइयाँ भी प्राप्त कर सकते हैं। इस जीवन को हम ऐसा शानदार जीवन बना सकते हैं, कि हमें यहाँ भी आनन्द और जन्मान्तर में भी आनन्द। ऐसे महान् जीवन को जो विषय-वासना में खर्च कर देते हैं, उनके लिए आचार्य कहते हैं, कि वे उस कोटि के मनुष्य हैं, जो गाजर-मूली के लिए चिन्ता-मणि रत्न को दे डालते हैं। जिस प्रकार चिन्ता-मणि देकर गाजर-मूली

लेना और उनसे पेट भर लेना बुद्धिमत्ता नही है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन पाकर विषय-वासना में लिप्त रहना भी बुद्धिमत्ता नही है ।

मनुष्य का यह महान् जीवन ब्रह्मचर्य की आधार-शिला पर ही टिका हुआ है । ब्रह्मचर्य ही शरीर को सशक्त और जीवन को शक्ति-सम्पन्न बनाता है । सबल जीवन वाला मनुष्य गृहस्थ-जीवन में भी मजबूत बन कर अपनी यात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है, और यदि वह साधु-जीवन प्राप्त करेगा तो उसको भी श्रेष्ठ बनाएगा । उसे जहाँ भी खड़ा कर दोगे, उसमें से शक्ति का प्रचण्ड झरना बहेगा और उसे जो भी कर्त्तव्य सौंप दोगे, वह अपने प्राणों को छोड़ने के लिए भले तैयार रहे, मगर निर्दिष्ट कर्त्तव्य को नही छोड़ेगा । अपने कर्त्तव्य से कभी-भी विमुख नहीं होगा ।

विचारों में बल ब्रह्मचर्य की साधना से ही आता है । एक मन ऐसा होता है कि जिसमें गंदे विचार उठा करते हैं । जो मन रात-दिन वासना की गन्दगी में भटका करता है, तो उसमें से सुगन्ध आएगी या दुर्गन्ध आएगी ? गन्दा मन जहाँ भी रहेगा, गन्दगी ही पैदा करेगा । परिवार में भी गन्दगी पैदा करेगा और समाज में भी गन्दगी पैदा करेगा । निर्बल तथा दूषित मन की दुर्गन्ध बाहर जरूर आएगी । जो स्वयं दूषित है, वह दूसरो को भी दूषित बनाता है ।

शुद्ध-साधना का सिंह-द्वार ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्य के द्वारा ही मन में पवित्रता आती है । मन जितना ही पवित्र होगा, स्वच्छ और साफ होगा, उतना ही सोचने का ढंग भी साफ होगा और कर्त्तव्य को अदा करने की प्रेरणा भी उतनी ही बलवती होगी । वह जीवन संसार में भी महान् होगा और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी महान् बनेगा । यदि ऐसा न हुआ, और मन मे दुर्विचार भरे रहे तो वह कुत्ते की भाँति भटक कर समाप्त हो जायगा ।

इसलिए एक आचार्य ने कहा है—मनुष्य का अर्थ है—'मन ।' 'मानसं विद्धि मानुषम ।' मनुष्य क्या है ? जैसा मन, वैसा मनुष्य ! अच्छा मन अच्छी मनुष्यता का निर्माण करता है, और बुरा मन बुरी मनुष्यता का ! ब्रह्मचर्य निर्मल मन की धारा है, और अब्रह्मचर्य मलिन मन की धारा ।

मानव-मन का सबसे बड़ा दोष है, अब्रह्मचर्य ! और वह है अनैतिक विकार और वासना । कोई साधु है या गृहस्थ है, यदि वह अच्छा खाना खाता है, और खाने में उसकी रुचि है, तो यह भी दोष तो है, पर यह दोष निभ सकता है । इस समस्या को हल किया जा सकता है । अच्छा वस्त्र पहनने की बुद्धि होती है, तो इसका भी निभाव हो सकता है । और भी जीवन की छोटी-मोटी बातें निभ सकती हैं । किन्तु अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी दोष इतना बड़ा दोष है कि उसके लिए क्षमा नहीं किया जा सकता ।

एक वैदिक ऋषि ने शुभ संकल्पों के लिए प्रार्थना की है—

'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।'

भगवान के चरणों में प्रार्थना की गई है—प्रभो, मुझे और कोई चाह नहीं है। मुझे धन की, परिवार की, संसार में प्रतिष्ठा की और इज्जत की कामना नहीं है। यह सब चीजें तो एक किनारे से आती हैं और दूसरे किनारे चली जाती हैं। अतएव वे प्राप्त हों तो क्या, और न प्राप्त हों, तो भी क्या ? मेरी तो एक मात्र अभिलाषा यही है, कि मेरा मन पवित्र बने, मेरे विचारों में निर्मलता हो, मेरे संकल्प सदा पवित्र बने रहें।

धन आया, वैभव मिला, परन्तु यदि विचार पवित्र न हुए, तो वही धन नरक की ओर घसीट कर ले जाएगा। सम्पत्ति प्राप्त हुई, इतनी कि सोने की नगरी बस गई, किन्तु उसके साथ यदि मन में पवित्रता न आई, तो वह सम्पत्ति इकट्ठी होकर क्या करेगी ? वह तो जीवन को और भी अधिक बर्बाद करने वाली साबित होगी।

भारत के इतिहास में दो सोने की नगरियों का वर्णन आया है—लंका और द्वारिका का। समूचे भारत के इतिहास की पृष्ठभूमि पर केवल इन दो ही सोने की नगरियों का उल्लेख मिलता है, और दोनों का आखिरी परिणाम भी संसार के सामने है। सोने की लंका का अन्त में क्या हुआ ? सभी जानते हैं, वह राख का ढेर बन गई। उसका समस्त वैभव मिट्टी में मिल गया। लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, आज तक जो अपमान और घृणा का भाव राक्षस जाति और रावण के नाम पर बरस रहा है, उसकी दूसरी मिसाल मिलना कठिन है। आज तक भी उसे इज्जत और प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई है।

दूसरी सोने की नगरी द्वारिका थी। कहते हैं, बड़ी शानदार और विशाल थी। वह बारह योजन की लम्बी और नौ योजन की चौड़ी थी। उसमें बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली धनकुबेर और बड़े-बड़े वीर योद्धा निवास करते थे। सब कुछ था, पर उसका भी अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? अन्त में तो वह भी राख के ढेर के रूप में ही परिवर्तित हो गई।

संसार का असाधारण वैभव पाकर भी राक्षस जाति और यादव जाति क्यों बर्बाद हो गई ? दोनों सोने की नगरियाँ थीं, और दोनों के स्वामी सोचते थे, कि हम जितने ही भारी और ऊँचे सोने के सिंहासन पर बैठेंगे, संसार में उतनी ही अधिक हमारी इज्जत होगी। पर, उस सोने की चमक में वे अपने आपको भूल गए। सम्पत्ति के मद में वे जीवन को बनाने की कला को भूल गए। एक ओर रावण का विशाल साम्राज्य इसी भूल का शिकार हो कर नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तो दूसरी ओर यादवों के असंयममय जीवन ने द्वारिका को आग में झोंक दिया। एक को पर-स्त्री-लम्पटता ले डूबी और दूसरी को शराब के नशे ने नष्ट कर दिया।

अभिप्राय यह है, कि सांसारिक इज्जत और प्रतिष्ठा कितनी ही क्यों न प्राप्त कर लो, धन कितना ही क्यों न बढ़ा लो, किन्तु अगर नैतिक बल प्राप्त नहीं होता है, तो आत्मिक-शक्ति भी नहीं प्राप्त हो सकती। बुद्धि चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो जाए, यदि विचारों में पवित्रता नहीं आती है, तो संसार में सुख और शान्ति की आशा नहीं की जा सकती।

हमारे लिए सब से बड़ा भूत हमारे बुरे विचारों का ही है। जब तक उससे पिंड न छूट जाए, शान्ति नही मिलेगी। कुत्सित विचारों का भयंकर विष जब तक हमारे दिल और दिमाग में भरा रहेगा,, तब तक अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य की निर्मल साधनाएँ जीवन में नहीं पनप सकेंगी।

एक राजा हाथी पर चढ़ कर जा रहा था। हजारों आदमी उसके साथ थे। जुलूस निकल रहा था। उधर एक शराबी लड़खड़ाता हुआ, राजा की सवारी के सामने आया। उसकी निगाह हाथी पर पड़ी, तो उसने राजा से कहा—"यह भैंस का पाड़ा कितने में बेचता है ?" राजा ने सुना तो पास बैठे अपने मंत्री से कहा—"यह क्या बक रहा है ? मेरे हाथी को भैंस का पाड़ा कहता है। और मोल पूछ कर मेरा अपमान कर रहा है।"

राजा को आवेश में देखकर मन्त्री ने कहा—"महाराज, यह नहीं कह रहा है, कोई और ही कह रहा है। आप इस पर नाराज क्यों होते हैं ?"

राजा ने तमक कर कहा—"तुम क्या नहीं सुन रहे हो ? यही तो कह रहा है। और कौन है, कहने वाला यहाँ पर ?"

मन्त्री ने तुरन्त ही उस शराबी को पकड़वा कर कारागार में डाल दिया।

दूसरे दिन जब वह व्यक्ति राज-दरबार में महाराज के सम्मुख लाया गया, तब शराब का नशा उतर चुका था और वह अपनी ठीक दशा में था। महाराज ने उससे पूछा—"पाड़ा कितने में खरीदोगे ?"

वह बोला—"अन्नदाता, जीवन की भीख मिले तो निवेदन करूँ। आप मेरे प्रभु हैं, मैं आप का दास हूँ।"

राजा ने कहा—"जो कहना है, जरूर कहो।"

उसने कहा—"महाराज, पाड़ा खरीदने वाला सौदागर तो चला गया। मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। आप मुझे क्षमा करें।"

मन्त्री ने शराबी की इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"अन्नदाता, अगर यह स्वयं खरीदने वाला होता, तो कल की तरह आज भी खरीदता, मगर आज

'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।'

भगवान के चरणों में प्रार्थना की गई है—प्रभो, मुझे और कोई चाह नहीं है। मुझे धन की, परिवार की, संसार में प्रतिष्ठा की और इज्जत की कामना नहीं है। यह सब चीजें तो एक किनारे से आती हैं और दूसरे किनारे चली जाती हैं। अतएव वे प्राप्त हों तो क्या, और न प्राप्त हों, तो भी क्या ? मेरी तो एक मात्र अभिलाषा यही है, कि मेरा मन पवित्र बने, मेरे विचारों में निर्मलता हो, मेरे संकल्प सदा पवित्र बने रहें।

धन आया, वैभव मिला, परन्तु यदि विचार पवित्र न हुए, तो वही धन नरक की ओर घसीट कर ले जाएगा। सम्पत्ति प्राप्त हुई, इतनी कि सोने की नगरी बस गई, किन्तु उसके साथ यदि मन में पवित्रता न आई, तो वह सम्पत्ति इकट्ठी होकर क्या करेगी ? वह तो जीवन को और भी अधिक बर्बाद करने वाली साबित होगी।

भारत के इतिहास में दो सोने की नगरियों का वर्णन आया है—लंका और द्वारिका का। समूचे भारत के इतिहास की पृष्ठभूमि पर केवल इन दो ही सोने की नगरियों का उल्लेख मिलता है, और दोनों का आखिरी परिणाम भी संसार के सामने है। सोने की लंका का अन्त में क्या हुआ ? सभी जानते हैं, वह राख का ढेर बन गई। उसका समस्त वैभव मिट्टी में मिल गया। लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी, आज तक जो अपमान और घृणा का भाव राक्षस जाति और रावण के नाम पर बरस रहा है, उसकी दूसरी मिसाल मिलना कठिन है। आज तक भी उसे इज्जत और प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई है।

दूसरी सोने की नगरी द्वारिका थी। कहते हैं, बड़ी शानदार और विशाल थी। वह बारह योजन की लम्बी और नौ योजन की चौड़ी थी। उसमें बड़े-बड़े सम्पत्तिशाली धनकुबेर और बड़े-बड़े वीर योद्धा निवास करते थे। सब कुछ था, पर उसका भी अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? अन्त में तो वह भी राख के ढेर के रूप में ही परिवर्तित हो गई।

संसार का असाधारण वैभव पाकर भी राक्षस जाति और यादव जाति क्यों बर्बाद हो गई ? दोनों सोने की नगरियाँ थीं, और दोनों के स्वामी सोचते थे, कि हम जितने ही भारी और ऊँचे सोने के सिंहासन पर बैठेंगे, संसार में उतनी ही अधिक हमारी इज्जत होगी। पर, उस सोने की चमक में वे अपने आपको भूल गए। सम्पत्ति के मद में वे जीवन को बनाने की कला को भूल गए। एक ओर रावण का विशाल साम्राज्य इसी भूल का शिकार हो कर नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तो दूसरी ओर यादवों के असंयममय जीवन ने द्वारिका को आग में झोंक दिया। एक को पर-स्त्री-लम्पटता ले डूबी और दूसरी को शराब के नशे ने नष्ट कर दिया।

अभिप्राय यह है, कि सांसारिक इज्जत और प्रतिष्ठा कितनी ही क्यों न प्राप्त कर लो, धन कितना ही क्यों न बढ़ा लो, किन्तु अगर नैतिक बल प्राप्त नहीं होता है, तो आत्मिक-शक्ति भी नहीं प्राप्त हो सकती। बुद्धि चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो जाए, यदि विचारों में पवित्रता नहीं आती है, तो संसार में सुख और शान्ति की आशा नहीं की जा सकती।

हमारे लिए सब से बड़ा भूत हमारे बुरे विचारों का ही है। जब तक उससे पिंड न छूट जाए, शान्ति नहीं मिलेगी। कुत्सित विचारों का भयंकर विष जब तक हमारे दिल और दिमाग में भरा रहेगा, तब तक अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य की निर्मल साधनाएँ जीवन में नहीं पनप सकेंगी।

एक राजा हाथी पर चढ़ कर जा रहा था। हजारों आदमी उसके साथ थे। जुलूस निकल रहा था। उधर एक शराबी लड़खड़ाता हुआ, राजा की सवारी के सामने आया। उसकी निगाह हाथी पर पड़ी, तो उसने राजा से कहा—"यह भैंस का पाड़ा कितने में बेचता है?" राजा ने सुना तो पास बैठे अपने मंत्री से कहा—"यह क्या बक रहा है? मेरे हाथी को भैंस का पाड़ा कहता है। और मोल पूछ कर मेरा अपमान कर रहा है।"

राजा को आवेश में देखकर मन्त्री ने कहा—"महाराज, यह नहीं कह रहा है, कोई और ही कह रहा है। आप इस पर नाराज क्यों होते हैं?"

राजा ने तमक कर कहा—"तुम क्या नहीं सुन रहे हो? यही तो कह रहा है। और कौन है, कहने वाला यहाँ पर?"

मन्त्री ने तुरन्त ही उस शराबी को पकड़वा कर कारागार में डाल दिया।

दूसरे दिन जब वह व्यक्ति राज-दरबार में महाराज के सम्मुख लाया गया, तब शराब का नशा उतर चुका था और वह अपनी ठीक दशा में था। महाराज ने उससे पूछा—"पाड़ा कितने में खरीदोगे?"

वह बोला—"अन्नदाता, जीवन की भीख मिले तो निवेदन करूँ। आप मेरे प्रभु हैं, मैं आप का दास हूँ।"

राजा ने कहा—"जो कहना है, जरूर कहो।"

उसने कहा—"महाराज, पाड़ा खरीदने वाला सौदागर तो चला गया। मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। आप मुझे क्षमा करें।"

मन्त्री ने शराबी की इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"अन्नदाता, अगर यह स्वयं खरीदने वाला होता, तो कल की तरह आज भी खरीदता, मगर आज

पीछे-पीछे दौड़ रहा है, उसकी जिन्दगी भटकने के लिए ही है। इधर-उधर से जो भी हवाएँ आएँगी, उसे भटकाएँगी। बस, साधक की जिन्दगी भटकने में ही रह जाएगी और साधना का अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकेगी।

साधना का मूल रूप फैलने में नहीं है, किन्तु जड़ के मजबूत बनने में है। जैसे जड़ की मजबूती न होने के कारण काई का टुकड़ा स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार साधना कितनी ही क्यों न फैल जाए, जड़ की मजबूती के अभाव में उसमें गहराई नहीं आ सकती और इसी कारण उसमें स्थिरता भी नहीं आ सकती।

जैसे हाथी अंकुश के द्वारा बस में कर लिया जाता है, वैसे ही राजीमती की वाणी ने भी अंकुश का काम किया, और जो साधक भटक रहा था, वह फिर अपनी अध्यात्म साधना में निलीन हो गया। फिर दोनों ने अपनी साधना को उस चरम सीमा पर पहुँचाया, कि अन्त में परमात्म-तत्व में लीन हो गए।'

इतिहास की इस महत्वपूर्ण घटना में एक साधक का जीवन भूल की राह पर जा रहा था, दुर्भाग्य से यदि दूसरा जीवन भी वही भूल कर बैठता, तो फिर दोनों की आत्मा को संसार में भटकना पड़ता और दोनों का जीवन ऐसे अन्धकार में विलीन हो जाता कि, शायद जन्म-जन्मान्तर में भी प्रकाश की किरण न मिल पाती।

इसी प्रकार सीता का जीवन ग्यारह लाख वर्षों के बाद भी आज हमारे सामने प्रकाश-स्तम्भ बना हुआ है, हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। आज भी कोटि-कोटि नर-नारी सीता की पूजा करते हैं। क्या इस कारण, कि वह राजा की बेटी थी? नहीं! तो क्या इसलिए, कि वह राजा की पत्नी थी? इसलिए भी नहीं। संसार में असंख्य राजकुमारियाँ और रानियाँ आईं और चली गईं। आज कौन उन सब के नाम जानता है? इतिहास के पृष्ठों पर उनका नाम नहीं चढ़ा है। किन्तु सीता के नाम का उल्लेख हमारे शास्त्रों ने गौरव के साथ किया है। स्वयं इतिहास ने भी उस पवित्र नाम को अपने पृष्ठों में स्थान देकर महत्व प्राप्त किया है। इतना ही नहीं, वह पवित्र नाम भारत के जन-जन के मन पर आज भी अंकित है!

सीता के सामने एक ओर दुनियाँ भर के प्रलोभन खड़े थे, और दूसरी ओर रावण जैसा शक्तिशाली दैत्य मौत की तलवार लेकर खड़ा था। मगर न प्रलोभन ही और न तलवार ही, उसके मन को डिगा सकी। वह अपनी साधना के पथ से अणु-मात्र भी विचलित नहीं हुई।

हम सोचते हैं कि संसार में मनुष्य कहीं भी हो, सुख में हो अथवा दुःख में हो, एकान्त में हो या हजारों के बीच में हो, अगर कोई मनुष्य की रक्षा कर सकता है, तो वह है उसका अन्तरंग चरित्र-बल ही। बस, आन्तरिक चरित्र-बल ही जीवन को दृढ़ अविचल और पवित्र बनाए रखता है। इस रूप में मनुष्य की जो मानसिक निर्मल

प्रवृत्ति है, वही जीवन में बहुमूल्य साधना है। सुकुमारी सीता के इसी चरित्र-बल के समक्ष रावण भी परास्त हो गया।

राजर्षि नमि ने एक बार अपनी सेनाओं को आदेश देते हुए एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। उन्होंने कहा—"जब तुम दूसरे देश में प्रवेश करोगे, और विजेता बन कर जाओगे, तब वहाँ का वैभव और भोग-विलास की सामग्री तुम्हारे सामने होगी। सैनिक के हाथ में शक्ति रहती है और वह उसे अन्धा कर देती है। किन्तु वहां का धन—वैभव तुम्हारे लिए नहीं होना चाहिए। तुम्हारे अन्दर इतना प्रबल चरित्र-बल होना चाहिए कि तुम वहाँ की एक भी वस्तु न छू सको। उस देश की सुन्दरी स्त्रियाँ तुम्हारी माताएँ और बहिनें होनी चाहिएँ।"

सैनिक युद्ध में लड़ता है, संहार करता है, प्रलय मचा देता है, और खून की नदियाँ बहा देता है। किन्तु जो सेनाएँ नैतिक बल पर क़ायम रहती हैं, वे जहाँ भी जाती हैं, न धन को लूटने का प्रयत्न करती हैं, और न माता-बहिनों की इज्जत छीनने की ही कोशिश करती हैं। वे जहाँ भी जाती हैं, जनता के मानस को जीत लेती हैं, उनके हृदय-पटल पर अपने उच्च चरित्र की छाप लगा देती हैं। मनुष्य के चरित्र में अमित शक्ति होती है।

सैनिकों के जीवन जैसा ही हर गृहस्थ का जीवन होना चाहिए। गृहस्थ में यदि नैतिक बल है, तो जब वह घर में रहता है, तब भी इज्जत और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और जब नाते-रिश्तेदारों में जाता है, तब भी आदर पाता है। जिसमें नैतिक बल है, लाखों का ढेर भी उसके लिए राख का ढेर है। उसके लिए अप्सरा जैसी सुन्दरी से सुन्दरी रमणियाँ भी माताएँ और बहिनें हैं।

दूकानदार में भी चरित्र-बल होना चाहिए। दूकान पर माताएँ और बहिनें आती हैं, और दिन भर आने-जाने का ठाठ लगा रहता है। किन्तु दूकानदार का शील-सौजन्य अगर अमृतमय है, उसकी दृष्टि में सात्विकता है, तो यह इतनी बड़ी प्रामाणिकता है, कि संसार में उसके लिए किसी चीज की कमी नहीं होगी। अभिप्राय यह है, कि कोई कहीं भी रहे और आजीविका के लिए कुछ भी करे, मगर उसमें चरित्र-बल हो, तो उसका जीवन स्पृहणीय बन जाएगा। सदाचार का प्रभाव अमिट होता है।

चौरानवे वर्ष की उम्र में एक बड़े साहित्यकार अभी इस दुनियाँ से गए हैं। उनका नाम था—जार्ज बर्नार्ड शॉ। वह अपने युग के, दुनियाँ के सबसे बड़े विचारक माने गए हैं। वे यूरोप में, जहाँ चारों ओर भोग और वासना का वातावरण है, रहे, किन्तु उन्होंने अपने जीवन में कभी वासना के गलत रूप को स्थान नहीं दिया। उन्होंने कभी शराब नहीं छुई। उन्होंने अपना ऐसा ऊँचा चरित्र-बल कायम किया, कि संसार की स्त्रियों के लिए उनके जीवन में सदा सर्वदा पवित्र-भाव का झरना ही बहता रहा।

चौरानवे वर्ष की ढलती-गिरती उम्र में भी उनकी क़लम सुन्दर विचार देती रही। इतना ही नहीं, जब वे गलत परम्पराओं की आलोचना करते, तब प्रतिक्रियावादी तलवार से उतने नहीं डरते थे, जितने कि उनकी कलम से डरते। यह ब्रह्मचर्य का ही अपार बल था। नैतिक बल ने उनके मस्तिष्क को इतना प्रवाह-शील बना दिया था, कि अन्त तक उनके जीवन में चिन्तन की स्वच्छ-साथ ही वेगवती धारा बहती रही।

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं,जिनका प्रारम्भिक जीवन तो चिन्तन और विचारों से भरा-पूरा रहता है, मगर जीवन के कुछ वर्ष बाद ही वह सूखे हो जाते हैं। उनकी दशा ऐसी हो जाती है, कि अपने कारोबार चलाने के लिए और धर्म के काम को आगे बढ़ाने के लिए भी उनमें सूझ-बूझ नहीं रहती। उनकी बुद्धि ठस हो जाती है। इसका कारण क्या है? अन्दर में बुद्धि का जो झरना बह रहा था, वह क्यों सूख गया? आप गहराई से सोचेंगे-समझेंगे, तो मालूम होगा कि अपवित्र और गंदे विचारों ने ही पवित्र बुद्धि के झरने को सोख लिया है। दूषित विचारों का प्रभाव बुरा होता है।

भारतीय साहित्य में व्यास के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है। महर्षि व्यास जब महाभारत रचने की तैयारी करने लगे, तब लिखने वाला कोई नहीं मिला। लेखकों ने कहा, कि आपकी वाणी के प्रवाह को हम भला कैसे वहन कर सकेंगे? आखिर लेखक की शोध में सब ओर घूमने के बाद व्यास गणेश जी के पास पहुँचे और उनसे बोले—"तुम्हीं लिख दो न, हमारा यह महाभारत।" गणेशजी ने उत्तर में कहा—"मैं लिख तो दूँगा, लेकिन तुम बूढ़े बहुत हो गए हो। तुम्हारे अन्दर अब क्या रक्खा है, जो मैं लिखूंगा? बुढ़ापे में लिखाने की बात कह रहे हो, किन्तु तुम्हारी बुद्धि का झरना तो अब सूख चुका है। अब तो जो भी थोड़ा-बहुत लिखाना चाहते हो, उसे तो जिसे कह दोगे, वही लिख देगा। यदि मुझसे ही लिखाना है, तो मेरी एक शर्त है। यदि एक शब्द बोलोगे और एक घन्टे सोचोगे, तो हमारी-तुम्हारी नहीं पटेगी। मैं तो निरन्तर लिखूँगा, और जहाँ एक बार भी आपका बोलना बन्द हुआ, कि वहाँ मेरा लिखना भी बिलकुल बन्द हो जाएगा। मैं आपकी व्यर्थ की सोचा-साची में अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं कर सकता।"

व्यास बोले—"भले ही मैं बुड्ढा हो गया हूँ, फिर भी मैं बिना रुके हुए तुम्हें लिखाता जाऊँगा।"

गणेशजी ने बात पक्की करने के लिए फिर कहा—"यदि एक बार भी कहीं रुक गए, तो फिर मैं स्पष्ट कहता हूँ, एक अक्षर भी आगे नहीं लिखूँगा।"

व्यास—"तुम्हारी शर्त मुझे स्वीकार है। किन्तु मेरी भी एक शर्त है, कि मैं जो कुछ भी लिखाऊं, तुम भी उसका अर्थ समझ कर लिखना। यों ही सूने दिमाग से न लिखते जाना।"

गणेशजी—"मैं तो सब समझ लूँगा। मैं विद्या का देवता जो हूँ। आपके श्लोकों का अर्थ समझना मेरे लिए क्या बड़ी बात है!"

कहते हैं, आखिर, व्यासजी लिखाने और गणेशजी लिखने बैठ गए। व्यासजी के विचारों का ऐसा प्रवाह बहना शुरू हुआ, कि गणेशजी ने कुछ देर तो समझ-समझ कर लिखा, परन्तु आगे क़लम चलाना कठिन हो गया और बिना सोचे-समझे यों ही लिखना शुरू कर दिया। लेखन आरम्भ करते समय आँखों में जो चमक थी, वह फीकी पड़ गई और जो उल्लास था, वह भी ढीला पड़ गया।

व्यासजी ने ताड़ लिया, कि गणेश का मस्तिष्क काम नहीं कर रहा है। अस्तु परीक्षा के लिए उन्होंने कुछ ऐसे श्लोक बोले, कि जिनका अर्थ समझने के लिए कुछ अधिक सोच-विचार करना पड़े। गणेशजी लिखे जा रहे थे। व्यासजी ने बीच में टोक कर कहा—"जरा अर्थ तो करो, क्या लिखा है?"

गणेशजी झुँझला कर बोले—"संभालो अपनी पोथी, तुम्हारे पास विचार नहीं रहे हैं, तभी तो मुझे बीच में रोकते हो।"

व्यासजी ने जरा मुस्करा कर कहा—"सो तो ठीक, किन्तु अर्थ तो बताओ, क्या लिखा है?"

आखिर गणेशजी ने अपनी पराजय स्वीकार करते हुए कहा कि—"अब से तुम्हारी-हमारी शर्त खत्म हो गई। अब तुम भी शान्त मन से बोलो और मैं भी शान्त मन से लिखूँगा।"

अभिप्राय यह है, कि मनुष्य का अपना जो चिन्तन है और मनुष्य के अपने मन में जो विचार धाराएं आ रही हैं, उनके पीछे साधना होती है। जहाँ नैतिक बल होता है वहीं पर मनोबल होता है। ऐसा मनुष्य जहाँ-कहीं भी अपने सिद्धान्त के लिए तन कर खड़ा हो जाता है। इधर-उधर की दुनियाँ के, कितने ही धक्के क्यों न लगें, वह मैदान से नहीं हटता है। वह अपने जीवन की सन्ध्या के अन्तिम काल में भी मध्याह्न के सूर्य की भाँति चमकता और दमकता रहता है। अपने जीवन की उज्ज्वल-रश्मियों से विश्व को उद्भासित करता रहता है। वह एक ऐसा आलोक-पुंज है, जो समय से पहले कभी नहीं बुझता। दुनियाँ की कोई भी हवा तूफान और आँधी उस पर असर नहीं कर सकती।

भगवान् महावीर के जीवन को ही देखो न! केवल-ज्ञान तो उन्हें बाद में हुआ था, किन्तु पहले अपने चरित्र-बल से ही उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक कठिन साधना की थी। वह भी उस जवानी में, जो प्रायः संसार की गलियों में भटकती है। वे सुन्दर सोने के महलों को, प्रिय परिवार को और भोगोपभोग की विपुल सामग्री को ठुकरा कर अध्यात्म-साधना के लिए चल देते हैं। स्वर्ग की देवांगनाएं डिगाने के लिये आती

हैं, भोग-विलास के फन्दे फैलाए जाते हैं, आपत्तियों और संकटों के पहाड़ भी उनके सामने खड़े किए जाते हैं, किन्तु आप देखते हैं, कि एक क्षणके लिए भी वे अपनी साधना से नहीं डिगे। वे निरन्तर अपने साधनामय जीवन की धारा में ही बहते रहे। उनके अन्दर यह जो अप्रतिहत नैतिक बल आया, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आया था। जिसे नैतिक बल प्राप्त नही है, वह क्या भरी जवानी में इस प्रकार गृह-त्याग कर सकता है? अगर क्षणिक उत्तेजना के वश होकर कोई त्याग कर भी देता है, तो आगे चल कर वह कहीं-न-कहीं गड्ढे में गिर जाता है। वह त्याग-मार्ग पर स्थिर नहीं रह सकता।

साधक के मन में संसार को बदलने की जो पावन प्रेरणाएँ आती हैं, और जीवन में जो रोशनी चमकने लगती है, वह सिद्धान्त के बल पर ही आती है, चरित्र-बल ही से पैदा होती है।

आज आपकी क्या स्थिति है? आप आज बड़ी मुश्किल से रट-रटाकर एक चीज याद करते हैं, और कल उसे भूल जाते हैं। ऐसा मालूम पड़ता है, कि रेगिस्तान में कदम पड़ा है। इधर रेत में पैर का निशान बना, और उधर हवा का तेज झोंका आया नहीं, कि वह निशान मिटा नहीं। पैर उठाने में देर होती है, मगर निशान के मिटने में देर नहीं होती। शास्त्रों का चिन्तन चल रहा है, और हाथ में पोथियाँ हैं, किन्तु समय आने पर कोई भी विचार नहीं मिलता। स्मृतियाँ इतनी धुंधली हो जाती हैं, कि केवल अक्षर बांचने का काम रह जाता है। इसका प्रधान कारण यही है कि मस्तिष्क में विकारों का तेज प्रवाह बहता रहता है, और वह प्रवाह किसी दूसरे चिन्तन को ठहरने ही नहीं देता।

इस प्रकार के लोग अपने जीवन में क्या काम करेंगे? जिनकी स्मृति काम नहीं देती है, और जो जड़ की भांति अपना जीवन गुजार रहे हैं, उनसे संसार को क्या आशा हो सकती है?

इसके विपरीत जिसने ब्रह्मचर्य की साधना की है, और जो विचारों को पवित्र बनाए रख सकता है, उसके मस्तिष्क में यदि एक भी विचार पड़ जाता है, तो वह अमृत बन जाता है। समय आने पर अनायास ही वह स्मरण में भी आ जाता है। किसी भी ग्रन्थ को देखे, तीस-चालीस वर्ष हो जाते हैं, किन्तु उसकी छाया मस्तिष्क में ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। यह स्थिति हमें ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त होती है।

मनुष्य का मन जितना पवित्र होगा, उसमें उतने ही सुन्दर विचार आएँगे। किसी तालाब में पानी भरा है। किन्तु वह गन्दा है, उसमें मैल है और कीचड़ है। यदि उस पानी में झाँक कर आप देखेंगे, तो अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकेंगे। जिस

पानी के कण-कण में कीचड़ और मैल समाया हुआ है, उसमें आपका स्पष्ट प्रतिबिम्ब कैसे दिखाई दे सकता है ? हाँ, पानी यदि साफ और निर्मल है, किन्तु हवा के आघातों से उठने वाली हिलोरों के कारण चंचल हो रहा है, तो उसमें प्रतिबिम्ब तो दिखाई देगा, किन्तु डावाँडोल अवस्था में। पानी साफ-सुथरा भी होना चाहिए, और स्थिर भी होना चाहिए, तभी मनुष्य उसमें अपना मुख ज्यों-का-त्यों देख सकता है।

इसी प्रकार मनुष्य के जिस मन में विकार भरे हैं, वासनाएँ घुसी हैं, और इस कारण जो मन हर तरफ से मलिन बना हुआ है, उसमें आप सिद्धान्त और शास्त्र का कोई भी प्रतिबिम्ब नही देख सकेंगे। अगर मन में चंचलता है, तब भी ठीक-ठीक नहीं देख सकेंगे। मन स्वच्छ और स्थिर रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की साधना एक वह साधना है, जो हमारे जीवन के मैल को निकाल कर दूर कर देती है, और हमारे चिन्तन के ढंग को भी साफ कर देती है। वह मनुष्य को इतना महान् बना देती है कि कुछ पूछिए मत।

हमारे यहाँ मल्लवादी एक तेजस्वी आचार्य हो गए हैं। वह बचपन से ही गम्भीर और चिन्तनशील स्वभाव के थे। उनके बचपन की एक घटना है कि एक बार जब वह चिन्तन में लीन थे, तब उज्जैन के तत्कालीन सम्राट् की सवारी उधर होकर निकली। मन्त्री उन के साथ था और वह जैन था। राजा ने देख कर पूछा—"यह लड़का क्या कर रहा है ? यह तो तुम्हारा उपाश्रय जान पड़ता है। क्या यह भी साधु बनेगा ?"

मन्त्री ने कहा—"राजन्, बनेंगे नहीं, यह तो गुरू ही हैं।"

राजा को विस्मय हुआ। इतनी छोटी-सी उम्र मे गुरू !

राजा ने गुरुत्व की परीक्षा के लिए उस बाल-गुरू से संस्कृत भाषा में पूछा—'किं मिष्टम् ?' 'क्या मीठा है ?'

राजा का यह प्रश्न सुना, मगर बदले में बालमुनि ने राजा की ओर मुँह फेर कर भी नहीं देखा। अपने अध्ययन में लीन रहते हुए ही उसने उत्तर दिया—'दुग्धम्' 'दूध मीठा है।'

कहते हैं कि छह महीने के बाद फिर राजा की सवारी निकली और राजा ने देखा कि वह गुरू अब भी ज्यों-का-त्यों अध्ययन में लीन है। राजा को ध्यान आया, छह महीने पहले मैंने एक प्रश्न किया था। अब की बार राजा ने उसी पुराने प्रश्न से सम्बन्धित एक नया प्रश्न पूछा—'केन सह' ? 'किसके साथ ?'

प्रश्न सुन कर उस कुमार साधक ने, तरुणाई की ओर बढ़ते हुए उस बाल

योगी ने तत्काल यों ही सहसा उत्तर में कह दिया—'गुडेन सह'। 'दूध मीठा है, गुड़ के साथ।'

राजा ने ज्यों ही यह उत्तर सुना, वह हाथी से उतरा और बाल साधक के चरणों में गिर पड़ा। विस्मित और श्रद्धा भाव से उसने कहा—"मैंने छह महीने पहले पूछा था—"क्या मीठा है ?" आपने उत्तर दिया था—"दूध।" आज उससे आगे का प्रश्न पूछा, तो आपने बिना रुके एवं बिना विचार किए, तत्काल उसका उत्तर दे दिया कि गुड़ के साथ। मानों, छह महीने पहले का वह प्रश्न आपकी स्मृति में ऐसा ताजा है, कि जैसे अभी-अभी किया गया हो। महाभाग, आपकी साधना सचमुच ही अद्भुत है।"

वही तरुण साधक आगे चल कर, जैन संघ में सूर्य के समान चमका और उसका नाम मल्लवादी पड़ा। वह अपने समय का एक बहुत बड़ा वाद-महारथी हुआ तथा भारत के सुदूर प्रदेशों में घूम-घूम कर जैन-धर्म और दर्शन का उसने जय-घोष किया। उनके द्वारा विरचित ग्रन्थ इतने गम्भीर और तर्क-पूर्ण हैं, कि उनकी एक-एक पंक्ति पर उनके विराट तथा गंभीर चिन्तन की छाप स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

जब इस स्थिति को सामने रख कर विचार करते हैं, तब अनायास ही प्रश्न उपस्थित हो जाता है, कि यह ज्योतिर्मय विचार कहाँ से आया ?

पूर्व जन्म के संस्कार तो होते ही हैं, पर उनके साथ-साथ इस जन्म के संस्कार भी कम प्रभाव-शाली नहीं होते। इस जन्म के संस्कारों की पवित्रता के बिना ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती।

जहाँ चरित्र-बल प्रबल होता है, और जिस जीवन में ब्रह्मचर्य का दीपक जग-मगाता रहता है, उसके मस्तिष्क में छह महीने तो क्या, हजारों वर्ष पुरानी स्मृतियाँ, ज्यों-की-त्यों ताजा बनी रहती हैं। ब्रह्मचारी का मस्तिष्क बड़ा ही उर्वर होता है, और संग्रह-शील भी होता है। मगर आज हम जिस ओर भी देखते हैं, भोग-विलास और विकार की ही काली घटाएँ दीख पड़ती हैं। लोगों का चरित्र-बल तीव्र गति से क्षीण हो रहा है। और यही कारण है, कि न योग्य सैनिक मिलते हैं, न अच्छे व्यापारी मिलते हैं, न अच्छे मालिक मिल रहे हैं और न अच्छे मजदूर ही मिल रहे हैं। आज न अच्छे गृहस्थ ही नजर आते हैं और न आदर्श साधु-संन्यासी ही नजर आते हैं। सब के सब फीके-फीके दिखाई देते हैं। अगर ब्रह्मचर्य की साधना की जाए तो यह स्थिति जल्दी ही बदल सकती है, और तब समाज में चमकते हुए मनुष्य नजर आएँगे।

आज हजारों-लाखों पढ़ने वाले नौजवान विद्यार्थी निस्तेज और रुग्ण शरीर का ढांचा लिए फिरते हैं। यदि जरा-सी कठिनाई आती है, तो रोने लगते हैं। उन्हें पद-

पद पर निराशा होती है। उनके जीवन में स्फूर्ति नहीं, उत्साह नहीं, आगे बढ़ने का जोश नहीं और मुसीबतों से टक्कर लेने का साहस नहीं ! यह सब चरित्र-बल के ही अभाव का परिणाम है। केवल ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा ही उनमें प्राण-शक्ति का संचार हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य ही साहस, शक्ति, उत्साह और प्राण-शक्ति का दाता है।

ब्यावर
८-११-५०

विचारोत्तेजक प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन के अभाव में विषम परिस्थितियों से हार मानकर बहुत से बहुमूल्य जीवन निरर्थक बनकर रह जाते हैं। परिस्थितियाँ बड़ी हैं या मनुष्य, दार्शनिकों ने इस प्रश्न को उलझा दिया है, मानव परिस्थितियों का गुलाम बन गया है ! मनुष्य को परिस्थितियों का दास नहीं, स्वामी बनना चाहिए। अपनी लगन, अध्यवसाय, साहस और कुशलता के बल पर जो प्रतिकूल परिस्थितियों को बदल कर आगे बढ़ जाते हैं, वे ही अन्त में सिद्धि एवं प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचते हैं।

प्रवचन | ६

विवाह और ब्रह्मचर्य

जीवन के उत्थान के दो मार्ग हैं। उनमें एक मार्ग ऐसा है, जिसे हम उत्कृष्ट कठोर मार्ग कह सकते हैं। उस मार्ग पर चलने वाले साधक को अपना सर्वस्व समर्पित करना पड़ता है, सब बन्धनों को तोड़ कर चलना पड़ता है। समग्र वासना का सर्वथा त्याग कर देना पड़ता है। चित्त से वासनाओं के भार को हटा कर जीवन को हल्का करने की ही विवेक बुद्धि वहाँ होती है। साधु को अपना जीवन इसी प्रकार बनाना होता है। यही कारण है कि प्रथम मार्ग के पथिक साधु का जीवन बहुत ही पवित्र और ऊँचा माना जाता है।

मगर इस जीवन के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रहनी चाहिए। इस प्रकार के जीवन का विकास अन्दर से होता है। यदि साधक की इस ओर की पर्याप्त तैयारी नहीं है, और अन्तर में वह ऊँचा नहीं उठा है, केवल ऊपर से उस पर त्याग का भार लाद दिया गया है, एवं त्यागी का वेष पहना दिया गया है, तो वह जीवन में बुरी तरह पिछड़ जाएगा, दब जाएगा। उसका जीवन अन्दर-ही-अन्दर सड़ने-गलने लगेगा, और एक दिन वह समाज के जीवन के लिए और स्वयं अपने जीवन के लिए भी अभिशाप बन जाएगा। वह त्यागी जीवन के गुरुतर भार को ढोने चलने में सर्वथा असमर्थ हो जाएगा, ठीक उसी प्रकार जैसे—

न हि वारण-पर्याणं वोढुं शक्तो वनाऽयुजः।

—हाथी के पलान को गधा नहीं ढो सकता।

साधु जीवन का पथ एक प्रशस्त और पवित्र पथ है। इस मार्ग के समान पवित्र दूसरा कोई पथ नहीं है। साधु को भगवान् का स्वरूप माना गया है। साधु के दर्शन भगवान् के दर्शन माने गए हैं—

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थ-भूता हि साधवः।

—साधु का दर्शन पुण्यमय है; क्योंकि साधु साक्षात् तीर्थ-स्वरूप हैं।

यह सब बातें कुछ साधु को ऊँचा बताने के लिए नही गढ़ ली गई हैं, और यह भी नहीं है, कि समाज मे पूजनीय बनने के लिए बड़ी-बड़ी बातें कह डाली गई हों, और कह दिया हो, कि साधु भगवत्-स्वरूप हो कर विचरण करता है। यह सब बातें भगवान् महावीर के दर्शन में कही हुई हैं। भगवान् महावीर ने जो नियम लिए थे. वही नियम साधु लेते हैं। यदि कुछ अन्तर है, तो केवल यही, कि भगवान् अपने जीवन-लक्ष्य की अन्तिम यात्रा की मंजिल को पार कर गए हैं, और साधु अभी पार कर रहे हैं। यह भी सम्भव है, कि कोई उस मंजिल को पार न भी कर सके। किन्तु व्रत-प्रत्याख्यान करने का जो ढंग है, और संसार से अलग होने का जो ढग है, आध्यात्मिक क्षेत्र मे चलने का जो तरीका है, उसमे किसी प्रकार का अन्तर नही है। आज से पच्चीस-सौ वर्ष पहले भगवान् ने जो नियम लिए थे, वही नियम आज भी साधु लेते हैं। इस रूप मे जीवन का जो शाश्वत सिद्धान्त है, उसमें काल किसी प्रकार का व्यवधान या विभेद नही डाल सका है और परिस्थितियाँ कोई परिवर्तन नहीं ला सकी हैं। अतएव जैसे तब, वैसे ही अब भी, साधु का जीवन उतना ही पवित्र है और उसके आगे बढ़ने की यह राह आज भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

स्मरण रखना चाहिए, कि यह केवल साधु-वेष की महिमा नहीं है। यह महिमा साधु के सैद्धान्तिक जीवन की महिमा है। हमारे यहाँ साधुत्व को महत्त्व दिया गया है, मात्र साधु-वेष को नहीं।

इसीलिए कहा गया है, कि साधु के जीवन को अपनाने के लिए अन्दर की तैयारी होनी चाहिए।

गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

साधु की पूजा उसके स्थूल शरीर की पूजा नहीं है और उसके बाह्य वेष की भी पूजा नहीं है। साधु की पूजा तो उसमें विद्यमान सद्गुणों की पूजा है। गुणों को विकसित करने के लिए ही साधु को इस कठिन-कठोर मार्ग पर चलना पड़ता है। इस में साधक की अवस्था-विशेष बाधक नही बनती, और न सहायक ही। कोई छोटी अवस्था का साधु हो ही नही सकता, ऐसा भी नही है; और न यही है, कि किसी की उम्र पक गई हो, तो वह पूजा के योग्य इसीलिए बन जाए। गुण ही पूजा के स्थान हैं, और यह राह बड़ी कठिन है। इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है।

एक आदमी पैदल चलता है, दूसरा घोड़ा-गाड़ी पर चलता है, तीसरा रेल से चलता है और चौथा हवाई जहाज से चलता है। चलते तो सभी हैं, मगर उनकी चाल क्रमशः तीव्र से तीव्रतर होती है। मगर जिस क्रम से वह तीव्र होती जाती है, उसी क्रम से उस में खतरा भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। गति की तीव्रता में

ज़रा-सा चूके, तनिक भी असावधानी हुई कि बस फिर कहीं के न रहे। फिर तो पतन का गहरा गर्त तैयार है।

कोई भी व्यक्ति जब संसार से निकल कर साधु-जीवन में आना चाहता है, तब उससे यही कहा जाता है, कि क्या तुमको ठीक तरह साधु-जीवन के महत्व के दर्शन हो गए हैं, क्या तुम साधु-जीवन के दायित्व को भली-भाँति समझ चुके हो, और उस भार को उठाने के लिए अपने में योग्य क्षमता का अनुभव करते हो ? यदि तैयारी है, तब तो इस राह पर आओ, अन्यथा इसे अंगीकार करने से पहले तुम गृहस्थ-जीवन में सुधरने का प्रयत्न करो। जब साधु-जीवन के योग्य बन जाओ, तब इस मार्ग पर आ सकते हो।

जीवन के उत्थान की एक राह है और वह है, साधु-जीवन की, जिसे मैंने कठोर राह कहा है। और, दूसरी राह है गृहस्थ-जीवन की। इस दूसरी राह में उतना खतरा नहीं हैं, और न उतना अधिक मन को क़ाबू में रखने की ही बात है। किन्तु गृहस्थ का जीवन, एक ऐसा जीवन भी नहीं है, कि वह अपने स्थान पर जम कर ही खड़ा हो, गति नहीं कर रहा हो, अथवा संसार की ओर ही यात्रा कर रहा हो। गृहस्थ का जीवन भी मोक्ष की ओर ही जा रहा है। इसलिए भगवान् महावीर ने दो प्रकार के धर्म बतलाए हैं—

दुविहे धम्मे-अगार-धम्मे य अणगार-धम्मे य।

—स्थानांग-सूत्र

धर्म दो प्रकार का है—गृहस्थ-धर्म और साधु-धर्म।

गृहस्थ के कर्त्तव्य को भी भगवान् ने मोक्ष का ही मार्ग माना है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार साधु के कर्त्तव्य को। इसीलिए भगवान् ने गृहस्थ के जीवन के साथ भी धर्म शब्द का ही प्रयोग किया है। गृहस्थ-जीवन की साधना भी धर्म है।

अगर गृहस्थ-जीवन में भी मनुष्य के क़दम ठीक-ठीक पड़ते हैं, मन ठीक-ठीक विचारता है और सोचता है। मनुष्य संसार में रहता हुआ और संसार के काम करता हुआ भी उनमें अनुचित आसक्ति और वासना नहीं रखता है, अपने मन को इधर-उधर घुमाकर भी अन्ततः उसी शुद्ध केन्द्र की ओर लगाए रहता है, तथा दूसरी तरफ़ गृहस्थ की जो जिम्मेदारियाँ आती हैं, उनको भी निभाता चलता है, तो भले ही उस मनुष्य के क़दम तेज़ न हों, और भले ही वह ढीले क़दमों से चल रहा हो, किन्तु उसका एक-एक क़दम मोक्ष की ओर ही बढ़ रहा है। राजस्थान के एक अध्यात्म-साधक ने कहा है—

रे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब-प्रतिपाल।
अन्तर से न्यारा रहे, ज्यों धाय खिलावे बाल॥

यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। जवाबदारी लेना, उत्तरदायित्व लेना

तथा समाज, राष्ट्र और कुटुम्ब-परिवार का भार अपने कन्धों पर उठा लेना और उसे पूरा भी करना, फिर भी अन्दर से उसमें आसक्ति या मोह नहीं होना, यह एक बहुत बड़ी बात है। इसीलिए गृहस्थ-जीवन के साथ भी भगवान् ने धर्म शब्द को जोड़ा है। सद्गृहस्थ कुटुम्ब का पालन करता है, मगर उसमें मर्यादाहीन आसक्ति नहीं रखता। यही इस गृहस्थ-जीवन की महत्ता है। यहाँ कुटुम्ब का अर्थ है—'वसुधैव कुटुम्बकम्'। यदि समाज और देश को कुटुम्ब से न्यारा कहा जाता, तो उनमें भेद-भाव की कल्पना आ जाती। मगर सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के अन्तर में ऐसे भेद-भाव के लिए स्थान कहाँ? उसके लिए तो जैसा कुटुम्ब-परिवार है, वैसा ही देश और समाज है, और जैसा देश और समाज है वैसा ही कुटुम्ब-परिवार है। समदृष्टि की इस विश्वाद्वैत सम्बन्धी विशाल कल्पना को कवि ने एकमात्र 'कुटुम्ब' शब्द का प्रयोग करके बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त कर दिया है।

सम्यग्दृष्टि जीव समाज, राष्ट्र और कुटुम्ब के उत्तरदायित्व का परिपालन करता है। इस रूप में उसके कार्य करने का ढंग कुछ ऐसा होता है, कि समाज के अन्य साधारण व्यक्ति यह समझते हैं, कि वह संसार के मोह में बुरी तरह से आसक्त है। किन्तु उसके अन्दर की जो भावना है, वह प्रतिक्षण उसे अध्यात्म-मार्ग की ओर ही ले जा रही है।

धाय किसी के बच्चे को लेकर पालती है, समय पर दूध पिलाती है और यह भी ध्यान रखती है कि बच्चे को सर्दी-गरमी न लगने पाए। उसके साथ माता का हृदय जोड़ लेती है, और इसी कारण कभी-कभी ऐसा होता है, कि बच्चा धाय को ही अपनी माँ समझ लेता है, और अपनी स्वयं की माता को भूल जाता है। यदि आप पुराने इतिहास को टटोलेंगे, तो देखेंगे, कि इस धाय नामधारी माताओं ने भी अपने जीवन में बड़े भारी उत्सर्ग किए हैं, इन्किलाब किए हैं। पन्ना धाय का उज्ज्वल उदाहरण आज भी भारत के जन-जन की जीभ पर नाचता है। आप जानते हैं, कि उदयसिंह मेवाड़ के महाराणा थे। वह जब शैशव-काल में धाय की निगरानी में पालने में झूल रहे थे, तब उस समय बनवीर नंगी तलवार लेकर उस मासूम बच्चे की हत्या करने आया और पन्ना से पूछने लगा—"उदयसिंह कहाँ है?"

पन्ना के सामने बड़ा ही विकट प्रश्न आ गया और बड़ी ही ज़बरदस्त जवाबदारी आ गई। उसने अपनी जवाबदारी की पूर्ति के लिए राजस्थान के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है, जो युग-युग तक मानव के मन में कर्त्तव्य की पवित्र ज्योति जगाता रहेगा। भूले भटके राही को राह दिखाता रहेगा।

उस राजपूती युग की माताएँ किस उत्कृष्ट रूप में होंगी, और कितनी उदात्त होंगी, जब कि एक नौकरानी के रूप में काम करने वाली धाय भी अपने उत्तरदायित्व

को निभाने के लिए, एक अन्य माता के बच्चे की रक्षा करने के लिए, अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो जाती है।

"उदयसिंह कहाँ है ?" यह विकट प्रश्न ज्यों ही उसके सामने आया, वह प्रश्न की गम्भीरता को तत्काल समझ गई। यदि वह उदयसिंह की ओर उँगली उठाती है, तो मेवाड़ को अपने भावी अधिनायक से हाथ धोना पड़ता है। और, यदि उदयसिंह के बदले वह अपने स्वयं के बच्चे की ओर इशारा करती है, तो उसके कलेजे के टुकड़े हो जाते हैं। मगर उसने तो मेवाड़ के अधिनायक की रक्षा का भार अपने सिर पर लिया था। यदि वह उदयसिंह की ओर उँगली करे, तो कैसे करे ? क्या वह अपने उत्तरदायित्व से विमुख हो जाए ? नहीं, पन्ना धाय ऐसा नहीं करेगी। वह प्राणोत्सर्ग से भी महान् उत्सर्ग करेगी। पर, अपने कर्त्तव्य और दायित्व से पीछे नहीं हटेगी। उसने पल भर भी विलम्ब किए बिना दो टूक फैसला कर दिया।

यदि आपके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता, तो फैसला करने में कई दिन, हफ्ते और महीने निकल जाते, और शायद वर्ष एवं जीवन भी निकल जाता, फिर भी फैसला न हो पाता। आपके सामने जरा-सा दान देने, या तपस्या करने का प्रश्न आता है, तो उसका फैसला करने के लिए भी महीनों निकल जाते हैं। कभी इससे पूछेंगे और कभी उससे पूछेंगे। यह देश के लिए दुर्भाग्य की बात है, कि मनुष्य को समागत समस्याओं का झट-पट फैसला करना नहीं आता है।

हमारे पास जब कोई युवक गृहस्थ आता है, और वह गृहस्थ से साधु बनना चाहता है, तब उसे घूमते-घूमते वर्ष के वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। न वह गृहस्थ बन कर ही रह सकता है, न साधु बन कर ही। गृहस्थ जीवन में जो कड़क आनी चाहिए, वह भी उसके जीवन में नही आ पाती। कमाने-खाने से भी वह चला जाता है। और दूसरी तरफ साधु जीवन में भी वह प्रवेश नहीं कर पाता है, कि जिस से उसकी ही महक ले सके।

साधक-जीवन में कठिनाइयाँ तो हैं, किन्तु उनको कदम जमा कर तय किया जा सकता है। दोनों ही ओर काँटों की राह पर चलना है, फूलों की राह पर नहीं चलना है। मगर वह फैसला ही नहीं कर पाते, कि किस राह पर चलें, और किस राह पर न चलें ? यदि वह गृहस्थ बन जाते, तो बहुत अच्छे गृहस्थ बनते, और साधु बनते, तो भी अच्छे साधु बनते। मगर फैसला ही नहीं हो सका। उधर फैसला न हो सका, इधर यौवन की गरमी निकल गई, और जीवन निस्तेज हो गया। उसके बाद वे गिरते-पड़ते मन से साधु के या गृहस्थ के जीवन में आए भी, तो कुछ नहीं कर सके।

फैसला करना एक टेढ़ा काम है। तत्काल फैसला न कर सकने के कारण ही

बड़े-बड़े साम्राज्य भी खाक में मिल जाते हैं। बड़े-बड़े सेनापति भी चट-पट फैसला न कर सकने के कारण गड़बड़ में पड़ जाते हैं, और सेनाएँ मर मिटती हैं। अतएव समय पर जीवन में दो टूक फैसला करना बड़ा मुश्किल काम है।

पन्ना धाय को कितना समय मिला फैसला करने के लिए? एक घड़ी भी नही मिली। मुझे तो देर भी लगी, इस की भूमिका बांधने मे, किन्तु पन्ना को उचित निर्णय करने में कुछ भी देर नही लगी। उसने शीघ्र ही धाय के कर्त्तव्य को अच्छी तरह समझ लिया। एक ओर उसका प्राणों से भी प्यारा अपना बच्चा था और दूसरी ओर उदयसिंह था। उसे एक ओर अपने प्राणप्रिय बालक की और दूसरी ओर अपने कर्त्तव्य की याद आई। परन्तु उसने अपने व्यक्तिगत मोह की अपेक्षा अपने कर्त्तव्य को महान् समझा और अपने बच्चे की ओर उँगली उठा दी।

पन्ना का फैसला करना था, और उँगली उठाना था, कि बनवीर की चमकती हुई खूनी तलवार बिजली की तरह कौंधती है और उसके बच्चे के दो टुकड़े हो जाते हैं। मगर गजब का दिल पाया था उस वीर पन्ना धाय ने। वह रोती नही है, वह बनवीर को मालूम नही होने देती, कि उसका अपना बच्चा कत्ल हो गया है।

धाय का कर्त्तव्य कितना ऊँचा है। वहाँ दो टूक फैसला है, कि धाय एक सेविका धाय है और बच्चा उसका अपना बच्चा नहीं है। अन्दर-ही-अन्दर वह इस तथ्य को समझती है, कि मेरा काम उत्तरदायित्व निभाने का है, आखिर बच्चा तो दूसरों का ही है।

हाँ, तो उस सन्त ने, जीवन के पारखी सन्त ने, जिसके जीवन में एक-रसता आ चुकी थी, बड़ा ही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया, कि समदृष्टि जीव कुटुम्ब का प्रतिपालन करता है और सारा उत्तरदायित्व भी निभाता है, फिर भी अन्दर में उससे अलग रहता है और समझता है, कि मैं और हूँ, और यह और है। उसके अन्तरतर में विवेक की एक ज्योति जलती रहती है। जैसे धाय दूसरे के बच्चे को पालती-पोसती है और उस बच्चे के लिए सब कुछ करती है, पन्ना जैसी धाय तो अपने बच्चे को भी होम देती है, मगर तब भी उसके अन्दर भेद-विज्ञान की यह ज्योति जलती ही रहती है, कि मैं, मैं हूँ और यह, यह है। यही गृहस्थ का आदर्श जीवन है। जीवन की यह राह भी बड़ी कठोर है। समुद्र में रहना है, परन्तु उसमें डूबना नहीं है। कीचड़ में रहकर भी कीचड़ मे लथ-पथ नही होना है।

इन दोनो राहों से अलग एक तीसरी राह और है, पर, वह मोक्ष की राह नही है। उस राह के राहगीर वे हैं, जो अन्दर में वासना का संसार बसाए हुए हैं, किन्तु ऊपर से श्रमण या श्रावक बने हुए हैं, उनका एक कदम भी मोक्ष की ओर नहीं पड़ रहा है। वे साधु हैं, फिर भी संसार की ओर भागे जा रहे हैं, और यदि

गृहस्थ हैं, तो भी संसार की ओर भागे जा रहे हैं। उनके मन में भेद-विज्ञान का दार्शनिक स्वरूप नहीं जाग रहा है। जीवन के महत्त्वपूर्ण पार्ट को अदा करने के लिए जितना विवेक होना चाहिए, वह नहीं उपलब्ध हो रहा है। वे जीवन को संसार के भोग-विलासों में ले आते हैं और बाहर में साधु या श्रावक बन कर भटका करते हैं।

एक यात्री होता है, जिसके क़दम अपने लक्ष्य पर पड़ते हैं। और दूसरा होता है, भटकने वाला। वह सब ओर से परेशान तेज कदमों से दौड़ता-भागता हुआ दिखाई देता है, किन्तु फिर भी वह यात्री नहीं है।

पुरानी लोक-गाथाओं में आता है, कि एक आदमी चला जा रहा है, चला क्या जा रहा है, दौड़ रहा है और पसीने में तर हो रहा है, बुरी तरह हाँफ रहा है। कभी किधर दौड़ता है, कभी किधर। कभी आगे की ओर भागता है, कभी पीछे की ओर। जिज्ञासु मालूम करना चाहता है, कि वह क्या कर रहा है? आगे-पीछे क्यों दौड़ रहा है? और पूछता है कि—"तुम कहाँ से आ रहे हो?"

भागने वाला कहता है—

"यह तो मालूम नहीं कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ!"

"अच्छा जा कहाँ रहे हो?"

"यह भी मालूम नही है!"

"यह दौड़ क्यों लग रही है?"

"यह भी नहीं मालूम है!"

"अच्छा भाई, तुम हो कौन?"

"यह भी पता नहीं है!"

जिस पागल की यह दशा है, वह हजार जन्म ले ले, तो भी क्या अपनी मंजिल को पा सकेगा? क्या अपने लक्ष्य पर पहुँच सकेगा? यह तो भटकना है, लक्ष्य की ओर गति करना नहीं है। लक्ष्य की ओर गति भटकने वाले की नहीं, यात्री की होती है।

इस प्रकार साधु के रूप में या गृहस्थ के रूप में जो भटकते हैं, वे जीवन की यात्रा को तय करने के लिए क़दम नहीं बढ़ा रहे हैं। वे केवल भटक रहे हैं। उनकी गति को भटकना कहते है, यात्रा करना नहीं कहते।

आनन्द श्रावक ने कौन-सी राह पकड़ी? उसने साधु-जीवन की राह नहीं पकड़ी। उसने अपने आपको परख लिया, कि मेरी क्या योग्यता है, और मैं कितना एवं कैसा रास्ता तय कर सकता हूँ? इसके लिए उसने अपने को जांचा, अपनी दुर्बलताओं का पता लगाया और अपनी बलवती शक्तियों का भी पता लगाया। उसने निर्णय कर लिया, कि मैं साधु-जीवन की उस ऊँची भूमिका पर चलने के योग्य नहीं हूँ। फिर भी मुझे जीवन की राह तय करनी है। क़दम-क़दम चलूँगा तब भी

यात्रा पूरी कर लूँगा। किन्तु जो चलता नहीं और बैठा रहता है या भटकता ही रहता है, वह तो कभी भी यात्रा पूरी कर ही नहीं सकता।

इस प्रकार आनन्द के जीवन की भूमिका, बीच की भूमिका है। वह आप लोगों (श्रावकों) की भूमिका है। यदि आप आनन्द के जीवन से अपने जीवन की तुलना करने लगें, तो आकाश और पाताल का अन्तर मालूम पड़ेगा, फिर भी उसकी और आपकी राह तो एक ही है। उसको जो दर्जा मिला था, वही दर्जा सिद्धान्ततः आपको भी मिला है।

आनन्द श्रावक ने ब्रह्मचर्य की दृष्टि से जो नियम लिया था, उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम नही कहा जा सकता। उसने सोचा—"जब तक मैं गृहस्थावस्था में हूँ, तब तक मुझे दुर्बलताएँ घेरे हुए हैं। जब तक मैं अपनी पत्नी का जीवन-साथी बन कर रह रहा हूँ, तब तक कदम-कदम चल कर ही जीवन की राह तय कर सकता हूँ।" इसलिए उसने ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा तो ग्रहण की, मगर उसने पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा नही ली। उसने निश्चय किया कि आज से अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार की अन्य सभी स्त्रियों को मैं अपनी माता, बहिन और पुत्री समझूँगा।

अब जरा विचार कीजिए, इस प्रतिज्ञा से वासना का कितना जहर कम हो गया। जहर से भरा एक समुद्र है। उसमें से सारा जहर निकल जाए, और केवल एक बूँद जहर रह जाए, एक बूँद जहर रह तो अवश्य गया, मगर फिर भी यह स्थिति कितनी ऊँची है? इतनी ऊँची, कि उसने समस्त संसार में पवित्रता की लहर दौड़ा दी है। ऐसा व्यक्ति यदि अपने घर में रहता है, या नाते-रिश्तेदारों के घर जाता है तो पवित्र ही आँखें रखता है और उसके हृदय से सब स्त्रियों के प्रति मातृभाव और भगिनी-भाव का निर्मल झरना बहता रहता है। ऐसी हालत में वह संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक कहीं भी चला जाए, वह अपनी स्त्री के सिवाय संसार भर की स्त्रियों के प्रति एक ही—माता-बहिन एवं पुत्री की निर्मल दृष्टि रखेगा। इस प्रकार उसने कितना जहर त्याग दिया है। कितने पवित्र भाव अब उसके मन में आ गए हैं। एक तरह से उसके लिए सारी दुनियाँ ही बदल गई है।

इस दृष्टिकोण से अगर आप विचार करेंगे, तो आपको पता चलेगा कि, जैन धर्म की दृष्टि में विवाह क्या चीज है? जब कोई व्यक्ति गृहस्थ में रहता है, तब विवाह की समस्या उसके सामने रहती है। पर देखना है, कि जब वह विवाह के क्षेत्र में उतरता है, तब ब्रह्मचर्य की भूमिका से उतरता है या वासना की भूमिका से उतरता है? यह प्रश्न एक विकट प्रश्न है, और एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका समाधान प्राप्त करने के लिए अनेक गुत्थियों को सुलझाना पड़ता है और उनके सुलझाने में कभी-कभी बड़े-बड़े विचारक और दार्शनिक भी उलझ जाते हैं। शुभ अशुभ के द्वन्द्व में से कोई एक उचित निर्णय नहीं कर पाते।

एक बार दो दार्शनिक कहीं जा रहे थे। दोनों ने गुलाब का एक पौधा देखा। उनमें से एक ने कहा—"इस पौधे में कितने सुन्दर एवं महकते हुए फूल हैं।"

दूसरा बोला—"पर, देखो न काँटे कितने हैं इसमें? जरा से पौधे में इतने काँटे?"

गुलाब का पौधा सामने खड़ा है। उसमें सुगन्धित एवं सुन्दर फूल भी हैं और नुकीले काँटे भी हैं। किन्तु दो आदमी जब उसके पास पहुँचे, तब दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर जरूर पड़ गया। एक की दृष्टि फूलों की सुन्दरता और महक की ओर गई और दूसरे की दृष्टि, नुकीले काँटों की ओर गई। इसी दृष्टि-भेद को लेकर दोनों दार्शनिकों के बीच कुछ मतभेद हो गया।

इस प्रकार जब कोई भी द्वन्द्वात्मक वस्तु सामने आती है, तब विभिन्न विचारकों में उसको लेकर मतभेद हो जाया करता है। किसी की दृष्टि उस वस्तु के गुणों की ओर, तो किसी की दृष्टि उसके दोषों की ओर जाती है।

हम यह मालूम करना चाहते हैं, कि यदि कोई विवाह के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो वह ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रवेश करता है अथवा वासना की दृष्टि से प्रवेश करता है।

इस प्रश्न का उत्तर एकान्त में नहीं है। विवाह के क्षेत्र में दोनों चीजें हैं— वासना भी और ब्रह्मचर्य भी। इस प्रकार दोनों चीजों के होते हुए भी, देखना होगा कि वहाँ ब्रह्मचर्य का अंश अधिक है या वासना का? जब विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया है, तब क्या चीज अधिक है? यहाँ मैं उसकी बात कर रहा हूँ, जो समझदारी के साथ विवाह के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है। जो जीवन को समझ ही नहीं रहा है और फिर भी विवाह के बन्धन में पड़ गया है, उसकी बात मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

भगवान् ऋषभदेव ने सब से पहले विवाह के क्षेत्र में प्रवेश किया। उनसे पहले युगलियों का जमाना था और उस जमाने में कुछ और ही तरह का जीवन था। उस समय के विवाह, विवाह नहीं थे। उस समय जीवन के क्षेत्र में दो स्त्री-पुरुष साथी बनकर चलपडते थे। किन्तु सामाजिक संविधान के रूप में विवाह जैसी कोई बात उस युग में नहीं थी। अस्तु, जैन इतिहास की दृष्टि से, इस अवसर्पिणी काल में, भारतवर्ष में सर्वप्रथम ऋषभदेवजी का ही विवाह हुआ। उन्होंने कहा—"यदि तुम किसी को अपना संगी-साथी चुनना चाहते हो, चाहे स्त्री पुरुष को या पुरुष स्त्री को, तो उसे विवाह के रूपमें ही चुनना चाहिए। विवाह के अतिरिक्त दूसरे जो भी इस प्रकार के सम्बन्ध हैं उनमें नैतिकता नहीं है। प्रत्युत अनैतिकता है एवं व्यभिचार है।" यदि विवाह-सम्बन्ध की पवित्र ग्रंथि से बँधे हुए साथियों में, एक दूसरे के जीवन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने की बुद्धि है, वासना की पूर्ति के लिए नहीं, किन्तु जीवन की राह को तय

करने के लिए और गार्हस्थ्य जीवन की गाड़ी को ठीक तरह चलाने के लिए प्रेरणा है। पुरुष के सुख दुःख को स्त्री उठाए और स्त्री के सुख दुःख को पुरुष उठाए, इस रूप में एक दूसरे की जवाबदारी को निभाने के लिए अगर साथी चुना जाता है, तो वह न्याय-युक्त है। अन्यथा विवाह के अतिरिक्त जो भी स्पर्श-सम्बन्ध कायम होता है, उसमें अनैतिकता है। वहाँ व्यभिचार का भाव है।

विवाह शब्द का क्या अर्थ है? यह संस्कृत भाषा का शब्द है। 'वि' का अर्थ है—विशेष रूप से और 'वाह' का अर्थ है—वहन करना या ढोना। तो विशेष रूप से एक दूसरे के उत्तरदायित्व को वहन करना, उसकी रक्षा करना, विवाह कहलाता है। स्त्री, पुरुष के जीवन के सुख-दुःख एवं दायित्व को वहन करने की कोशिश करे, और पुरुष, स्त्री के सुख-दुःख को एवं जवाबदारी को वहन करने की कोशिश करे।

केवल वहन करना ही नहीं है, किन्तु विशेष रूप से वहन करना है, उठाना है, निभाना है और अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना है। इतना ही नहीं, अपने जीवन की आहुति देकर भी उसे वहन करना है।

पशु और पक्षी अपनी जीवन-यात्रा को तय कर रहे हैं, पर वहाँ विवाह जैसी कोई चीज नहीं है। उनकी वासना की लहर समुद्र की तरह लहराती है। किन्तु मनुष्य विवाह करके वासनाओं के उस लहराते हुए सागर को प्याले में बन्द कर देता है।

इस प्रकार जब भगवान् ऋषभदेव ने कर्मभूमि के आदि काल में विवाह करने की बात कही, तब जीवन की एक बहुत बड़ी अनैतिकता को दूर करने की बात कही। उन्होंने यह नहीं कहा, कि अगर किसी ने विवाह कर लिया, तो उसने कोई बड़ा पाप कर लिया। भगवान् ने तो इस रूप में गृहस्थ-जीवन का पवित्र मार्ग तय करना सिखलाया है।

मान लीजिए, किसी पहाड़ी के नीचे एक बांध बांध दिया गया है। उसमें वर्षा का पानी ठाठें मारने लगता है। यदि बांध उस पानी को पूरा-का-पूरा हजम कर सके, तो बांध की दीवारों के टूटने की नौबत न आए और इंजीनियर बांध बनाते समय पानी निकालने का जो मार्ग रख छोड़ता है, उसे भी खोलने की आवश्यकता न पड़े। किन्तु पानी जोरों से आ रहा है और उसकी सीमा नहीं रही है, बांध में समा नहीं रहा है, फिर भी यदि पानी के निकलने का मार्ग न खोला गया, तो बांध की दीवारें टूट जाएँगी, और उस समय निकला हुआ पानी का उच्छृङ्खल प्रवाह बाढ़ का रूप धारण कर लेगा, और वह हजारों मनुष्यों को—सैकड़ों गांवों को बहा देगा, बर्बाद कर देगा। अतएव इंजीनियर उस बांध के द्वार खोल देता है और ऐसा करने से नुकसान कम होता है। गांव बर्बाद होने से बच जाते हैं।

यदि इंजीनियर बांध के पानी को निकलने का मार्ग खोल देता है, तो वह कोई अपराध नहीं करता है। ऐसा करने के पीछे एक महान उद्देश्य होता है, और वह यह

है, कि बांध सारा-का-सारा टूट न जाए, धन-जन की हानि एवं क्षति न हो और भयानक बर्बादी होने का अवसर न आए।

यही बात हमारे मन के बांध की भी है। यदि किसी में ऐसी शक्ति आ गई है, कि वह पौराणिक गाथा के अनुसार अगस्त्य ऋषि बन कर सारे समुद्र को चुल्लू भर में पी जाए, तो वह समस्त वासनाओं को पी सकता है, हजम कर सकता है और वासनाओं के समुद्र का शोषण कर सकता है। शास्त्र की भाषा में वह व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है।

इस प्रकार समस्त वासनाओं को पचा जाने, हजम करने, क्षीण कर देने की जो साधना है, वही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। जिसमे वह महाशक्ति नहीं है, जो समस्त वासनाओं और विकारों को पचा नहीं सकता, उसके लिए विवाह के रूप में एक मार्ग रख छोड़ा गया है। सब ओर से ब्रह्मचर्य की अखण्ड दीवारें हैं, केवल एक ओर से, पति-पत्नी के रूप में विहित एवं नियत मार्ग से, वासना का पानी बह रहा है, तो संसार में कोई उपद्रव नहीं होता, कोई बर्बादी नहीं होती, सामाजिक मर्यादा स्वरूप बाँध के टूटने की नौबत भी नहीं आती, और जीवन की पवित्रता भी सुरक्षित रहती है।

भगवान् ऋषभदेव ने विकारों को पूर्णतया हजम करने की शक्ति न होने पर मन के बाँध में एक विवाह रूप-नाली रखने की बात कही है। और वह इस उद्देश्य से कही है, कि अपनी वासना को मनुष्य, पशु-पक्षी की तरह काम में न लाने लगे, ताकि मानव-समाज की जिन्दगी हैवानों की जिन्दगी बन जाए। इस तरह मूल रूप में, ब्रह्मचर्य की रक्षा का भाव विवाह के क्षेत्र में है।

यह मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि जिसने मानव जीवन के और ब्रह्मचर्य के महत्त्व को नहीं समझा है, उसकी बात अलग है। मैं उन हैवानों और पशुओं की बात नहीं कह रहा हूँ, जो मनुष्य की आकृति के हैं और मनुष्य की भाषा बोलते हैं और मनुष्य के ही समान भोजन पान आदि के अन्य व्यवहार करते हैं, फिर भी अन्तरंग में जिनमें मनुष्यता नहीं, हैवानियत है और जो कुत्तों की तरह गलियों में भटकते फिरते हैं। मैं जीवन के महत्त्व को समझने वाले उन लोगों की ही बात कहता हूँ जो ब्रह्मचर्य और विवाह की मर्यादा का भली भाँति ज्ञान रखते हैं।

मैंने शास्त्रों का जो चिन्तन और मनन किया है, वह मुझे यह कहने की इजाजत देता है, कि यदि विवाह ईमानदारी के साथ जवाबदारी को निभाने के लिए ग्रहण किया गया है, तो वह भी ब्रह्मचर्य की साधना का ही एक रूप है। विवाह कर लेने पर संसार भर के अन्य वासना-द्वार बन्द हो जाते हैं, और स्वस्त्री के रूप में केवल एक ही द्वार खुला रह जाता है। इस रूप में गम्भीर विचार करके जब विवाह स्वीकार किया जाता है, तभी विवाह की सार्थकता होती है। तभी वह साधना का रूप लेता है, अन्यथा नहीं।

ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में प्रवेश कर जाने वाले माता-पिता को भी अपनी सन्तति का विवाह करना पड़ता है। परन्तु शास्त्र में 'पर-विवाहकरण' नामक एक अतिचार आता है। इसका अभिप्राय यह है, कि अगर दूसरों का विवाह किया-कराया जाए, तो ब्रह्मचर्य की साधना मे अतिचार लगता है। एक समय ऐसा आया, कि इस अतिचार के डर से लोगों ने अपने पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना तक छोड़ दिया। इस प्रकार समाज में एक नया गड़-बड़ झाला पैदा हो गया। माता-पिता ने जब अपनी सन्तान के विवाह करने की जिम्मेदारी को भुला दिया और इस लिए समाज का वातावरण दूषित होने लगा, तो आचार्य हेमचन्द्र ने, उन लोगों को, जो गृहस्थ के रूप में जीवन यापन कर रहे थे, किन्तु अपनी सन्तान के विवाह की जवाबदारी को ढोने से इन्कार कर चुके थे, एक करारी फटकार बतलाई। वस्तुतः इससे ज्यादा भद्दा और कोई दृष्टिकोण नहीं हो सकता। यदि कोई अपने ब्रह्मचर्य के अतिचार से बचने के लिए अपने पुत्र और पुत्रियो के विवाह कर्म से अलग खड़ा हो गया है, फल-स्वरूप समाज में दूषित वातावरण पैदा हो गया है, अनैतिकता बढ़ रही है, तो इसका पाप किसको लग रहा है? जो उत्तरदायित्व को ग्रहण करके भी उसे पूरा नहीं कर रहे हैं, उनके सिवाय और कौन इस स्थिति के लिए उत्तरदायी होंगे?

जिसे सन्तान के प्रति कर्त्तव्यपालन की झंझट में नहीं पड़ना हो, उसे विवाह ही नहीं करना चाहिए, प्रत्युत पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। उसके लिए यही सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु जिसने विवाह किया है, और सन्तान को जन्म देकर माता या पिता होने का गौरव प्राप्त किया है, उसने सन्तान का उत्तरदायित्व भी अपने माथे पर ले लिया है। अब यदि वह उससे इन्कार करता है, तो अनीति का पोषण करता है।

हाँ, 'पर-विवाहकरण' अतिचार से बचने की इच्छा है, तो उसके मौलिक अर्थ में 'मैरिज ब्यूरो' मत खोलो, विवाह की एजेन्सी क़ायम मत करो और व्यर्थ ही बीच के घटक मत बनो। कुछ इससे ले लिया और कुछ उससे ले लिया और बेमेल विवाह करा दिया, यह जो विवाह कराने का धंधा है, यह ग़लत है और यह दोष है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि अपने पुत्रों या पुत्रियों का विवाह न किया जाए। जैनधर्म ऐसा पागल धर्म नहीं है, कि वह समाज से यह कहे कि उत्तरदायित्व को नहीं निभाना चाहिए और जीवन में किसी भी भ्रान्त मार्ग को अपना लेना चाहिए। जब-जब धर्म के विषय में ग़लतफ़हमियाँ हुई हैं, और ऐसी स्थितियाँ आई हैं, तब-तब धर्म बदनाम हुआ है।

अभिप्राय यह है कि जैनधर्म की दृष्टि में विवाह जीवन का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओं को सीमित करने का मार्ग है, पूर्ण संयम की ओर अग्रसर होने का

क़दम है और पाशविक जीवन में से निकल कर नीतिपूर्ण मर्यादित मानव-जीवन को अंगीकार करने का साधन है। जैनधर्म में विवाह के लिए जगह है, परन्तु पशु-पक्षियों की तरह भटकने के लिए जगह नहीं है। वेश्यागमन और पर-दार-सेवन के लिए कोई जगह नहीं है और इस रूप में जैनधर्म जन-चेतना के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

ब्यावर
११-११-५०

जीवन हंसी-खेल या आमोद-प्रमोद की वस्तु नहीं है और न जीवन भोग की ही वस्तु है। जीवन, मानवता के उच्च, उच्चतर एवं उच्चतम आदर्शों की सिद्धि के लिए किया जाने वाला कठोर श्रम है।

त्याग, अनवरत त्याग ही मानव जीवन का रहस्य पूर्ण अर्थ है। जीवन की अनेक-विध जटिल समस्याओं का समाधान है।

मनुष्य की चिरपोषित महत्वाकांक्षाएं और कल्पना तरंगें कितनी ही महान् एवं आकर्षक क्यों न हों, उनकी पूर्ति नहीं, अपितु कर्तव्य की पूर्ति ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। बिना अपने को उच्चतर कर्तव्यरूपी लौहशृंखला से आबद्ध किए, मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम मोड़ तक बिना किसी पतन के नहीं पहुंच सकता।

विराट-भावना

श्रावक आनन्द, भगवान् महावीर के चरण-कमलों में उपस्थित होकर आत्मिक आनन्द के मंगलमय द्वार को खोल रहा है। वह आत्मिक आनन्द प्रत्येक आत्मा में अव्यक्त रूप में रहता है। अतः कोई भी आत्मा उससे शून्य नहीं है। फिर भी वह ऐसी चीज है कि जितनी निकट है, उतनी ही दूर है। वह हृदय की धड़कन से भी अधिक समीप होकर इतनी दूर है कि अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी संसारी आत्मा उसके निकट नहीं पहुँच पाई है और उस निजानन्द को नहीं प्राप्त कर सकी है।

सच पूछो, तो हमारे अपने गलत विचार ही आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि में रुकावट डाल रहे हैं। मानव, उस आध्यात्मिक आनन्द को पाने के लिए एवं अन्दर में छिपे हुए असीम सहज आनन्द के लहराते हुए सागर में अवगाहन करने के लिए प्रयत्न करता है। किन्तु मिथ्या विचारों की रुकावट खड़ी हो जाती है और मानव भटक जाता है। जब तक विकारी विचारों की रुकावट को दूर न कर दिया जाए, इन टीलों को तोड़ न दिया जाए और गलत विचारों के रूप में सामने खड़े पहाड़ों को चकना-चूर न कर दिया जाए, तब तक उस आनन्द के सागर तक पहुँच नहीं हो सकती।

आनन्द, आनन्द की प्राप्ति के लिए ग़लत विचारों की दीवारों को तोड़ रहा है। उनमें पहली दीवार थी हिंसा की। एक तरफ मनुष्य है और दूसरी तरफ चैतन्य जगत है। जहाँ चैतन्य जगत है, वहाँ उसके साथ कोई-न कोई सम्बन्ध भी है। वह सम्बन्ध मानव ने हिंसा के द्वारा जोड़ा और यह समझा, कि हम दूसरों को अपने अधीन बना लें, ताकि उन से अपना मनचाहा काम कराया जा सके। दूसरे हमारे सामने सिर झुका कर चलें, और जो इस प्रकार न चलें, उन्हें कुचल दें और बर्बाद कर दें। इस रूप में मनुष्य ने आनन्द और शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा की।

पर मनुष्य की यह चेष्टा ग़लत विचार पर आश्रित थी। इस ग़लत विचार के

कारण वह संसार से सीधा स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ सका, खून बहाने-भर का ताल्लुक ही पैदा कर सका। उसके द्वारा दूसरों को आनन्द नहीं मिल सका, तो परिणाम-स्वरूप वह स्वयं भी आनन्द प्राप्त नहीं कर सका। किसी ने कहा है—

सुख दीयां सुख होत है,
दुख दीयां दुख होत।

इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए *भगवती-सूत्र* के पन्ने पलटने की आवश्यकता नहीं है, केवल जीवन के पन्ने पलटने की आवश्यकता है। जो दूसरों को सुख देने को चला, उसने स्वयं आनन्द प्राप्त कर लिया, किन्तु जो दूसरों को दुःख देने के लिए, उनका रक्त बहाने के लिए, चला तो वह बर्बाद हो गया। जहाँ दूसरों के यहाँ हाहाकार है और पड़ोसी के घर में आग लग रही है, वहाँ वह स्वयं कैसे अछूता रह सकता है ?

इस रूप में आज तक ग़लत विचारों की जो दीवारें खड़ी हैं, उनमें पहली दीवार हिंसा की है। हिंसा की दीवार उस आनन्द की प्राप्ति में बाधक है। अतएव आनन्द ने उसी को पहले-पहल तोड़ा और चैतन्य जगत के साथ प्रेम और शान्ति का सम्बन्ध जोड़ा। वह मानवता का सुखद रूप लेकर आगे बढ़ा, लोगों के आँसुओं के साथ अपने आँसू बहाने के लिए, और उनकी मुस्कराहट में अपनी मुस्कराहट जोड़ने के लिए। तभी आनन्द ने सच्चा आनन्द प्राप्त किया।

मनुष्य जब छल-कपट द्वारा दूसरों के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, तो उसे वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता है। संसार तो प्रतिध्वनि का कुँआ है। आप कुँए के पास खड़े होकर, उसके अन्दर की तरफ मुँह डाल कर जैसी ध्वनि निकालेंगे, वैसी ही ध्वनि आपको सुनाई देगी। गाली देंगे तो वापिस गाली ही सुनने को मिलेगी और यदि प्रेम का संगीत छेड़ेंगे, तो वही आपको भी सुनाई देगा। तो यह संसार भी ऐसा ही है। वाणी में जिन विचारों का रूप व्यक्त किया जाएगा, और जो दृष्टि बनाकर संसार के सामने खड़े हो जाओगे, उसकी प्रतिक्रिया ठीक उसी रूप में आपके सामने आएगी। जो धोखा और फरेब लेकर संसार के सामने खड़े होते हैं, उन्हें बदले में वही धोखा और फरेब मिलता है। जो संसार को आग में जलाना चाहेंगे, वे स्वयं भी उस आग की लपटों से झुलसे बिना नहीं बच सकेंगे, और जो स्नेह एवं प्रेम की निर्मल गंगा बहाएँगे, बदले में उन्हें वही स्नेह एवं प्रेम की गंगा बहती हुई मिलेगी।

एक व्यक्ति का संसार के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस दिशा में कुछ दार्शनिकों ने बतलाया है कि उसका सम्बन्ध प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्बी जैसा है। एक मनुष्य का अपने आस-पास के संसार पर प्रतिबिम्ब पड़ता है, और जैसा प्रतिबिम्ब वह अपना डालता है वैसे ही स्वरूप का दर्शन उसे होता है। मान लीजिए, आपके हाथ में

दर्पण है। आप उसमे अपना मुँह देखना चाहते हैं, तो मुँह को जैसी आकृति बना कर आप दर्पण के सामने खड़े होगे, वैसी ही अपनी आकृति आपको दर्पण में दिखाई देगी। मुख पर राक्षस जैसी भयंकरता लाकर देखेंगे तो राक्षस जैसा ही भयंकर रूप दिखाई देगा और देवता जैसा सौम्य रूप बनाकर देखेंगे, तो देवता जैसा ही भव्य रूप दिखाई देगा। दर्पण में जैसा भी रूप आप व्यक्त करेंगे, वैसा ही आपके सामने आजाएगा।

अगर आप दर्पण को दोष दें कि उसने मेरा विकृत रूप क्यो दिखाया? मेरा सुन्दर चेहरा क्यों नहीं दिखलाया? और यदि आप दर्पण पर गुस्सा करें तो गुस्सा करने से क्या होगा? आप उसे तोड़ दें, तो भी हल मिलने वाला नही है। यदि आप दर्पण मे अपना सौन्दर्य देखना चाहते हैं, चेहरे की खूबसूरती देखना चाहते हैं, और सौम्य भाव देखना चाहते हैं, तो इसका एक ही उपाय है। आप अपने मुख को शान्त और सुन्दर रूप में दर्पण के सामने पेश कीजिए। दर्पण के सामने शान्त रूप में खड़े होंगे, तो वही शान्त रूप आपको देखने को मिलेगा। व्यक्ति का सम्बन्ध भी संसार के साथ, इसी प्रकार प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बी का सम्बन्ध है। जैनधर्म ने इस सत्य का उद्‌घाटन बहुत पहिले ही कर दिया है। उसने कहा है कि—

तू संसार को जिस रूप में देखना चाहता है, पहले अपने आपको वैसा बना ले। तेरे मन में हिंसा है तो संसार में भी तुझे हिंसा मिलेगी। तेरे मन में असत्य है, तो तुझे असत्य ही मिलेगा। यदि तेरे मन में अहिंसा और सत्य है, तो तुझे भी अहिंसा और सत्य के दर्शन होंगे। यही बात अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के सम्बन्ध में भी है।

हाँ, तो प्रत्येक साधक को सर्वप्रथम हिंसा की दीवार तोड़नी होती है। उसके बाद असत्य, स्तेय और अब्रह्मचर्य की दुर्भेद्य दीवारों को भूमिसात् करना होता है। यदि साधक साधु है, तो उक्त दीवारों को पूर्णतया तोड़ डालता है। यदि साधक गृहस्थ है, तो वह अंशतः तोड़ता है। पूर्णतः या अंशतः जैसे भी हो, तोड़ना आवश्यक है। इनको तोड़े बिना आत्मा की स्वतन्त्र स्थिति का आनन्द वह प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रस्तुत प्रसंग ब्रह्मचर्य का है। अस्तु, जब साधक अब्रह्मचर्य की दीवार को तोड़ कर अपने आपको ब्रह्मचर्य की आनन्द भूमि मे ले आता है, तो वह संसार को वासना की आंखों से देखना बन्द कर देता है, दूषित भावनाओं को तोड़ डालता है, संसार भर की स्त्रियों के साथ अपने को एक सात्विक एवं पवित्र सम्बन्ध से जोड़ लेता है। फिर वह जहाँ भी पहुँचता है, हर घर में, हर परिवार में, हर समाज में, सर्वत्र पवित्र भावनाओं का वातावरण स्थापित करता है और भूमण्डल पर एक पवित्र स्वर्गीय राज्य की अवतारणा करता है।

यह ब्रह्मचर्य की महान् एवं विराट साधना है। ब्रह्मचर्य की साधना किस रूप में होती है, इस सम्बन्ध में छोटी-मोटी बातें मैं कह चुका हूँ। यह भी कह चुका हूँ कि ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म में, परमात्मा में विचरण करना। ब्रह्म महान् है, बड़ा है। ब्रह्म से बढ़ कर और कौन महान् है? भारतीय दर्शनों के, जिनमें जैनदर्शन भी सम्मिलित है, ईश्वर के रूप में जो विचार हैं, वे जीवन की अंतिम सर्वोत्कृष्ट परम पवित्रता के रूप में हैं, जहाँ एक भी अपवित्रता का अंश नहीं रहता। वह पवित्रता ऐसी पवित्रता है, जो अनन्त-अनन्त काल गुजर जाने के बाद भी अपवित्र नहीं बनती है। उसी अखण्ड और अक्षय पवित्रता का नाम जैनों की भाषा में ईश्वर, सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा और मुक्त आदि है। उस के हजारों नाम भी रख छोड़ें, तो भी क्या? पर, भगवान् एक अखण्ड पवित्रता-स्वरूप है और यह पवित्रता कभी मलिन नहीं होने वाली है। एक बार वासना हट गई और शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया, तो फिर कभी उस पर वासना का प्रहार नहीं होने वाला है। इस प्रकार ब्रह्म से बढ़ कर अन्य कोई पवित्र और महान् नहीं है। अस्तु, उस परम पवित्र महान् ब्रह्म में विचरण करना, या ब्रह्म अर्थात् शुद्ध रूप के लिए चर्या करना, ब्रह्मचर्य कहलाता है।

जब साधक ब्रह्मचर्य की उपर्युक्त विशाल, विशद और महान् भावना को लेकर चलता है, तभी वह ब्रह्मचर्य की साधना में सफल हो सकता है। जब तक उसकी दृष्टि के सामने महान् भावना और उच्च धारणा नहीं है, तब तक वह चाहे, कि मैं ब्रह्मचर्य की साधना को सम्पन्न कर लूँ, तो वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि उसके जीवन का दृष्टिकोण छोटा रह गया है, क्षुद्र रह गया है। जिस साधक की भावनाओं के सामने महान् जीवन है, अर्थात् सर्वोत्तम जीवन की कल्पना है, उसी की साधना महान् बनती है।

जो महान् है, बृहद् है, वही आनन्दमय है। जो क्षुद्र है, अल्प है, वह आनन्दमय नहीं है। इस दृष्टिकोण से जब हम पिण्ड की ओर देखते हैं अथवा इस पिण्ड की आवश्यकताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो खाने, पीने और पहनने की कल्पनाएँ बहुत छोटी-छोटी और मामूली जान पड़ती हैं। इस पिण्ड की जरूरतें और उनकी पूर्ति के साधन क्षणभंगुर हैं। आज मिले हैं और कल समाप्त हो जाने वाले हैं। अभी हैं और अभी नहीं हैं। सुन्दर से सुन्दर भोज्य पदार्थ सामने आया, उसे हाथ में लिया और जब तक जीभ पर रहा, तब कुछ ही क्षण तक, वह सुन्दर रहा, मधुर मालूम हुआ, किन्तु ज्यों ही गले के नीचे उतरा, त्यों ही उसकी सुन्दरता और मधुरता फिर गायब हो गई।

मिठास का आनन्द न पहिले है और न बाद में है। वह बीच में हमारी जबान की हद तक ही है। यह क्षणभंगुर आनन्द, आनन्द नहीं है। कम-से-कम उससे पहले

और उसके पश्चात् आनन्द नहीं है। इस प्रकार जो चीज क्षणभंगुर है, पलभर में विलीन हो जाने वाली है, उसमें सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता।

कल्पना कीजिए, आप घर में एक सुन्दर जापानी खिलौना लेकर पहुँचते हैं। ज्यों ही आपने घर की देहली के भीतर पैर रखा और बालकों की निगाह खिलौने पर पड़ी, कि एक हंगामा मच गया। एक कहता है, यह खिलौना मुझे चाहिए और दूसरा कहता है, मुझे चाहिए। अब आप देखिए, कि खिलौना तो एक है और लेने वाले अनेक हैं। सब-के-सब बच्चे खिलौना लेने के लिए आतुर और व्यग्र हैं। सब आपके ऊपर झपटते हैं, आपको परेशान कर देते हैं। तब आपको आवेश आ जाता है। आप सोचते हैं—किसको दूँ, और किसको न दूँ? फिर आप उन बच्चों को डाँट फटकार बतलाते हैं। और अन्त में उनमें से किसी एक को आप खिलौना दे देते हैं। तब क्या होता है? उस बालक को तो आनन्द होता है और दूसरों के दिलों में आग-सी लग जाती है।

यह बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जब एक बालक खिलौने से खेलता है, तो दूसरे छीना-झपटी करते हैं और नतीजा यह होता है, कि खिलौना टूट जाता है। तब खिलौने में आनन्द मानने वाला वह बालक भी रोने लगता है और छटपटाता है। ऊपर से आप भी उसे कटु वाक्य-बाणों से बींधते हैं कि—नालायक कहीं का, अभी लिया और अभी तोड़ कर खत्म कर दिया।

इस खिलौने के पीछे आनन्द की एक पतली-सी धार आई जरूर, मगर उसका मूल्य क्या है? उसके पहले भी दुःख है और उसके बाद में भी दुःख है। बीच में थोड़ी देर के लिए अबोध बालक के मन में आनन्द की कल्पना अवश्य हुई, मगर, उससे पहले और उसके बाद मे तो दुःख ही रहा। बीच के क्षणिक सुख की अपेक्षा पहले और पीछे के दुःख का पलड़ा ही अन्ततः भारी रहता है।

क्षण-भंगुर चीजों में सुख बिजली की चमक है, वह स्थायी प्रकाश नही है। ध्यान रहे, कि मैं आकाश मे काली घटाओं के बीच चमकने वाली बिजली की बात कर रहा हूँ।

मनुष्य अपने पिण्ड की ओर जाता है और उसे आनन्द देता है, उसकी छोटी-मोटी जरूरतों को पूरा करता है। किन्तु उन नश्वर वस्तुओं से वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तविक आनन्द अविनश्वर है, अजर एवं अमर है, और वह क्षुद्र रूप मे नहीं रहता है। अतः वह नश्वर वस्तुओं से कैसे प्राप्त हो सकता है?

अतएव आध्यात्मिक अविनाशी आनन्द की बृहत् धारणा साधक के सामने है। उसकी ओर साधक का जो गमन है, उसी को हम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

अभिप्राय यह है, कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए जीवन के सामने बहुत बड़ा

यह ब्रह्मचर्य की महान् एवं विराट साधना है। ब्रह्मचर्य की साधना किस रूप में होती है, इस सम्बन्ध में छोटी-मोटी बातें मैं कह चुका हूँ। यह भी कह चुका हूँ कि ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म में, परमात्मा में विचरण करना। ब्रह्म महान् है, बड़ा है। ब्रह्म से बढ़ कर और कौन महान् है? भारतीय दर्शनों के, जिनमें जैनदर्शन भी सम्मिलित है, ईश्वर के रूप में जो विचार हैं, वे जीवन की अंतिम सर्वोत्कृष्ट परम पवित्रता के रूप में हैं, जहाँ एक भी अपवित्रता का अंश नहीं रहता। वह पवित्रता ऐसी पवित्रता है, जो अनन्त-अनन्त काल गुजर जाने के बाद भी अपवित्र नहीं बनती है। उसी अखण्ड और अक्षय पवित्रता का नाम जैनों की भाषा में ईश्वर, सिद्ध, बुद्ध, परमात्मा और मुक्त आदि है। उस के हजारों नाम भी रख छोड़ें, तो भी क्या? पर, भगवान् एक अखण्ड पवित्रता-स्वरूप है और वह पवित्रता कभी मलिन नहीं होने वाली है। एक बार वासना छूट गई और शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया, तो फिर कभी उस पर वासना का प्रहार नहीं होने वाला है। इस प्रकार ब्रह्म से बढ़ कर अन्य कोई पवित्र और महान् नहीं है। अस्तु, उस परम पवित्र महान् ब्रह्म में विचरण करना, या ब्रह्म अर्थात् शुद्ध रूप के लिए चर्या करना, ब्रह्मचर्य कहलाता है।

जब साधक ब्रह्मचर्य की उपर्युक्त विशाल, विराट और महान् भावना को लेकर चलता है, तभी वह ब्रह्मचर्य की साधना में सफल हो सकता है। जब तक उसकी दृष्टि के सामने महान् भावना और उच्च धारणा नहीं है, तब तक वह चाहे, कि मैं ब्रह्मचर्य की साधना को सम्पन्न कर लूँ, तो वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि उसके जीवन का दृष्टिकोण छोटा रह गया है, क्षुद्र रह गया है। जिस साधक की भावनाओं के सामने महान् जीवन है, अर्थात् सर्वोत्तम जीवन की कल्पना है, उसी की साधना महान् बनती है।

जो महान् है, बृहद् है, वही आनन्दमय है। जो क्षुद्र है, अल्प है, वह आनन्दमय नहीं है। इस दृष्टिकोण से जब हम पिण्ड की ओर देखते हैं अथवा इस पिण्ड की आवश्यकताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो खाने, पीने और पहनने की कल्पनाएँ बहुत छोटी-छोटी और मामूली जान पड़ती हैं। इस पिण्ड की जरूरतें और उनकी पूर्ति के साधन क्षणभंगुर हैं। आज मिले हैं और कल समाप्त हो जाने वाले हैं। अभी हैं और अभी नहीं हैं। सुन्दर से सुन्दर भोज्य पदार्थ सामने आया, उसे हाथ में लिया और जब तक जीभ पर रहा, तब कुछ ही क्षण तक, वह सुन्दर रहा, मधुर मालूम हुआ, किन्तु ज्यों ही गले के नीचे उतरा, त्यों ही उसकी सुन्दरता और मधुरता फिर गायब हो गई।

मिठास का आनन्द न पहिले है और न बाद में है। वह बीच में हमारी जबान की हद तक ही है। यह क्षणभंगुर आनन्द, आनन्द नहीं है। कम-से-कम उससे पहले

और उसके पश्चात् आनन्द नहीं है। इस प्रकार जो चीज क्षणभंगुर है, पलभर में विलीन हो जाने वाली है, उसमें सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता।

कल्पना कीजिए, आप घर में एक सुन्दर जापानी खिलौना लेकर पहुँचते हैं। ज्यों ही आपने घर की देहली के भीतर पैर रखा और बालको की निगाह खिलौने पर पड़ी, कि एक हंगामा मच गया। एक कहता है, यह खिलौना मुझे चाहिए और दूसरा कहता है, मुझे चाहिए। अब आप देखिए, कि खिलौना तो एक है और लेने वाले अनेक हैं। सब-के-सब बच्चे खिलौना लेने के लिए आतुर और व्यग्र हैं। सब आपके ऊपर झपटते हैं, आपको परेशान कर देते हैं। तब आपको आवेश आ जाता है। आप सोचते हैं—किसको दूँ, और किसको न दूँ? फिर आप उन बच्चों को डांट फटकार बतलाते हैं। और अन्त में उनमें से किसी एक को आप खिलौना दे देते हैं। तब क्या होता है? उस बालक को तो आनन्द होता है और दूसरों के दिलों में आग-सी लग जाती है।

यह बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जब एक बालक खिलौने से खेलता है, तो दूसरे छीना-झपटी करते हैं और नतीजा यह होता है, कि खिलौना टूट जाता है। तब खिलौने में आनन्द मानने वाला वह बालक भी रोने लगता है और छटपटाता है। ऊपर से आप भी उसे कटु वाक्य-बाणो से बींधते हैं कि—नालायक कहीं का, अभी लिया और अभी तोड़ कर खत्म कर दिया।

इस खिलौने के पीछे आनन्द की एक पतली-सी धार आई जरूर, मगर उसका मूल्य क्या है? उसके पहले भी दुःख है और उसके बाद में भी दुःख है। बीच में थोड़ी देर के लिए अबोध बालक के मन में आनन्द की कल्पना अवश्य हुई, मगर, उससे पहले और उसके बाद में तो दुःख ही रहा। बीच के क्षणिक सुख की अपेक्षा पहले और पीछे के दुःख का पलड़ा ही अन्ततः भारी रहता है।

क्षण-भंगुर चीजों में सुख बिजली की चमक है, वह स्थायी प्रकाश नहीं है। ध्यान रहे, कि मैं आकाश में काली घटाओं के बीच चमकने वाली बिजली की बात कर रहा हूँ।

मनुष्य अपने पिण्ड की ओर जाता है और उसे आनन्द देता है, उसकी छोटी-मोटी जरूरतों को पूरा करता है। किन्तु उन नश्वर वस्तुओं से वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तविक आनन्द अविनश्वर है, अजर एवं अमर है, और वह क्षुद्र रूप में नहीं रहता है। अतः वह नश्वर वस्तुओं से कैसे प्राप्त हो सकता है?

अतएव आध्यात्मिक अविनाशी आनन्द की वृहत् धारणा साधक के सामने है। उसकी ओर साधक का जो गमन है, उसी को हम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

अभिप्राय यह है, कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए जीवन के सामने बहुत बड़ा

आदर्श रखना है और जिसके सामने वह वृहत्तर आदर्श रहेगा वही ब्रह्मचर्य में अविचल निष्ठा प्राप्त कर सकेगा।

जिस साधक के समग्र जीवन की बहुत बड़ी कल्पना रहती है, वह उस बृहत्तर कल्पना को लक्ष्य बना कर दौड़ता है और उसकी उपलब्धि के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। सारा-का-सारा जीवन उसके पीछे सहर्ष होम देता है। फलतः संसार की वासना उसे याद ही नहीं आती है।

जब जीवन क्षुद्र रहता है और उसके सामने कोई उच्चतर ध्येय नहीं होता, तब वहाँ वासना के कुत्ते भौंकते रहते हैं और इच्छाओं की बिल्लियाँ नोचा-नाची करती रहती हैं, मन में दिन रात एक प्रकार का कुहराम मचा रहता है। अन्तरात्मा की वाणी को ये कुत्ते और बिल्लियाँ दबा लेते हैं। ऐसी स्थिति में आत्मा की शुद्ध अन्तर्ध्वनि कैसे सुनी जा सकती है?

जब अन्तरात्मा की आवाज तेज होती है, तब वासना चुप होकर बैठ जाती है। उच्चतम आदर्शों की धारणा के रूप में आत्मा की आवाज को तेज किए बिना गुजारा नहीं है।

संसार में जितने भी महापुरुष हो चुके हैं, उन्हें आप ध्यान में लाएँगे तो, मालूम होगा कि जब वे एक बार सब कुछ छोड़ कर साधना के पथ पर आए तो उन्हें फिर कभी घर याद नहीं आया। भगवान् महावीर भरी जवानी में घर छोड़ कर निकले। संसार का समस्त वैभव उन्हें सुलभ था। फिर भी उन्होंने दीक्षा ग्रहण की, वनों की राह ली। एक क्षण के लिए भी पीछे नहीं मुड़े, आगे ही बढ़ते गए। यदि कोई पूछता उनसे कि महाराज कभी घर की याद भी आई?

उत्तर मिलता—नहीं आई।

प्राप्त की हुई चीज और भोगी हुई चीज क्यों याद नहीं आई? वे सोने के सिंहासन और दर्शकों की आँखों को चकाचौंध कर देने वाले वे महल, उन्हें क्यों याद नहीं आए?

साधु-वृत्ति ग्रहण करने के बाद देवता डिगाने को आए और डराने लगे कि टुकड़े-टुकड़े कर देंगे। जैसे एक हाथी, चींटी को मसलता है, देवताओं ने भयंकर रूप बना कर भगवान् को तकलीफ दी। उस समय उनसे पूछा होता, कि राजमहल का आनन्द याद आया या नहीं?

उत्तर मिलता—नहीं आया।

अप्सराएँ स्वर्ग से उतर-उतर कर, छह-छह माह तक अपनी पायलों की मादक झंकार मुखरित करती रहीं, तब पूछते कि घर की याद आई कि नहीं?

तब भी उत्तर मिलता—नहीं आई।

अब प्रश्न खड़ा होता है, कि याद न आने का कारण क्या है? कारण यही कि

जीवन की महान् धारणा उनके सामने थी, अपने आत्म-कल्याण की ओर जन-कल्याण की उच्च भावना उनके सामने थी और संसार की बुराइयों से उन्हें लड़ना था। तो वह पहले अपने मन से लड़े, उन्होंने अपने मन के मन्दिर में झाड़ू दी और एक भी धूल का कण नहीं रहने दिया। और उस पवित्रता के महान् आदर्श को दृष्टिपथ में रखते हुए, जहाँ भी गए, वहाँ के वायु-मण्डल को साफ करते गए। जहाँ घृणा और द्वेष की आग लग रही थी, वहाँ स्वयं उसे बुझाने के लिए गए। इस पवित्रता की साधना में उनकी सारी शक्तियाँ इस प्रकार निरन्तर व्यस्त रहती थी, कि उन्हें घर की याद करने के लिए अवकाश ही नहीं था।

यदि वे क्षुद्र विचारों में बँधे रहते, तो उन्हें अवश्य घर की याद आती। और तो क्या, देह रूप मिट्टी के घर में सतत रह कर भी उन्होंने उस को कभी याद नहीं किया। यदि याद करते, तो उसकी जरूरतें भी याद आती। किन्तु वे महान् साधक देह-पिण्ड में रहते हुए भी विचारों की इतनी ऊँचाई पर पहुँच चुके थे, और उससे इतने ऊँचे उठ गए थे, कि उनका मन संसार को क्षुद्र वासनाओं की गलियों में इधर-उधर कहीं नहीं गया,-एक-मात्र शुद्ध लक्ष्य का महान् सूर्य ही उनके सामने सतत चमकता रहा। यही कारण था, कि दुःख आया तो दुःख में और सुख आया तो सुख में भी वे एक रस रह कर साधना पथ पर चलते रहे और चलते ही रहे। संसार की वासनाओं ने उन्हें रोकने की कोशिश भी की, किन्तु उनको रौंद कर वे आगे ही चलते रहे।

एक विद्यार्थी अध्ययन करता है। यदि उसके मानस-नेत्रों के समक्ष कोई महान् उज्ज्वल लक्ष्य चमकता है, यदि उसके स्वप्न विराट हैं, यदि उसका आदर्श कोई न कोई विराट युग-पुरुष है, तो वह एक दिन अवश्य ही महान् बनकर रहेगा। संसार की क्षुद्र वासनाएँ उसे अपने घेरे में बन्द न रख सकेंगी, उसके विकास-पथ को अवरुद्ध नहीं कर सकेंगी। जिसका मन प्रतिक्षण विराट एवं भव्य संकल्पों की ज्योति से जगमगाता रहता है, वहाँ वासनाओं का अन्धकार भला कैसे प्रवेश पा सकता है ? और तो क्या, वासनाओं की क्षणिक स्मृति तक के लिए भी वहाँ अवकाश नहीं रहता है। इसके विपरीत यदि उसके संकल्प क्षुद्र हैं, यदि जीवन की ऊँचाइयों की ओर उसकी नजर नहीं है, तो वह कदम-कदम पर वासनाओं की ठोकरें खाएगा, औंधे मुँह गिरेगा, और जीवन-क्षेत्र में किसी भी काम का न रहेगा। जिसका मन जीवन की भव्य कल्पनाओं से सर्वथा खाली पड़ा है, वहाँ वासनाओं का अन्धकार प्रवेश करता है, अवश्य करता है। क्षुद्र मन में ही वासनाओं की स्मृतियाँ डेरा डालती हैं।

भारत के अन्यतम दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के विषय में एक प्रसिद्धि है। जब उनका विवाह हुआ, तब अगले दिन ही उन्होंने ब्रह्मसूत्र के शांकर-भाष्य पर टीका लिखना प्रारम्भ कर दिया। वे दिन-रात टीका लिखते और विचारों में डूबे रहते। परन्तु उनकी सुशील और चतुर नवोढ़ा पत्नी ने उनके इस कार्य में कुछ भी बाधा न

दी। वह तो और अधिक उनकी सेवा में रत रहने लगी। जब दिन छिपने को होता तब अन्धकार को दूर करने के लिए वह दबे पैरों वहाँ आकर दीपक जला जाती।

मिश्रजी तन्मयभाव से लिखने में संलग्न रहते और उन्हें पता ही न चलता कि दीपक कब और कौन जला गया है? इस प्रकार बारह वर्ष निकल गए और यौवन की वह तूफानी हवा, जो ऐसे समय में दो युवक-हृदयों में बरबस बहने लगती है, वहाँ न बह सकी। जब टीका की समाप्ति का समय आया, तब एक दिन ऐसा हुआ कि दीपक जल्दी ही बुझ गया। जब पत्नी उसे फिर जलाने आई, तो वाचस्पति मिश्र ने प्रकाश में देखा कि वह एक तपस्विनी के रूप में रह रही है और उसने अपने जीवन को दूसरे ही रूप में ढाल दिया है। शरीर कृश है, अलंकारहीन है, वस्त्र भी साधारण हैं। आखिर उन्होंने पूछा—"तुमने ऐसा जीवन क्यों बना रखा है?"

पत्नी ने प्रसन्न भाव से कहा—"आपके पवित्र उद्देश्य के लिए मैं बारह वर्ष से यह कर रही हूँ।"

मिश्रजी चकित रह गए और गद्गद स्वर में बोले—"सचमुच तुम्हारी साधना के बल से ही मैं इस महान् ग्रन्थ को पूरा कर सका हूँ। यदि हम संसार की वासनाओं में फँसे होते, तो कुछ भी नहीं कर सकते थे। किन्तु अब वह चीज लिखी है, कि जो तुमको और मुझको अमर कर देगी। मैं इस टीका का नाम तुम्हारे नाम पर 'भामती' रखता हूँ।"

वाचस्पति ने ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य पर जो 'भामती' टीका लिखी है, वह आज भी विद्वानों के लिए एक गम्भीर चिन्तन का विषय है। अच्छा से अच्छा विद्वान भी पढ़ते समय उसमें इस प्रकार डूबा रहता है, कि वासना क्या, संसार का कोई भी प्रलोभन उसे उलझन में नहीं डाल सकता। तन्मयता बराबर बनी रहती है, मन इधर-उधर नहीं भटकता।

आशय यह है, कि वाचस्पति के सामने यदि यह ऊँची दार्शनिक भावना न होती, और ऊँचा संकल्प न होता, तो क्या आप समझते हैं कि वह इतनी महान् कृति जगत् को भेंट कर सकता था? नहीं। वह भी साधारण व्यक्तियों की तरह यौवन की आँधी में, वासना के वन में भटक जाता और अपनी प्रतिभा को यों ही समाप्त कर देता।

इस प्रकार जिसे ब्रह्मचर्य की साधना के प्रशस्त पथ पर प्रयाण करना है, उसे अपने समक्ष कोई विराट और महान् उद्देश्य अवश्य रख लेना चाहिए। वह आदर्श सामाजिक भी हो सकता है, राष्ट्रीय भी हो सकता है, आध्यात्मिक भी हो सकता है और साहित्य का भी हो सकता है। जब आपके सामने उच्च आदर्श होगा, और विराट प्रेरणा होगी, तब जीवन भी विराट बनेगा और उसके फलस्वरूप वासना-विजय के लिए ब्रह्मचर्य की साधना भी सरल बन जाएगी।

यूरोप के एक वैज्ञानिक विद्वान की बात कहता हूँ। वह अपने यौवन काल से पहले ही विज्ञान की किसी साधना में लगा और सतत लगा रहा, संसार को विज्ञान के नये-नये नमूने देता रहा। इसी विज्ञान-साधना में उसका यौवन आकर चला भी गया और बुढ़ापे ने जीवन में प्रवेश किया। इसी बीच किसी ने उस से पूछा—"आपके परिवार का क्या हाल चाल है ?"

वैज्ञानिक ने कहा—"परिवार ? मेरा परिवार तो मैं ही हूँ, मेरे ये यंत्र हैं, जो बिना कुछ कहे चुपचाप मेरा मन बहलाया करते हैं।"

पुनः प्रश्न किया गया—"क्या विवाह नहीं किया ?"

वैज्ञानिक ने चकित से स्वर में उत्तर दिया—"मैं तो तुम्हारे कहने से ही आज विवाह की बात याद कर रहा हूँ। अभी तक मुझको विवाह याद ही नहीं आया। क्यों नहीं याद आया ? इसलिए, कि मनुष्य का मन एक साथ दो-दो एवं चार-चार काम नहीं कर सकता है। मन के सामने जीवन का एक ही काम महत्त्वपूर्ण होता है। मैं जिस साधना में लगा, उसमें इतना ओतप्रोत रहा और गहराई में डूबा रहा कि मैं दूसरे किसी संकल्प की ओर ध्यान ही न दे सका। मैंने जो वस्तु संसार के सामने रखी है, उसी के कण-कण में मेरी समस्त संकल्प शक्ति व्याप्त हो रही थी। तुमने बड़ी भूल की, जो आज विवाह का नाम याद दिला दिया।"

मैं समझता हूँ, यह कोई अलंकार की बात नही है। यह जीवन की सत्यता और मन की पवित्रता का महान् रूपक आपके सामने है। इस प्रकार की एकनिष्ठा के बिना जीवन मे उच्चता प्राप्त नहीं होती। चाहे कोई गृहस्थ हो या साधु, यदि वह ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहता है, तो यों ही कोई मामूली-सी व्रत नियमों की दूकान लेकर बैठने से काम नहीं चलेगा। छोटी-मोटी बातें लेकर उपदेश करने से भी जीवन का ध्येय सिद्ध नहीं होगा। उसे ज्ञान की वृहत् साधना मे पैठना पड़ेगा। जिनके जीवन में उँची भावना नहीं है, जिनके जीवन को भद्रबाहु, समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर जैसे महान् आचार्यों की ओर से प्रेरणा शक्ति नही मिल सकी है, वे किस प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना करेंगे ? हजारों वर्ष पहले भद्रबाहु, दिवाकर और समन्तभद्र आदि की वे विचार धाराएँ प्रवाहित हुईं, जो आज भी शास्त्रों के रूप मे जनता को कल्याण पथ की ओर ले जा रही हैं। जिसने उन महान् आचार्यों से सम्बन्ध नही जोड़ा है, जिसने ज्ञान की उपासना मे अपने मन को नही पिरो दिया है और वृहत्तर भावना के रंग में मन को नहीं रंग लिया है, उसका ब्रह्मचर्य कैसे चमकेगा ? केवल प्रतिज्ञा ले लेने से ही तो ब्रह्मचर्य की साधना सफल नहीं हो सकती। उसके लिए तो निष्ठा के साथ जीवन का कण-कण लगाना पड़ता है।

जो जितना स्वाध्यायशील होता है, जो महान् आचार्यों के आदर्श की ओर ध्यान लगाता है, जो निरन्तर विराट बनने की कल्पना को अपने सामने रखता है और जो महान् शास्त्रकारों के शास्त्रों और भाष्यों को पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, उनके पवित्र सौरभ को सूँघने के योग्य अपने आपको बना लेता है, वही जीवन में सन्तोष एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है। फिर जो जवानी की तूफानी हवाएँ चलती हैं, और साधारण मनुष्य को सहसा घेर लेती हैं; नहीं घेर सकेंगी। जवानी का तूफान एक बार निकला, तो निकला।

मैं एक जगह गया था। वहाँ मैंने कुछ नौजवान साधुओं को देखा, जिन्होंने दो-चार वर्ष पहिले दीक्षा ली थी। मैंने देखा कि कोई उर्दू की शेर याद कर रहा है, कोई चौपाई रट रहा है, कोई दृष्टान्त घोट रहा है और कोई दोहे कंठस्थ कर रहा है। मैंने उनसे कहा, कि—"यह क्या कर रहे हो ? तुम जीवन-निर्माण के महान् क्षेत्र में आए और यह कबाड़ी की दूकान लगा कर बैठ गए। तुम उच्च कोटि के प्राकृत और संस्कृत भाषा के साहित्य का, इस उम्र में अध्ययन नहीं करोगे, तो क्या बुढ़ापे में करोगे ? यह तुम्हारा क्षुद्र उपक्रम ज्ञान-साधना में क्या काम आएगा ? यह ठीक है, कि समय पर इनका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु इन सबको अभी से लेकर बैठ जाना, तो अपने विकास के पथ में पहले ही दीवाल खड़ी कर लेना है। यदि आपको उस दिव्य-जीवन की ओर चलना है, तो विराट भावना लेकर आगे बढ़ो। इस प्रकार के क्षुद्र संकल्पों से उस ओर नहीं बढ़ा जा सकेगा।"

आप लोगों (श्रावकों) की ओर से ऐसे मुनियों को समय से पहले ही प्रतिष्ठा मिल जाती है। आप उन्हें बहुत जल्दी 'पण्डितरत्न' और इससे भी बड़ी-बड़ी उपाधियाँ दे डालते हैं, तो उनके विकास में बाधा पड़ जाती है। अनायास मिली हुई सस्ती प्रतिष्ठा उन्हें आत्मविस्मृत बना देती है। वे समझने लगते हैं, कि वास्तव में वे इतने योग्य बन गए हैं, कि अब आगे कदम बढ़ाने की कोई आवश्यकता ही उनको नहीं रह गई है। इसमें साधुओं का, जो अपनी वास्तविकता को भूलते हैं, दोष तो है ही, किन्तु आपका भी दोष कम नहीं है। जब तक इस भूल को भूल नहीं समझ लिया जाएगा, और इस स्थिति में परिवर्तन नहीं लाया जाएगा, तब तक साधु-समाज में वह विराट महत्ता नहीं आ सकती, जिसे उनमें आप देखना चाहते हैं, और उनसे जिसकी अपेक्षा रखी भी जाती है। हालत आज यह है, कि हमारे सामने गृहस्थ समाज के जो युवक आते हैं, वे अध्ययन में, चिन्तन में और विचार में इतने आगे बढ़ गए हैं, कि साधु उनसे पीछे रह गए हैं, जो महावीर, गौतम और जिनभद्र आदि की गद्दी पर बैठे हैं। इस प्रकार सुनने वाले ऊँचे हैं और सुनाने वाले नीचे रह गए हैं। इस स्थिति में उनकी आवाज सुनने

वालों के हृदय को किस प्रकार प्रभावित कर सकेगी ? आपके धर्म की चमक आपके ध्यान में कैसे आएगी ? अतएव यदि आपको जनता का नैतिक-स्तर ऊँचा उठाना है, और जनता को ठीक शिक्षा देनी है, तो साधु-समाज को ऊँचा उठाने की कोशिश करनी होगी, जिससे कि उनका मापदण्ड छोटा न रह जाए। यदि साधुगण उच्च शिक्षा से विभूषित न हुए और उनकी योग्यता, आज की तरह ही क्षुद्र बनी रही, तो भविष्य में ऐसा समय आने वाला है, कि सम्भवतः साधु-संस्था को खत्म होना पड़े या अच्छे साधुओं की संख्या नगण्य रह जाए।

जनता के मन में अब साधुओं के लिए जगह नहीं है। हाँ, कुछ साधु हैं, जिनके लिए जगह है, किन्तु दूसरों के लिए नहीं है। अध्यात्मिक विकास के साथ जनता के मानस में स्थान पाने के लिए भी साधुओं के ज्ञान और चरित्र का स्तर ऊँचा होना चाहिए।

साधुओं के सामने एक बृहत् कल्पना आनी चाहिए, ताकि वह अपने अध्ययन, चिन्तन और विचारों में गहरे पैठ सकें। और इस रूप में यदि गहराई में पैठेंगे, तो ब्रह्मचर्य देवता के दर्शन दूर नहीं हैं। कदम-कदम पर ब्रह्मचर्य उनके साथ में चलेगा और वे जहाँ कहीं भी पहुँचेंगे, वहाँ अपने धर्म और समाज को चमका सकेंगे।

आप गृहस्थों के लिए भी यही बात है। आप अपने बच्चों को बनाना चाहते हैं, किन्तु उनको बनाने के लिए आप करते क्या हैं ? आज आप उन्हें अक्षर-ज्ञान के लिए केवल चार जमात पढ़ा रहे हैं और दूकान की गद्दी पर बैठा रहे हैं, और सिखा रहे हैं, कि लूटो दुनियाँ को। आप दस के सौ लिखने की कला सिखा रहे हैं। लेकिन अस्तेयव्रत का निरूपण करते समय मैं कह चुका हूँ, कि व्यापारी का यह कर्त्तव्य नहीं है। आगम, वेद, पुराण, और उपनिषद् के काल में व्यापारी देश के उत्तरदायित्व को शान के साथ वहन करते थे। उस समय राजा तो राजा ही रहा। जब देश के ऊपर शत्रुओं का आक्रमण हुआ, तो उसने दो-चार तलवार के हाथ चला दिए और बस, किन्तु देश में निर्माण के भव्य प्रासाद खड़े करने वाले और जनहित के लिए लक्ष्मी के बड़े-बड़े भण्डार भरने वाले कौन थे ? वे राजा नहीं, व्यापारी ही थे। व्यापारियों ने ही देश को समृद्ध बनाया है, धन-धान्य से परिपूर्ण बनाया है और देश के गौरव को चार चाँद लगाए हैं। देश में जो श्री समृद्धि आई, वह व्यापारियों की बदौलत ही आई। उनके जहाजों की पताकाएँ फिलीपाइन, जावा, सुमात्रा, चीन, जापान तक फहराती रही हैं। उन्होंने अपने देश की जरूरतों को पूरा किया, साथ ही अन्य देशों की जरूरतों को भी पूरा किया।

सच्चा व्यापारी वही है, जो अपने आपको भी ऊँचा बना ले और दूसरों की झोंपड़ी को भी महल बना दे। जब तक इस दृष्टि से व्यापारी चला, तब तक वह बड़ा बना रहा। व्यापार के क्षेत्र में भी चरित्र-बल की और वासना-विजय की बड़ी आवश्यकता है। हम प्राचीन कथाओं में पढ़ते हैं कि तरुण की भरी जवानी है, अभी

विवाह करके लौटा ही है, किन्तु अभी सुदूर देशों में जाने वाले काफ़िले के साथ जा रहा है, और आ रहा है बारह बारह वर्ष के बाद। नये-नये देश होते हैं, नये-नये प्रलोभन होते हैं, वासना-पूर्ति के स्वयं ही नये-नये अवसर आते हैं, परन्तु वह तरुण सर्वत्र निर्मल एवं निष्कलंक रहता है। जीवन पर एक भी काला धब्बा नहीं लगने देता है। उधर उसकी तरुण पत्नी जीवन की ऊँचाई पर बैठी है और सती साध्वी के रूप में निर्मल जीवन-यापन कर रही है। कितना सुन्दर था वह जीवन, कितने ऊँचे थे उनके वे आदर्श!

भारत का व्यापारी जब तक इस रूप में रहा, भारत का निर्मल चिन्तन बढ़ता गया और देश एवं समाज का नव-निर्माण होता रहा। किन्तु आज के व्यापारी क्षुद्र-घेरे बंदी में पल रहे हैं, और एक प्रकार से तलइय्याओं का गन्दा पानी पी रहे हैं, जिनमें हजारों विषाक्त कीटाणु हैं, जो जीवन को प्रतिपल क्षीण बनाने वाले हैं। किन्तु फिर भी उसे पीते जा रहे हैं और समझते हैं, कि हम बहुत लक्ष्मी इकट्ठी कर रहे हैं। कैसे कर रहे हैं, और किस लिए कर रहे हैं, इसका कुछ पता ही नहीं है।

अपने पूर्वजों की ओर देखोगे, तो उनके समक्ष क्षुद्र कीड़ों के समान मालूम हो ओगे। जो लक्ष्मीके पुत्र हैं, और दीपावली के दिन कल्दारोंके ऊपर मत्था टेकने वाले हैं तथा जो दूकानों में 'शुभ, लाभ' लिखने वाले हैं, वे कभी सोचते भी हैं कि 'लाभ' से पहिले'शुभ' क्यों लिखते हैं? इसका अर्थ तो यह है, कि जीवनमें जो लाभ हो, वह शुभ के साथ होना चाहिए। उस लाभ को अगर खर्च किया जाए तो शुभ में ही खर्च किया जाए और जब प्राप्त किया जाए तब शुभ प्रयत्नों से जन-कल्याण का ध्यान रखते हुए ही प्राप्त किया जाए, तभी वह लाभ शुभ लाभ हो सकता है। लेकिन अब तो वह केवल लिखने के लिए ही रह गया है और जीवन में कोरा लाभ ही शेष रह गया है, उसमें शुभ के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह गई है।

मैं यह बतलाना चाहता हूँ, कि जीवन में महान् प्रेरणाएँ क्यों नहीं आ रही हैं? क्यों अपनी सन्तान के प्रति और अपने भाइयों के प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है? मुझे मालूम है कि युद्ध-काल में एक व्यापारी ने बहुत ज्यादा कमाया। छोटा भाई, जो धूर्तता की कला में कुशल था और जिसका दिमाग़ खूब तेज़ था उसने खूब कमाई की। एक दिन वह अपने बड़े भाई से कहने लगा—"मैं तो अब अलग होता हूँ।"

उसके बड़े भाई विचार में पड़ गए और घर में संघर्ष होने लगा। ऐसी हवाएँ कभी-कभी हमारे पास भी आ जाती हैं। एक दिन मैंने उस कमाऊ भाई से कहा—"भाई, पहले भी जीवन के दिन परिवार में सबके साथ-साथ गुजारे हैं, तो अब भी गुजार

विवाह करके लौटा ही है, किन्तु अभी सुदूर देशों में जाने वाले काफिले के साथ जा रहा है, और आ रहा है बारह बारह वर्ष के बाद। नये-नये देश होते हैं, नये-नये प्रलोभन होते हैं, वासना-पूर्ति के स्वयं ही नये-नये अवसर आते हैं, परन्तु वह तरुण सर्वत्र निर्मल एवं निष्कलंक रहता है। जीवन पर एक भी काला धब्बा नहीं लगने देता है। उधर उसकी तरुण पत्नी जीवन की ऊँचाई पर बैठी है और सती साध्वी के रूप में निर्मल जीवन-यापन कर रही है। कितना सुन्दर था वह जीवन, कितने ऊँचे थे उनके वे आदर्श!

भारत का व्यापारी जब तक इस रूप में रहा, भारत का निर्मल चिन्तन बढ़ता गया और देश एवं समाज का नव-निर्माण होता रहा। किन्तु आज के व्यापारी क्षुद्र-घेरे बंदी में पल रहे हैं, और एक प्रकार से तलइय्याओं का गन्दा पानी पी रहे हैं, जिनमें हजारों विषाक्त कीटाणु हैं, जो जीवन को प्रतिपल क्षीण बनाने वाले हैं। किन्तु फिर भी उसे पीते जा रहे हैं और समझते हैं, कि हम बहुत लक्ष्मी इकट्ठी कर रहे हैं। कैसे कर रहे हैं, और किस लिए कर रहे हैं, इसका कुछ पता ही नहीं है।

अपने पूर्वजों की ओर देखोगे, तो उनके समक्ष क्षुद्र कीड़ों के समान मालूम होओगे। जो लक्ष्मीके पुत्र हैं, और दीपावली के दिन कल्दारोंके ऊपर मत्था टेकने वाले हैं तथा जो दूकानों में 'शुभ, लाभ' लिखने वाले हैं, वे कभी सोचते भी हैं कि 'लाभ' से पहिले'शुभ' क्यों लिखते हैं? इसका अर्थ तो यह है, कि जीवनमें जो लाभ हो, वह शुभ के साथ होना चाहिए। उस लाभ को अगर खर्च किया जाए तो शुभ में ही खर्च किया जाए और जब प्राप्त किया जाए तब शुभ प्रयत्नों से जन-कल्याण का ध्यान रखते हुए ही प्राप्त किया जाए, तभी वह लाभ शुभ लाभ हो सकता है। लेकिन अब तो वह केवल लिखने के लिए ही रह गया है और जीवन में कोरा लाभ ही शेष रह गया है, उसमें शुभ के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह गई है।

मैं यह बतलाना चाहता हूँ, कि जीवन में महान् प्रेरणाएँ क्यों नहीं आ रही हैं? क्यों अपनी सन्तान के प्रति और अपने भाइयों के प्रति अविश्वास बढ़ता जा रहा है? मुझे मालूम है कि युद्ध-काल में एक व्यापारी ने बहुत ज्यादा कमाया। छोटा भाई, जो धूर्तता की कला में कुशल था और जिसका दिमाग़ खूब तेज़ था उसने खूब कमाई की। एक दिन वह अपने बड़े भाई से कहने लगा—"मैं तो अब अलग होता हूँ।"

उसके बड़े भाई विचार में पड़ गए और घर में संघर्ष होने लगा। ऐसी हवाएँ कभी-कभी हमारे पास भी आ जाती हैं। एक दिन मैंने उस कमाऊ भाई से कहा—"भाई, पहले भी जीवन के दिन परिवार में सबके साथ-साथ गुज़ारे हैं, तो अब भी गुज़ार

सकते हो। पर, अब ऐसा क्या हो गया है, कि अपने मन में अलग होने की ठानी है? आखिर, संघर्ष किस बात का है?"

वह कहने लगा—"अब बनती नही है, कैसे साथ रहा जाए।"

मैंने पूछा—"तो पहले कैसे बनती थी?"

आखिर जब मन के अन्दर की बात बाहर आई, तब वास्तविकता का पता लगा। वह महसूस करता था कि "मैं तो कमा रहा हूँ और वे व्यर्थ ही हिस्सेदार बनते जा रहे हैं। अलग हो जाएँगे, तो घर के दरवाजे पर मोटर हार्न देती हुई आएगी और अपनी कमाई के आप ही पूरे हिस्सेदार होंगे और आप ही उसका उपभोग करेंगे।"

मैंने सोचा—"जो धन अनीति का होगा और जो रावण के आदर्श की प्रेरणा लेकर कमाया जाएगा; वहाँ उदारता, सहानुभूति और प्रीति नही रहेगी। उस धन का असर ऐसा ही होगा।"

एक व्यक्ति का यह दोष नही है, यह तो आज समाज-व्यापी दोष बन गया है और इसलिए बन गया है, कि जीवन की विराट कल्पना को लोग भूल गए हैं। संयम का आदर्श उनके सामने नहीं रहा है।

मुझे एक पिता की बात याद आती है। पिता कमाते-कमाते थक गया। उसने न नीति गिनी, न अनीति गिनी, केवल कमाई गिनी। और जब लड़के आए तो ऐसे आए कि माल उड़ाने लगे। उसके संचित धन को बर्बाद करने लगे। वह एक दिन मेरे पास आकर कहने लगा—"महाराज, मैंने दुनियाँ भर के पाप करके धन जोड़ा और छोकरे उसे उड़ाए दे रहे हैं।"

मैंने कहा—"तुमने लाभ ही लाभ पर ध्यान दिया, शुभ पर ध्यान नहीं दिया। वह धन अनीति की राह से आया है, तो अनीति की राह पर ही जा रहा है। तुम्हारी कमाई का हेतु उन्हें साफ नजर नही आ रहा है, इसी कारण तुम्हारे लड़के उसे पानी की तरह वासना में बहा रहे हैं, और तुम दिल मसोस कर रह रहे हो। तुमने कभी ध्यान नहीं दिया, कि पैसा किस तरह आ रहा है? हजारों के आँसू पोंछ कर आ रहा है या आँसू बहा कर आ रहा है? फिर यह भी तो नहीं सोचा, कि जो पैसा आया है, उसका शुद्ध रूप मे उपयोग किस प्रकार किया जाय?

यह जीवन का एक महान् प्रश्न बन गया है। बड़े-बड़े शहरों मे देखते हैं और सुनते हैं, कोई महीना खाली नहीं जाता, जब कि अखबारो में पढ़ने को न मिलता हो, कि किसी भले घर का लड़का भाग गया है। जब वह भाग जाता है, तब पिता हैरान होते हैं और अखबारों में हुलिया छपाते हैं। इधर गल्ला सँभालते हैं, तो मालूम होता है कि हजार दो हजार के नोट गायब हैं। वह लड़का बम्बई जैसे बड़े नगरों में

वासनाओं का शिकार बन कर बेदर्दी के साथ उन सब रुपयों को फूँक देता है और आखिर गलियों का भिखारी हो जाता है, तो अपना-सा मुँह लेकर घर वापिस लौटता है।

देखते हैं, कि ब्रह्मचर्य के रूप में, गृहस्थ जीवन की जो मर्यादाएँ हैं, उनकी ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। लड़के क्यों भागते हैं? क्यों उन्हें अपने और अपने परिवार की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं आता? यह सब संयम के अभाव का कुफल है।

हमारे सामने आज सिनेमा खड़े हैं, और वे वासना का जहर बरसा रहे हैं। उनमें से शिक्षा कुछ नहीं आ रही है, केवल वासनाएँ आ रही हैं। प्रायः हरेक चित्र-पट का यही हाल है। नवयुवक किसी डाकू का चित्र देखते हैं, तो डाकू बनने की, और किसी प्रेमी तथा प्रेमिका का चित्र देखते हैं, तो वैसा बनने की कोशिश करते हैं। अधिकांश सोचते हैं कि बम्बई में जाएँगे, फ़िल्म कम्पनियों में जाएँगे और वहीं काम करेंगे। मगर फिल्म-कम्पनियों के दफ्तरों के आस-पास इतने नवयुवक, चीलों की तरह मँडराते हैं कि इन जाने वालों को कोई पूछता तक नहीं है। दुर्भाग्य है कि यह रोग लड़कों तक ही सीमित नहीं रहा है। आज तो अबोध लड़कियाँ भी इस रोग की पकड़ में हैं। लड़के ही नहीं भागते, लड़कियाँ भी भागती फिरती हैं।

समाज के जीवन में यह एक घुन लग गया है, जो उसे निरन्तर खोखला करता जा रहा है और इस कारण हमारा जो आध्यात्मिक और विराट जीवन बनना चाहिए, वह नहीं बन रहा है।

नारी जाति की ओर ध्यान देते हैं, तो देखते हैं कि पवित्र नारी जाति आज वासना की पुतली बन गई है। जहाँ भी बाजारोंमें देखते हैं, उनकी अधनंगी तसवीरों का अभिनेत्री के रूप में गन्दा विज्ञापन मिलता है। नारी जाति का मातृत्व और भगिनीत्व उड़ गया है, और केवल एक वासना का नग्न रूप रह गया है।

आज करोड़ों रुपया सिनेमा के व्यवसाय में लगा हुआ है और करोड़ों रुपया सिनेमा में काम करने वालों में बर्बाद किया जा रहा है। आज भारतवर्ष के सबसे बड़े नागरिक डाक्टर राजेन्द्र बाबू हैं। राष्ट्रपति के रूप में उनके कन्धों पर कितना उत्तरदायित्व है, यह कहने की कुछ आवश्यकता नहीं। किन्तु उनको जो वेतन मिलता है, उससे कई गुना अधिक सिनेमा के 'स्टार' को और 'हीरो' को मिलता है। बताया गया है, कि सिनेमा-स्टार सुरैया को अस्सी हजार हर महीने मिलते हैं। और काम? वह महीने में केवल चार दिन करना पड़ता है, शेष दिन मौज में गुजरते हैं।

यह करोड़ों रुपया कहाँ से आ रहा है ? चवन्नी-अठन्नी वाले साधारण दर्शकों की जेबें काट कर धन के ढेर लगाए जा रहे हैं और उसके बदले उन्हें वासनाओं का विष दिया जा रहा है।

पश्चिमी देशों में, अमेरिका की बातें छोड़ दीजिए। वहाँ तो अर्धनग्न स्त्रियों के चित्रों के सिवाय समाज को कुछ नहीं दिया जाता है, पर अन्य देशों की बात ऐसी नहीं है। वहाँ सिनेमा शिक्षा, समाज-सुधार और देश-भक्ति आदि की उत्तम शिक्षा के प्रभावशाली साधन बना लिए गए हैं। वहाँ सिनेमा-घर क्या हैं ? मानो, विद्यालय हैं। हमारे रवीन्द्र बाबू ने अपनी पश्चिम यात्रा का हाल लिखा है। उसमें एक रूसी सिनेमा का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि रूस में एक सिनेमा दिखाया जा रहा था। सैकड़ों बच्चे भी उसे देख रहे थे। उसमें बताया जा रहा था, कि काले हबशियों को अमेरिका के गोरे लोग किस प्रकार यंत्रणाएँ देते हैं और किस प्रकार उनसे घृणा करते हैं ? उसे देख-देखें कर रूस के लोग हैरान हो रहे थे कि अमरीका में उसी देश की एक काली जाति के प्रति कितना भद्दा सलूक किया जा रहा है। यदि रंग नहीं मिलता है, तो क्या इतने मात्र से कोई जाति घृणा, द्वेष और अत्याचार की पात्र हो जाती है ? व्यर्थ ही क्यों उसके साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया जाता है, कि उसे शान्ति के साथ जीवन गुजारना ही कठिन हो जाए !

सिनेमा-हाउस में, दर्शकों में, एक ओर एक हब्शी भी बैठा था। ज्यों ही सिनेमा समाप्त हुआ और दर्शक बाहर निकले, तो उस हब्शी को बच्चों ने घेर लिया। बच्चे उससे चिपट गए और बोले—"तुम हमारे देश में क्यों नहीं रहते हो ? हम तुम्हारा स्वागत करेंगे, तुम्हारे प्रति प्रेम पूर्ण व्यवहार करेंगे। सचमुच, तुम वहाँ बड़ा कष्ट पा रहे हो।"

आप देख सकते हैं, कि एक तरफ अपने देश को ऊँचा उठाने के लिए सिनेमा दिखलाए जाते हैं, उनकी सहायता से बालकों को शिक्षा दी जाती है. समाज की कुरीतियों को दूर किया जाता है और राष्ट्रीय, सामाजिक एवं आत्मिक चेतनाएँ दी जाती हैं। इसके विपरीत दूसरी तरफ़ अनाचार, अनीति और वासनाओं का पाठ सिखलाया जा रहा है। वे क्या कर रहे हैं और तुम क्या कर रहे हो ? हमारे देश के सिनेमा, सिवाय वासना की आग में अधखिली कच्ची कलियों को झोंकने के और, कुछ भी नहीं कर रहे हैं।

जो देश हजारों और लाखों वर्षों पहले आध्यात्मिकता के उच्चतर शिखर पर आसीन रहा है, जिस देश के सामने भगवान् अरिष्टनेमि और पितामह भीष्म जैसे ब्रह्मचर्य के धनी महापुरुषों का उज्ज्वल आदर्श चमकता रहा है, जिस देश को भगवान् महावीर का 'तवेसु वा उत्तम बंभचेरं' का प्रेरणाप्रद प्रवचन सुनने को मिला है, अपने

यह करोड़ों रुपया कहाँ से आ रहा है ? चवन्नी-अठन्नी वाले साधारण दर्शकों की जेबें काट कर धन के ढेर लगाए जा रहे हैं और उसके बदले उन्हें वासनाओं का विष दिया जा रहा है।

पश्चिमी देशों में, अमेरिका की बात छोड़ दीजिए। वहाँ तो अर्धनग्न स्त्रियों के चित्रों के सिवाय समाज को कुछ नही दिया जाता है, पर अन्य देशों की बात ऐसी नहीं है। वहाँ सिनेमा शिक्षा, समाज-सुधार और देश-भक्ति आदि की उत्तम शिक्षा के प्रभावशाली साधन बना लिए गए हैं। वहाँ सिनेमा-घर क्या हैं ? मानो, विद्यालय हैं। हमारे रवीन्द्र बाबू ने अपनी पश्चिम यात्रा का हाल लिखा है। उसमें एक रूसी सिनेमा का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि रूस में एक सिनेमा दिखाया जा रहा था। सैंकड़ों बच्चे भी उसे देख रहे थे। उसमें बताया जा रहा था, कि काले हबशियों को अमेरिका के गोरे लोग किस प्रकार यंत्रणाएँ देते हैं और किस प्रकार उनसे घृणा करते हैं ? उसे देख-देखें कर रूस के लोग हैरान हो रहे थे कि अमरीका में उसी देश की एक काली जाति के प्रति कितना भद्दा सलूक किया जा रहा है। यदि रंग नही मिलता है, तो क्या इतने मात्र से कोई जाति घृणा, द्वेष और अत्याचार की पात्र हो जाती है ? व्यर्थ ही क्यों उसके साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया जाता है, कि उसे शान्ति के साथ जीवन गुजारना ही कठिन हो जाए !

सिनेमा-हाउस में, दर्शकों में, एक ओर एक हब्शी भी बैठा था। ज्यों ही सिनेमा समाप्त हुआ और दर्शक बाहर निकले, तो उस हब्शी को बच्चों ने घेर लिया। बच्चे उससे चिपट गए और बोले—"तुम हमारे देश में क्यों नही रहते हो ? हम तुम्हारा स्वागत करेंगे, तुम्हारे प्रति प्रेम पूर्ण व्यवहार करेंगे। सचमुच, तुम वहाँ बड़ा कष्ट पा रहे हो।"

आप देख सकते हैं, कि एक तरफ अपने देश को ऊँचा उठाने के लिए सिनेमा दिखलाए जाते हैं, उनकी सहायता से बालकों को शिक्षा दी जाती है. समाज की कुरीतियों को दूर किया जाता है और राष्ट्रीय, सामाजिक एवं आत्मिक चेतनाएँ दी जाती हैं। इसके विपरीत दूसरी तरफ़ अनाचार, अनीति और वासनाओं का पाठ सिखलाया जा रहा है। वे क्या कर रहे हैं और तुम क्या कर रहे हो ? हमारे देश के सिनेमा, सिवाय वासना की आग में अधखिली कच्ची कलियों को झोंकने के और, कुछ भी नहीं कर रहे हैं।

जो देश हज़ारो और लाखों वर्षों पहले आध्यात्मिकता के उच्चतर शिखर पर आसीन रहा है, जिस देश के सामने भगवान् अरिष्टनेमि और पितामह भीष्म जैसे ब्रह्मचर्य के धनी महापुरुषों का उज्ज्वल आदर्श चमकता रहा है, जिस देश को भगवान् महावीर का 'तवेसु वा उत्तम बंभचेरं' का प्रेरणाप्रद प्रवचन सुनने को मिला है, अपने

विकास के प्रथम प्रभात के साथ ही जिसने सदाचार और ब्रह्मचर्य का शिक्षण दिया है, जो देश आज भी धर्म-प्रधान देश कहलाता है और जिसे विश्व का गुरु होने का गौरव प्राप्त है, वही देश आज इस हीन स्थिति पर पहुँच गया है, कि वहाँ अनाचार की और वासनाओं की खुलेआम शिक्षा दी जाती है। आश्चर्य की बात है, कि हमारी अपनी ही सरकार ने इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है और न प्रजा की ओर से ही इस के विरोध में आवाज बुलन्द की जा रही है।

मैं समझता हूँ, अब तक के गन्दे चित्रों ने भारतीय संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने का जितना प्रयत्न किया है, उतना किसी और ने नहीं किया। इन चित्रों ने युवकों और युवतियों के हृदय में जहर के जो इंजेक्शन दिए हैं, उनसे उनका जीवन खोखला बन गया है और बनता जा रहा है। आज समाज पर उसका बड़ा ही दुष्प्रभाव पड़ रहा है। आज के सिनेमा भारत की सात्त्विक धर्मों की मङ्गल-मयी संस्कृति के लिए एक चुनौती है।

इस देश के ऋषियों महात्माओं ने विश्व में ब्रह्मचर्य का पावन सन्देश फैलाया था और बतलाया था, कि ब्रह्मचर्य की अपार शक्ति के प्रताप से ही भारतीय साधकों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है। किन्तु आज यह देश उसी को भूल रहा है। आज हम अपने जीवन को शास्त्रों से मिला कर देखें, तो पता चलेगा कि शास्त्र क्या कहते हैं, और हम अपना जीवन किस प्रकार गुजार रहे हैं। जब तक हम अपना जीवन शास्त्रों के अनुसार नहीं बनाएँगे, तब तक हमारा जीवन पवित्र नहीं बन सकता, तेजोमय नहीं बन सकता और विशाल नहीं बन सकता। यदि हम अपने जीवन को अरिष्टनेमि और महावीर, राम और हनुमान, भीष्म और बुद्ध के जीवन के साँचे में नहीं ढालेंगे, तो देश और समाज का कल्याण होना कोरा स्वप्न ही रह जाएगा।

हमारी जीवन-यात्रा ब्रह्मचर्य की साधना से ही है और ब्रह्मचर्य की साधना का अर्थ है—'बृहद् आदर्श।' सामाजिक दृष्टि से और राष्ट्रीय दृष्टि से भी हमारे जीवन के बृहद् आदर्श और बृहद् कल्पना बननी चाहिए, क्योंकि उनके आने पर ही ब्रह्मचर्य की प्राण-शालिनी साधना सजीव हो सकती है।

आगरा }
१५-११-५०। }

प्रवचन | ८

ब्रह्मचर्य का प्रभाव

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जैन-धर्म ने और दूसरे धर्मों ने भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है। वह यह कि ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति होते हुए भी बाह्य पदार्थों मे परिवर्तन कर देने की अद्भुत क्षमता रखता है। वह प्रकृति के भयंकर से भयंकर पदार्थों की भयंकरता को नष्ट कर उनको आनन्दमय एवं मंगलमय बना देता है। ब्रह्मचर्य के इस चमत्कारी कार्य-कलाप से सम्बन्धित कहानियाँ सभी धर्मों में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती हैं।

ग्यारह लाख वर्षों का दीर्घतर काल व्यतीत हो जाने पर, आज भी आप सुन सकते हैं, कि सीता अपने सत्य और शील की परीक्षा के लिए प्रचण्ड अग्नि-कुण्ड में कूद पड़ी थी। हजारों-हजार ज्वालाओं से दहकते हुए उस भयंकर अग्नि-कुण्ड में सीता कूदी, तो हजारों स्त्री-पुरुषों के मुख से चीख निकल पड़ी और कठोर से कठोर हृदय वाले दर्शकों के दिल भी दहल उठे। दुर्घटना की आशंका से उनके नेत्र सहसा बन्द हो गए। किन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने जब आँखें खोली, तो देखते हैं कि वह अग्नि-कुण्ड स्वच्छ, शीतल एवं शान्त सरोवर के रूप में बदल गया है। खिले हुए कमल-पुष्पों के बीच सीता, देवी-स्वरूपा सीता एक अद्भुत तेजोमय प्रकाश से आलोकित हो उठी है।

आज प्राचीन काल की ऐसी बातों और कथाओं पर लोगों की ओर से तरह-तरह की आलोचनाएँ सुनी जाती हैं। कुछ लोग समझने लगे हैं, कि यह केवल रूपक और अलंकार है। यह कभी हो सकता है कि आग, पानी बन जाए? आग, आग है और पानी, पानी।

आज विश्व के विचारशील व्यक्तियों के सामने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित है, कि भौतिक पदार्थों की शक्ति बड़ी है या आत्मा की शक्ति बड़ी है? दोनों शक्तियों में वस्तुतः कौन महान् है?

यदि हम प्रकृति के भौतिक पदार्थों को महत्त्व देते हैं और उनको बड़ा समझ

मनुष्य का विचार, वैसा उसका आचार, जैसा उसका आचार, वैसा उसका व्यवहार। प्रकृति, पुरुष अर्थात् आत्मा के अधीन है। उन्नत विचारों के समक्ष प्रकृति अपने आप अवनत हो जाती है।

भगवान् महावीर जब निर्जन सूने वन में ध्यान लगाते, तब क्या होता, कि कभी-कभी हिरण महाप्रभु के निकट आते और उनकी मंगलमय शान्त छवि देखकर मुग्ध हो जाते। हिरनों के मन और नयन, भगवान् की अद्भुत सौम्य, शान्त और मनोहर मुद्रा पर अटके रहते और वहीं आनन्द विभोर स्थिति में घंटों ही मंत्र मुग्ध बैठे रहते। दूसरी ओर से मृगराज सिंह गर्जना करते आते और भगवान् की प्रशान्त मुख-मुद्रा को देखकर, शान्त मन से वहीं भगवान् के चरणों में बैठ जाते। आचार्यों ने वर्णन किया है कि कभी-कभी तो यहाँ तक होता, कि हिरणी का बच्चा शेरनी का दूध पीने लगता और शेरनी का बच्चा हिरनी का दूध पीने लगता।

मानो, इस तरह वहाँ पहुँच कर शेर अपना शेरपन और हिरन अपना हिरनपन भूल जाता। वास्तव में वह एक ऐसी प्रखरतर शक्ति से प्रभावित हो जाते, कि उन्हें अपने बाह्य रूप का ध्यान ही न रह जाता। अगर ऐसा न होता, तो हिरन शेर के पास कैसे बैठता ? हिरनी का बच्चा, शेरनी के स्तनों पर मुँह कैसे लगाता ? यदि शेर का शेरपन न चला गया होता, और वह ज्यों-का-त्यों मौजूद होता, तो उसकी क्रूर हिंसक मनोवृत्ति भी विद्यमान रहती, और यदि वह सिंह की मनोवृत्ति विद्यमान रहती, तो वह हिरन को सकुशल कैसे अपने पास बैठने देता ? शेरपन लेकर शेर, हिरन के पास चुपचाप शान्त और प्रीति-भाव से कैसे बैठा रहता ? और हिरन की भय प्रवृत्ति यदि न गई होती, तो वह भी निर्भय भाव से अपने भक्षक सिंह के पास कैसे बैठा रहता ?

इस प्रकार विचार करने पर एक महान् अध्यात्म ज्योति का स्वरूप हमारे सामने आता है। हम सोचते हैं, कि अध्यात्म योगियो के समक्ष प्रकृति स्वयं अपना भयंकर रूप छोड़ देती है, और क्रूर प्राणियों के हृदय से क्रूर भाव भी निकल जाते हैं। इस रूप में प्रेम-भाव की और भ्रातृ-भाव की लहर प्राणियों में पैदा हो जाती हैं और तभी इस प्रकार के भव्य दृश्य नजर आते हैं।

इस स्थिति में आत्मा की महान् शक्ति का, बाह्य-जगत् और प्राणी-जगत पर प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं है। न केवल जैन धर्म ही, अपितु संसार के प्रायः सभी धर्म इस प्रभाव का समर्थन करते हैं। योग-सूत्र का यह सूत्र ध्यान देने योग्य है—

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः।

—पतञ्जलि

जिस महान् साधक की आत्मा में अहिंसा की भावना प्रकृष्ट हो जाती है,

मनुष्य का विचार, वैसा उसका आचार, जैसा उसका आचार, वैसा उसका व्यवहार। प्रकृति, पुरुष अर्थात् आत्मा के अधीन है। उन्नत विचारों के समक्ष प्रकृति अपने आप अवनत हो जाती है।

भगवान् महावीर जब निर्जन सूने वन में ध्यान लगाते, तब क्या होता, कि कभी-कभी हिरण महाप्रभु के निकट आते और उनकी मंगलमय शान्त छवि देखकर मुग्ध हो जाते। हिरनों के मन और नयन, भगवान् की अद्भुत सौम्य, शान्त और मनोहर मुद्रा पर अटके रहते और वहीं आनन्द विभोर स्थिति में घंटों ही मंत्र मुग्ध बैठे रहते। दूसरी ओर से मृगराज सिंह गर्जना करते आते और भगवान् की प्रशान्त मुख-मुद्रा को देखकर, शान्त मन से वहीं भगवान् के चरणों में बैठ जाते। आचार्यों ने वर्णन किया है कि कभी-कभी तो यहाँ तक होता, कि हिरणी का बच्चा शेरनी का दूध पीने लगता और शेरनी का बच्चा हिरनी का दूध पीने लगता।

मानो, इस तरह वहाँ पहुँच कर शेर अपना शेरपन और हिरन अपना हिरनपन भूल जाता। वास्तव में वह एक ऐसी प्रखरतर शक्ति से प्रभावित हो जाते, कि उन्हें अपने बाह्य रूप का ध्यान ही न रह जाता। अगर ऐसा न होता, तो हिरन शेर के पास कैसे बैठता ? हिरनी का बच्चा, शेरनी के स्तनों पर मुँह कैसे लगाता ? यदि शेर का शेरपन न चला गया होता, और वह ज्यों-का-त्यों मौजूद होता, तो उसकी क्रूर हिंसक मनोवृत्ति भी विद्यमान रहती, और यदि यह सिंह की मनोवृत्ति विद्यमान रहती, तो वह हिरन को सकुशल कैसे अपने पास बैठने देता ? शेरपन लेकर शेर, हिरन के पास चुपचाप शान्त और प्रीति-भाव से कैसे बैठा रहता ? और हिरन की भय प्रवृत्ति यदि न गई होती, तो वह भी निर्भय भाव से अपने भक्षक सिंह के पास कैसे बैठा रहता ?

इस प्रकार विचार करने पर एक महान् अध्यात्म ज्योति का स्वरूप हमारे सामने आता है। हम सोचते हैं, कि अध्यात्म योगियों के समक्ष प्रकृति स्वयं अपना भयंकर रूप छोड़ देती है, और क्रूर प्राणियों के हृदय से क्रूर भाव भी निकल जाते हैं। इस रूप में प्रेम-भाव की और भ्रातृ-भाव की लहर प्राणियों में पैदा हो जाती है और तभी इस प्रकार के भव्य दृश्य नजर आते हैं।

इस स्थिति में आत्मा की महान् शक्ति का, बाह्य-जगत् और प्राणी-जगत पर प्रभाव पड़ना असम्भव नहीं है। न केवल जैन धर्म ही, अपितु संसार के प्रायः सभी धर्म इस प्रभाव का समर्थन करते हैं। योग-सूत्र का यह सूत्र ध्यान देने योग्य है—

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः।

—पतञ्जलि

जिस महान् साधक की आत्मा में अहिंसा की भावना प्रकृष्ट हो जाती है,

जिसके अन्तःस्तल के हृदय सरोवर में प्रेम, दया, करुणा एवं सहानुभूति की लहरें उछालें मारने लगती हैं, उसके आस-पास का वायु-मंडल इतना अधिक सात्विक, पावन और प्रभाव-जनक बन जाता है, कि परस्पर विरोधी जन्म-जात शत्रु भी अपनी वैर-भावना का परित्याग कर बन्धु-भाव से हिलमिल कर साथ-साथ बैठ जाते हैं।

इस प्रकार के विधानों और कथानकों पर आज का मानव विश्वास करते हुए हिचकिचाता है। इसका वास्तविक कारण यह नहीं है, कि ये कथाएँ विश्वास करने योग्य नहीं हैं। वास्तविक कारण यह है, कि आज आत्मा के गौरव की गाथाएँ फीकी पड़ गई हैं, क्योंकि आज का मनुष्य वासना के चंगुल में इतनी बुरी तरह से फँस गया है, अपनी ही बुरी वृत्तियों का ऐसा गुलाम हो गया है, कि वह अपने महान् व्यक्तित्व को भुला बैठा है। वास्तव में उसका यह अविश्वास आज की उसकी अपनी दयनीय दशा का द्योतक है और इस बात को प्रकट करता है, कि वह अधःपतन की बहुत गहराई में पैठ चुका है।

किन्तु हम, जो उन पुरानी परम्पराओं के प्रति अपनी निष्ठा रखते हैं, और उनमें रस लेते हैं, आज भी उन घटनाओं पर विश्वास रखते हैं और सीता एवं सोमा की कहानी को कहानी न मानकर, एक परम सत्य मानते हैं।

द्रौपदी के उस महान् चरित्र-वैभव को भी हम नहीं भूल सकते, जो एक दिन दुर्योधन की सभा में सूर्य की भाँति चमक उठा था ? द्रौपदी को नग्न करने का प्रयत्न किया जा रहा है, शरीर से खींचे गए वस्त्रों का ढेर लग जाता है, और दुष्ट दुःशासन के हाथ, जो हजारों का क़त्ल करने के बाद भी ढीले नहीं पड़े थे, वस्त्र खींचते-खींचते थक जाते हैं, मगर द्रौपदी की साड़ी का कहीं अन्त दिखाई नहीं देता। दुःशासन के हजार प्रयत्न करने पर भी द्रौपदी नग्न नहीं हो सकी।

हम अनुभव करते हैं, कि किसी भी भयंकर पदार्थ को देखने पर जिसमें भय की वृत्ति है, वही प्रभावित होता है, और जिसमें भय की भावना नही है,-वह प्रभावित नही होता । बल्कि यों कहना चाहिए, कि भयंकर कहलाने वाला पदार्थ उसी के लिए भयकर है, जिसके अन्तःस्तल मे भय की भावना है । निर्भय के लिए भयकर पदार्थ दुनिया में कोई है ही नहीं ।

इसी प्रकार किसी व्यक्ति के अन्दर यदि द्वेष है, तो वह बाहर में भी द्वेष से प्रभावित होगा । यदि द्वेष नही है, तो नही होगा । भगवान् महावीर के समवसरण में दो-दो साधुओं की हत्या होती है, तेजोलेश्या का प्रयोग किया जाता है, और आग की ज्वालाएँ चक्कर काटती हैं, एक तरह से समवसरण मे हंगामा मच जाता है । यह सब होता है, किन्तु जब हम उस महान् पुरुष महावीर को देखते हैं, तो क्या देखते हैं, कि गोशाला के आने से पहले जो प्रशान्त-भाव उनके मुख चन्द्र से झलक रहा था, वही दो साधुओ के भस्म हो जाने पर भी झलकता रहता है । इस पर हम समझते हैं, कि जो बाहर से प्रभावित होने वाले थे, वे तो प्रभावित हो गए । किन्तु जिनके मन मे राग द्वेष नही रहा था, जिनका मन स्वच्छ और निर्मल बन चुका था, उन पर कोई प्रभाव नही पड़ा । इसका अर्थ यह है कि यदि अन्दर मे वृत्तियाँ होंगी, तो बाहर के जगत् से प्रभावित हो जाएगा और यदि अन्दर में वृत्तियाँ नही हैं, तो वह बाहर से प्रभावित नहीं होगा ।

साथ ही अन्दर के जगत् से बाह्य जगत् किस प्रकार प्रभावित होता है, यह बतलाने के लिए अभी मैंने सीता, सोमा, और द्रौपदी के जीवन की घटनाएँ आपके सामने रखी हैं । थोड़ी देर के लिए हम इन घटनाओ की उपेक्षा भी कर दें, तो भी चेतना के बाह्य जगत् पर पड़ने वाले प्रभाव को साबित करने वाले तर्कों का टोटा नही है । हमारे यहाँ भय का भूत प्रसिद्ध है, और यह भी प्रसिद्ध है, कि यह कल्पना का भूत कभी-कभी मनुष्य के प्राणों तक का ग्राहक बन जाता है । वह क्या चीज है ? वास्तव में अन्दर की चेतना ही वहाँ बाह्य शरीर आदि को इस रूप में प्रभावित और उत्तेजित करती है, जिस से स्वयं उसका अपना ही जीवन आक्रान्त हो जाता है ।

इस रूप में ब्रह्मचर्य की जो कहानियाँ हैं, उनके सामने हमारा सिर झुक जाता है, हम उनका अभिनन्दन करते हैं और वे सही हैं, और सही ही रहेंगी । वे कहानियाँ संसार के इतिहास में अजर और अमर रहेंगी; जन-समाज के जीवन को युग-युग तक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा देती रहेगी ।

ब्रह्मचर्य की प्रशंसा कौन नहीं करता ? हमारे शास्त्र ब्रह्मचर्य की महिमा का गान करते हुए कहते हैं—

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बंभयारि नमंसंति, दुक्करं जे करेन्ति तं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १६

—जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त दैवी शक्तियाँ उनके चरणों में सिर झुका कर खड़ी हो जाती हैं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी के चरणों में सभक्तिभाव नमस्कार करते हैं।

परन्तु हमें यह जानना है, कि ब्रह्मचर्य कैसे प्राप्त किया जाता है और किस प्रकार उसकी रक्षा हो सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए एक बात पहले समझ लेना चाहिए। वह यह है, कि ब्रह्मचर्य का भाव बाहर से नहीं लाया जाता है। यह तो अन्दर में ही है, किन्तु विकारों ने उसे दबा रक्खा है।

जैनधर्म ने यही कहा है कि चैतन्य जगत् में ऐसी कोई भी नयी चीज नहीं है, जो इसमें मूलतः न हो। केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की जो महान् ज्योति मिलती है, उसके विषय में कहने को तो कहते हैं, कि वह अमुक दिन और अमुक समय मिल गई, किन्तु वास्तव में कोई नवीन चीज़ नहीं मिलती है। हम केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन और दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों के लिए आविर्भाव शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः केवल-ज्ञान आदि शक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, आविर्भूत होती हैं। उत्पन्न होने का अर्थ नयी चीज का बनना है और आविर्भाव का अर्थ है—विद्यमान वस्तु का, आवरण हटने पर प्रकट हो जाना।

जैनधर्म प्रत्येक शक्ति की उत्पत्ति के लिए प्रादुर्भाव एवं आविर्भाव शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि किसी वस्तु में कोई भी अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न नहीं होती है। सदा सद्रूप शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं।

आत्मा की जो शक्तियाँ हैं वे अन्तर में विद्यमान हैं, किन्तु वासनाओं के कारण दबी रहती हैं। हमारा काम उन वासनाओं को दूर करना है। इसी को साधना कहते हैं। जैसे किसी-धातुपात्र को जंग लग गई है, और जंगके कारण उसकी चमक कम हो गई है, तो चमक लाने के लिए मांजने वाला उसे घिसता है, जंगको दूर करता है। ऐसा करके वह कोई नयी चमक उसमें नहीं पैदा करता है। उस पात्र में जो चमक विद्यमान है, और जो जंग के कारण से दब गई या छिप गई है, उसे प्रकट कर देना ही मांजने वाले का काम है। सोना, कीचड़ में गिर गया है और उसकी चमक छिप गई है। उसे साफ करने वाला सोने में कोई नयी चमक बाहर से नहीं डाल रहा है, सोने को सोना नहीं बना रहा है, सोना तो वह हर हालत में है ही। जब कीचड़ में नहीं पड़ा था, तब भी सोना था और जब कीचड़ से लथ-पथ हो गया, तब भी सोना ही

है, और जब साफ कर लिया गया, तब भी सोने का सोना ही है। उसमें चमक पहले भी थी और बाद में भी है। बीच मे भी थी, परन्तु जब वह कीचड़ में लथ-पथ हो गया, तो उसकी चमक दब गई। माँजने वाले ने बाहर से लगी हुई कीचड़ को साफ कर दिया, आए हुए विकार को हटा दिया, तो सोना अपने असली रूप मे आ गया।

आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, उनके विषय में भी जैनधर्म की यही धारणा है। जैनधर्म कहता है कि वे गुण बाहर से नही आते हैं, वे अन्दर में ही रहते हैं। परन्तु काम-क्रोधादि विकार उनकी चमक को दबा देते हैं। साधक का यही काम है, कि उन विकारों को हटा दे। हट जाएँगे, तो आत्मा के गुण अपनी असली आभा को लेकर स्वयं चमकने लगेंगे।

हिंसात्मक विकार को साफ करेंगे, तो अहिंसा चमकने लगेगी। असत्य का सफाया करेंगे, तो सत्य चमकने लगेगा। इसी प्रकार स्तेय-विकार को हटाने पर अस्तेय और विषय-वासना को दूर करने पर संयम की ज्योति हमें नजर आने लगेगी। जब क्रोध को दूर किया जाता है, तो क्षमा प्रकट हो जाती है और लोभ को हटाया जाता है, तो सन्तोष गुण प्रकट हो जाता है। अभिमान को दूर करना हमारा काम है, किन्तु नम्रता पैदा करना कोई नया काम नही है। वह तो आत्मा में मौजूद ही है। इसी प्रकार माया को हटाने के लिए हमें साधना करना है, सरलता को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नही है। सरलता तो आत्मा का स्वभाव ही है। माया के हटते ही वह उसी प्रकार प्रकट हो जाएगी, जैसे कीचड़ धुलते ही सोने में चमक आ जाती है।

जैन-धर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से गुण-स्थानों का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उच्चतर भूमिका के एक एक गुण-स्थान, उस महान् प्रकाश की ओर जाने के सोपान हैं। किन्तु उन गुण-स्थानों को पैदा करने की कोई बात नही बतलाई है। यही बताया है, कि अमुक विकार को दूर किया, तो अमुक गुण-स्थान आ गया। मिथ्यात्व को दूर किया, तो सम्यक्त्व की भूमिका पर आ गए और अविरति को हटाया तो पाँचवें-छठे गुण-स्थान को प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार ज्यों-ज्यो विकार दूर होते जाते हैं गुण-स्थान की उच्चतर श्रेणि प्राप्त होती जाती है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं विरक्ति आदि आत्मा के मूल-भाव हैं। यह मूल-भाव जब आते हैं, तब कोई बाहर से खींच कर नहीं लाए जाते। उन्हें तो केवल प्रकट किया जाता है। हमारे घर में जो खजाना गड़ा हुआ है, उसे खोद लेना मात्र हमारा काम है, उस पर लदी हुई मिट्टी को हटाने की ही आवश्यकता है। मिट्टी हटाई और खजाना हाथ लगा। विकार को दूर किया, और आत्मा का मूल-भाव हाथ आ गया।

इस प्रकार जैन-धर्म की महान् साधना का एक-मात्र उद्देश्य विकारों से लड़ना और उन्हें दूर करना ही है।

विकार किस प्रकार दूर किए जा सकते हैं? इस सम्बन्ध में भी जैन-धर्म ने निरूपण किया है। आचार्यों ने कहा है, कि यदि अहिंसा के भाव समझ में आ जाते हैं, तो दूसरे भाव भी समझ मे आ जाएँगे। इसके लिए कहा गया है कि बाहर में चाहे हिंसा हो अथवा न हो, हिंसा का भाव आने पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। इसी प्रकार जो असत्य बोलता है, वह अपने सद् गुणो की हिंसा करता है, और जो चोरी करता है, वह अपनी चोरी तो कर ही लेता है। सद्गुणो का अपहरण होना ही तो चोरी है। इस रूप में मनुष्य जब वासना का शिकार होता है, तब अन्तर में भी और बाहर में भी हिंसा हो जाती है। कोई विकार, चाहे बाहर मे हिंसा न करे, किन्तु अन्तर में हिंसा अवश्य करता है। दियासलाई जब रगड़ी जाती है, तो वह पहले तो अपने आपको ही जला देती है, और जब वह दूसरो को जलाने जाती है तो सम्भव है, कि बीच में ही बुझ जाए और दूसरों को न जलाने पाए। मगर दूसरो को जलाने के लिए पहले स्वयं को तो जलाना पड़ता ही है।

प्रत्येक वासना हिंसा है, ज्वाला है, और वह आत्मा को जलाती है। अपने विकारो के द्वारा हम तो नष्ट हो ही जाते हैं, फिर दूसरों को हानि पहुँचे या न पहुँचे। वातावरण अनुकूल मिल गया, तो दूसरों को हानि पहुँचा दी और न मिला तो हानि न पहुँचा सके। किन्तु अपनी हानि तो हो ही गई। दूसरों की परिस्थितियाँ और दूसरों का भाग्य हमारे हाथ में नहीं हैं। अगर वह अच्छा है, तो उन्हें हानि कैसे पहुँच सकती है? उन्हे कैसे जलाया जा सकता है? परन्तु दूसरे को जलाने का विचार करने वाला स्वयं को तो जरूर जला लेता है।

इस कारण हमारा ध्येय अपने विकारों को दूर करना है। प्रत्येक विकार हिंसा-रूप है और यह भूलना नहीं चाहिए, कि बाहर में चाहे हिंसा हो या न हो, पर अन्तर में हिंसा हो ही जाती है। अतएव साधक का दृष्टिकोण यही होना चाहिए, कि वह अपने विकारों से निरन्तर लड़ता रहे और उन्हें परास्त करता चला जाए।

विकारों को परास्त किया, कि ब्रह्मचर्य हमारे सामने आ गया। इस विवेचना से एक बात और समझ मे आ जानी चाहिए, कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आवश्यक है, कि हम दूसरी इन्द्रियों पर भी संयम रक्खें, अपने मन को भी काबू में रखें।

आप ब्रह्मचर्य की साधना तो ग्रहण कर लें, किन्तु आँखो पर अंकुश न रखें, और बुरे से बुरे दृश्य देखा करें, तो क्या लाभ? आँखों में जहर भरता रहे, और संसार के रंगीन दृश्यों का मजा बाहर से लिया जाता रहे, और इधर ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रखने का मंसूबा भी किया जाए, यह असम्भव है।

भगवान् महावीर का मार्ग कहता है, कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए समस्त इन्द्रियों पर अंकुश रखना चाहिए। हम अपने कानों को इतना पवित्र बनाए रखने का प्रयत्न करें, कि जहाँ गाली-गलौज का वातावरण हो और बुरे से बुरे शब्द सुनने को मिल रहे हों, वहाँ भी हम विचलित न हों, विपरीत वातावरण से प्रभावित न हो। यदि शक्ति है, तो वातावरण को बदल दें, या उससे प्रभावित न हों, और यदि इतनी शक्ति नहीं है, तो साधक के लिए उससे अलग रहना ही श्रेयस्कर है। हमे कानों के द्वारा कोई भी विकारोत्तेजक दूषित शब्द मन में प्रविष्ट नही होने देना चाहिए।

जब एक बार गन्दे शब्द मन मे प्रवेश पा जाते हैं, तब वहाँ वे जड भी जमा सकते हैं। वे मन के किसी भी कोने में जम सकते है और धीरे-धीरे पनप भी सकते हैं, क्योकि मन जल्दी भूलता नही है। जो शब्द उसके भीतर गूँजते रहते हैं, अवसर पाकर अनजान में ही वे जीवन को आक्रान्त कर लेते हैं। अतएव ब्रह्मचर्य के साधक को अपने कान पवित्र रखने चाहिएँ। वह जब भी सुने, पवित्र बात ही सुने, और जब कभी प्रसंग आए, तो पवित्र बात ही सुनने को तैयार रहे। गन्दी बातों का डट कर विरोध करना चाहिए, मन के भीतर भी और समाज के प्रागण मे भी। घरों में गाए जाने वाले गन्दे गीत तुरन्त ही बन्द कर देने की आवश्यकता है।

मुझे मालूम हुआ है कि विवाह-शादियो के अवसर पर बहुत-सी बहिनें गन्दे गीत गाती हैं। जहाँ विवाह का पवित्र वातावरण है, आदर्श है, और जब दो साथी अपने गृहस्थ-जीवन का मंगलाचरण करते हैं, उस अवसर पर गाए गए गन्दे गीत पवित्र वातावरण को कलुषित करते हैं, और मन में दुर्भाव उत्पन्न करते हैं।

जिस समाज मे इस प्रकार का गन्दा वातावरण है, बुरे विचार हैं और कलुषित भावनाएँ एवं परम्पराएँ हैं, उस समाज की उदीयमान सन्तति किस प्रकार सुसंस्कारी एव उज्ज्वल चरित्रशाली बन सकती है? जो समाज अपने बालकों और बालिकाओ के हृदय में गलत परम्पराओ के द्वारा जहर उँड़ेलता रहता है, उस समाज में पवित्र चारित्रशील और सत्व-गुणी व्यक्तियों का परिपाक होना कितना कठिन है?

आश्चर्य होता है, कि जिन्होने प्रतिदिन वर्षों तक सामायिक की, आगमो का प्रवचन सुना, वीतराग प्रभु और महान् आचार्यों की वाणी सुनी और संतों की संगति एवं उपासना की, उनके मुख से किस प्रकार अश्लील और गन्दे गीत निकलते हैं? शिष्ट और कुलीन परिवार किस तरह इन गीतों को बर्दाश्त करते हैं? कोई भी शीलवान् व्यक्ति कैसे इन गीतों को सुनता है?

अश्लील गीत समाज के होनहार कुमारो और कुमारिकाओं के हृदय में वासना

की आग भड़काने वाले हैं, कुलीनता और शिष्टता के लिए चुनौती हैं, और समग्र सामाजिक वायु-मंडल को विषमय बनाने वाले हैं।

मैं नहीं समझ पाता, कि जो पुरुष और नारियाँ ऐसे अवसर पर इतनी निम्न मनोदशा पर पहुँच जाते हैं, उन्होंने वर्षों की अध्यात्म-साधना से क्या प्राप्त किया? उनकी साधना ने सचमुच ही अगर कोई आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न की थी, तो वह सहसा कहाँ गायब हो गई? इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है, कि उनकी वर्षों की साधनाएँ ऊपर की ऊपर ही रहीं। वे यों ही आईं और यो ही तैर गईं। उन्होंने जीवन को गहराई को कोई स्थायी दिव्य संस्कार नही दिया। यह निष्कर्ष भले ही कटु है, पर मिथ्या नहीं है, साथ ही हमारी आँखें खोल देने वाला भी है।

यह समझना गलत है, कि ये भद्दे गीत क्षणिक और मन की तरंग-मात्र हैं। जलाशय में जल की तरंग उठती हैं, पर तभी उठती हैं, जब उसमें जल जमा होता है। जहाँ जल ही न होगा, वहाँ जल-तरंग नहीं उठेगी। इसी प्रकार जिस मन में अपवित्रता और गन्दगी के कुसंस्कार न होगे, उस मन में अपवित्र गीत गाने की तरंग भी नहीं उठनी चाहिए। अतएव यही अनुमान किया जा सकता है, कि मन में विकार जमे बैठे थे, प्रसङ्ग आया तो बाहर निकल आए।

बहुत से लोग बात-बात में गालियाँ बकते हैं। उनकी गालियाँ उनकी असंस्कारिता और फूहड़पन को सूचित करती हैं, परन्तु यहीं उनके दुष्परिणाम का अन्त नहीं हो जाता। उनकी गालियाँ समाज मे कलुषित वायु-मण्डल का निर्माण करती हैं। उनकी देखा-देखी छोटे-छोटे बच्चे भी गालियाँ बोलना सीख जाते हैं। जिन फूलों को खिलने पर सुगन्ध देनी चाहिए, उनसे जब हम अभद्र शब्दों और गालियों की दुर्गन्ध निकलती देखते हैं, *तब दिल मसोस कर रह जाना पड़ता है। मगर बालकों की उन* गालियों के पीछे ये बड़े हैं, जो विचार-हीनता के कारण जब-तब अपशब्दों का प्रयोग करते रहते हैं।

जिस समाज में इस प्रकार की दूषित विचार-धारा बह रही हो, उस समाज की भविष्यकालीन अगली पीढ़ियाँ देवता का रूप लेकर नहीं आने वाली हैं। अगर आपके जीवन में से राक्षसी वृत्तियाँ नहीं निकली हैं, तो आपकी सन्तान में दैवी वृत्तियों का विकास किस प्रकार हो सकता है? देवता की सन्तान देवता बनेगी, राक्षसो की सन्तान देवता नहीं बन सकती।

यह बातें छोटी मालूम होती हैं, परन्तु छोटी-छोटी बातें भी समय पर बड़ा भारी असर पैदा करती हैं।

भारत के एक प्राचीन दार्शनिक आचार्य ने परमात्मा से बड़ी सुन्दर प्रार्थना करते हुए कहा है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः शरदः शतम् ।
भद्रमक्षिण्यपि पश्यामः शरदः शतम् ॥

—प्रभो, मैं अपने जीवन के सौ वर्ष पूरे करूँ, तो अपने कानों से भद्दी बातें न सुनूँ । भद्र बातें ही सुनूँ । अच्छी-अच्छी और सुन्दर बातें हीं सुनूँ । मेरे कानों में पवित्रता का प्रवाह सर्वदा बहता रहे ।

जो बात कानों के विषय में कही गई है, वही आँखों के विषय में भी कही गई है । कोई भी मनुष्य अपनी आँखों पर पर्दा डाल कर नही चल सकता । आँखें हैं, तो उनके सामने अच्छे-बुरे रूप का संसार आएगा ही । फिर भी हमें अपने महान् जीवन के अनुरूप विचार करना है, कि जब भी कोई अभद्र रूप हमारे सामने आए और हम देखें, कि हमारे मन में विकारों का बहाव आ रहा है, तो हम शीघ्र ही अपनी आँखें बन्द करलें, या अपनी निगाह दूसरी ओर कर लें । आँखो के द्वारा अमृत भी आ सकता है और विष भी आ सकता है, किन्तु हमें तो अमृत ही लेना है । संसार में बैठे हैं तो क्या हुआ, लेंगे तो अमृत ही लेंगे ।

एक वृक्ष है, उसमें फूल भी हैं और काँटे भी हैं । माली उनमें से फूल लेता है, काँटे नही लेता । हमे भी माली की तरह संसार में फूल ही लेने हैं, काँटे नही । संसार की अभद्रता हमारे लिए काँटे-स्वरूप है, वह त्याज्य है । कोई चाहे कि सारा संसार, अच्छा बन जाए तो मैं भी अच्छा बन जाऊँ, यह सम्भव नही है । दुनियाँ में दो रंग सर्वदा ही रहेंगे । अतएव हमें इस बात का ध्यान सर्वदा ही रखना चाहिए, कि संसार अच्छा बने या न बने, हमें तो अपने जीवन को अच्छा बना ही लेना है । यह नहीं कि हजारों दीवालिए दीवाला निकाल रहे हैं, तो एक साहूकार भी क्यों न दीवाला निकाल दे ? हाँ, संसार के कल्याण के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग भी करो, मगर संसार के सुधार तक अपने जीवन के सुधार को मत रोको । संसार की बातें संसार पर छोड़ो और पहले अपनी ही बात लो । यदि आप अपना सुधार कर लेते हैं, तो वह संसार के सुधार का ही एक अंग है । आत्म-सुधार के बिना संसार को सुधारने की बात करना एक प्रकार की हिमाकत है, अपने आपको और संसार को ठगना है । जो स्वयं को नही सुधार सकता, वह संसार को क्या सुधार सकता है ?

यह एक ऐसा तथ्य है, कि इसमें कभी विपर्यास नही हो सकता । जैन इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह सत्य अपनी अमिट छाप लिए बैठा है । तीर्थङ्करों की जीवनियों को देखिए । जब तक वे सर्वज्ञता और वीतरागता नही प्राप्त कर लेते, आत्मा के विकास की उच्चतम स्थिति पर नहीं पहुँच जाते, तब तक जग के उद्धार करने के प्रपंच से दूर ही रहते हैं । जब वे स्वयं शुद्ध स्थिति प्राप्त कर लेते है, तब कृत-कृत्य और कृतार्थ होकर जग का उद्धार करने में लग जाते हैं ।

इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हुए कहते हैं, कि हम आँखों से सौ वर्ष तक भद्र रूपों को ही देखें, भद्र दृश्यों के ही दर्शन करें। जो अभद्र रूप हैं, वे हमारी दृष्टि से सदा ओझल ही रहें।

जो साधक कानों से भद्र शब्द ही सुनेगा और आँखों से भद्र रूप ही देखेगा, और अभद्र शब्दों और रूपों से विमुक्त होकर रहेगा, उसका जीवन इतना सुन्दर बन जाएगा, कि वह प्रार्थना कर्ता आचार्य के शब्दों में, आध्यात्मिक शक्तियों की उपलब्धि के साथ दीर्घ आयु प्राप्त करेगा और शत-जीवी होगा।

यही कानों और आँखों का ब्रह्मचर्य है, और इसी से अन्दर के ब्रह्मचर्य को प्राप्त किया जा सकता है। कोई कानों और आँखों को खुला छोड़ दे, उन पर अंकुश न रखे, फिर चाहे कि उसमें आध्यात्मिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाएँ, यह असम्भव है। इसी कारण हमारे यहाँ ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ों का वर्णन आया है, और वह वर्णन बड़े ही सुन्दर रूप में है।

हमारे शरीर में जिह्वा भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मनुष्य का शरीर कदाचित् ऐसा बना होता, कि उसे भोजन की कभी आवश्यकता ही न होती और वह बिना खाये-पीये यों ही कायम रह जाता तो, मैं समझता हूँ, जीवन में नौ सौ निन्यानवे संघर्ष कम हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं है। शरीर आखिर, शरीर ही है और उसकी भोजन के द्वारा कुछ न कुछ क्षति-पूर्ति करनी ही पड़ती है।

संसार में भोजन की अच्छी-बुरी बहुत-सी चीजें मौजूद हैं। खाने की कोई चीज़ हाथ से उठाई, और मुँह में डाल ली। अब वह अच्छी है या बुरी है, इसका निर्णय कौन करे? उसकी परीक्षा कौन करे? यह सत्य कौन प्रकट करे? यह जीभ का काम है। वह वस्तु की सरसता एवं नीरसता का और अच्छेपन एवं बुरेपन का अनुभव करती है। इस प्रकार जिह्वा का काम खाद्य वस्तुओं की परख करना है। किन्तु आज उसका काम केवल स्वाद-पूर्ति करना ही बन गया है। खाने की चीज़ अच्छी है या नहीं, *परिणाम में सुखद है या नहीं, शरीर के लिए उपयोगी है या* अनुपयोगी, जीवन को बनाने वाली है या बिगाड़ने वाली, इसका कोई विचार नहीं। बस, जीभ को अच्छी लगनी चाहिए। जीभ को जो अच्छा लगा, सो गटक लिया। इस प्रकार खाने की न कोई सीमा रही है, न मर्यादा रही है।

खाने के लिए जीना, जीवन का लक्ष्य नहीं है। खाने का अर्थ है, शरीर की क्षति और दुर्बलता की पूर्ति करना, और जीवन निर्माण के लिए आवश्यक शारीरिक शक्ति प्राप्त करना। जहाँ यह दृष्टि है, वहाँ ब्रह्मचर्य की विशुद्धि रहती है। जहाँ यह दृष्टि नहीं रहती, वहाँ जीभ निरंकुश होकर रहती है, मिर्च-मसालों की ओर लपकती है। इसीलिए कभी-कभी सीमा से अधिक खा लिया जाता है। तामसिक

भोजन और सात्विक भी मर्यादा से अधिक खा लेने से शरीर का रक्त खौलने लगता है और शरीर में गरमी आ जाती है। शरीर में गरमी आ जाने पर मन में भी गरमी आ जाती है। मन में गरमी आ जाती है, तो साधक भान भूल जाता है। जब भान भूल जाता है, तब साधना के सर्वनाश का दारुण दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आज का चौका देखो, तो मालूम होता है, कि घर के लोग खाने के सिवाय और कुछ भी नही जानते हैं। दुनिया भर का अगड़म-बगड़म वहाँ मौजूद रहता है। ऐसे अवसर भी देखने में आये हैं कि यदि सन्त वहाँ पहुँच गए और आग्रह स्वीकार कर लिया, तो उन चीजों को लेने-देने मे सहज ही आधा घंटा लग गया।

अभिप्राय यह है, कि मनुष्य ने स्वाद के लिए अनेकविध आविष्कार कर लिए हैं। भोजन के भाँति-भाँति के रूप तैयार कर लिए हैं। यह सब पेट के लिए नही, जीभ के लिए, स्वाद के लिए तैयार किए है। यह चार अंगुल का माँस का जो टुकड़ा (जीभ) है, उसका फैसला ही नही हो पाता। नाना प्रयत्न करने के पश्चात् भी जीभ तृप्त नही हो पाती। जीभ की आराधना के लिए मनुष्य जितना पचता है, और प्रयत्न करता है, उसका आधा प्रयत्न भी अगर वह जीवन या जन-कल्याण के लिए करे, तो उसका कल्याण हो जाए। मगर इतना प्रयत्न करने पर भी यह कहाँ सन्तुष्ट होती है? वह तो जब देखो तभी लार टपकाती रहती है, अतृप्त ही बनी रहती है। मनुष्य माँस के इस जरा से टुकड़े की तृप्ति के पीछे अपनी सारी जिन्दगी को बर्बाद कर देता है।

बचपन के दिन निकल जाते है, जवानी भी आकर चली जाती है, और बुढ़ापे के दिन आ जाते हैं, तब भी बचपन की वृत्तियों से छुटकारा नहीं मिलता है। बुढ़ापे में भी खाने के लिए लड़ाइयाँ मची रहती हैं, संघर्ष होते हुए देखे जाते हैं।

यह स्थिति देखकर विचार होता है, कि साठ-सत्तर वर्ष की लंबी जिन्दगी में मनुष्य ने क्या सीखा है? कभी-कभी पुराने संतों को भी हम जिह्वा-वश-वर्ती हुआ देखते हैं। आहार आया और उनके सामने रख दिया गया। वे कहते हैं 'क्या लाए? कुछ भी तो नही लाए।' बुढ़ापे में भी जिसकी यह वृत्ति हो, उसने जीवन के बहुमूल्य सत्तर वर्ष व्यतीत करने के बाद भी क्या पाया है? रोटी आई है, दाल-शाक आया है, फिर भी कहते हैं, कुछ नही आया। इसका अर्थ यह है, कि पेट के लिए तो सब कुछ आया है, पर, जीभ के लिए कुछ नहीं आया।

इस चार अंगुल की जीभ पर नियंत्रण न कर सकने के कारण ही कभी-कभी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। जीभ के सम्बन्ध में जब विचार करते हैं, तब एक बात याद आ जाती है।

समर्थ गुरु रामदास वैष्णव सन्त थे। उन्होंने एक जगह चौमासा किया। आप

जानते हैं, कि जहाँ नामी गुरू आते हैं, वहाँ भक्त भी पहुँच ही जाते हैं। एक युवक व्यापारी था, और अच्छे घर का लड़का था। वह और उसकी पत्नी रामदासजी के भक्त हो गए और प्रतिदिन उनके आध्यात्मिक उपदेश सुनने लगे। इधर आध्यात्मिक उपदेश सुनते थे, और उधर घर में यह हाल था, कि खाने के लिए रोज लड़ाई होती थी। युवक चटोरी प्रकृति का था। किसी दिन रोटी सख्त हो गई, तो कहता 'रोटी क्या है, यह तो पत्थर है।' जरा नरम रह गई, तो बोलता—'आज तो कच्चा आटा ही घोल कर रख दिया है।'

इस प्रकार पति-पत्नी में प्रतिदिन संघर्ष मचा रहता था। एक दिन भोजन के सम्बन्ध में कहासुनी होते समय, युवक ने रोष में कहा—"इससे तो साधु बन जाना ही अच्छा है।"

युवक ने जब यह बात कही, तो उसकी पत्नी डर गई। उसे ख्याल आया कि कहीं सचमुच ही यह साधु न बन जाएँ।

भोजन के प्रश्न पर फिर किसी दिन कहा-सुनी हो गई। अब की बार युवक ने क्रोध में आकर थाली को ऐसी ठोकर लगाई कि रोटी कहीं और दाल कहीं जाकर पड़ी। "बस, भोग चुके गृहस्थी का सुख। हाथ जोड़े इस घर को। अब तो साधु ही बन जाना है"—यह कहता हुआ घर से बाहर हो गया।

इस प्रकार वह घर से निकला और सीधा बाजार का रास्ता नापता हुआ हलवाई की दूकान पर पहुँचा। वहाँ उसने खूब पेट भर कर मिष्टान्न खाए। मगर बेचारी स्त्री के लिए यह समस्या कितनी कठिन थी? युवक ने तो बाजार में खूब मजे से अपना पेट भर लिया, मगर स्त्री बेचारी क्या करती? वह उसके बिना खाए कैसे खाती? उसे भूखा रह कर ही दिन गुजारना पड़ा।

दूसरी बार फिर भी इसी प्रकार की घटना घटी। संयोगवश उस दिन समर्थ गुरु रामदास भी वहाँ पहुँच गए। उन्हें देख कर स्त्री ने सोचा—"कहीं इन्हीं के पास न मुँड़ जाएँ"—और वह जोर-जोर से रोने लगी।

गुरु विचार में पड़ गए। स्त्री फफक-फफक रो रही थी। और जब उन्होंने रोने का कारण पूछा, तो वह और ज्यादा रोने लगी। गुरू ने कहा—"आखिर बात क्या है? घर में तुम दो प्राणी हो और वर्षों से साथ-साथ रह रहे हो। फिर भी दृष्टिकोण में मेल क्यों नहीं बिठा सके।"

तब स्त्री ने कहा—"उनको मेरे हाथ का बना खाना अच्छा नहीं लगता है, और कहते हैं, कि वह साधु बन जाएँगे।"

गुरू ने यह बात सुनी तो कहा—"तुम यह डर तो मन से निकाल दो। क्योंकि मियाँ की दौड़ मस्जिद तक ही है। साधु बनने के लिए, आएगा तो मेरे पास

हो। मैं देख लूंगा, कि वह कैसा साधु बनने वाला है। अबकी बार यदि तुझे धमकी दे, तो तू साफ कह देना, कि साधु बनना है, तो बन क्यों नहीं जाते !" इतना कह कर गुरू लौट गए।

एक दिन जब फिर वैसा ही प्रसंग आया, तो युवक ने कहा—"इससे अच्छा, तो मैं साधु ही न बन जाऊँ।"

पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार, स्त्री ने कह दिया कि रोज़-रोज़ साधु बनने का डर दिखलाने से क्या लाभ है ? आपको साधु बनने में ही सुख मिलता हो, तो आप साधु बन जाइए। मैं किसी न किसी तरह अपना जीवन चला लूँगी।"

इस पर युवक ने कड़क कर कहा—"अच्छा, यह बात है, तो अब मैं जरूर साधु बन जाऊँगा।"

यह कह कर वह घर से निकल पड़ा और आवेश मे सीधा समर्थ गुरू रामदास के पास जा कर बैठ गया। बहुत देर तक बैठा रहा। आखिर, अपना अभिप्राय गुरु चरणों में निवेदन किया। रामदास ने प्रसन्न भाव से कहा, बहुत अच्छा। और अपने काम में लग गए। भोजन का समय हो चुका था, युवक भूख से तिल मिलाने लगा। लाचार होकर उसने गुरू से कहा—"आज आहार लेने क्यों नहीं पधारे ?"

गुरू ने कहा—"आज चेला आया है, इस कारण हमें बड़ी प्रसन्नता है। आज आहार नहीं लाना है, शिष्य-प्राप्ति की खुशी में व्रत रखेंगे।"

युवक के लिए तो एक-एक पल, पहर की तरह कट रहा था। उसने कहा—"गुरुदेव, भूख के मारे मेरी तो आँतें कुल-बुला रही हैं। अपने लिए नहीं, तो मेरे लिए ही कुछ भोजन का प्रबन्ध कर दीजिए।"

रामदास जी ने-कहा—"अच्छा, नीम के पत्ते सूंत लाओ और उन्हें अच्छी तरह पीस कर गोले बना लो।"

युवक ने आज्ञानुसार नीम के पत्ते पीस कर गोले (लड्डू) बना लिए।

वह सोचने लगा—"नीम खाने की चीज तो है नहीं। किन्तु गुरू योगी हैं, उनके प्रभाव से कड़वें गोले मीठे बन जाएँगे।"

गोले तैयार हो गए तो गुरू ने कहा—"अब तुम्हें जितना खाना हो, खा लो। बहुत अच्छी चीज है, तुम्हें आनन्द आएगा।"

युवक ने प्रसन्न मन से ज्योंही एक गोला मुँह में डाला, तो कड़वा ज़हर, वमन हो गया। गुरू ने कहा—"दूसरा उठा कर खाओ। और यदि फिर वमन किया, तो देखना, यह डंडा तैयार है। यहाँ तो रोज यही खाने को मिलेगा।"

युवक ने कहा—"महाराज, यह तो नीम है, कड़वा ज़हर! इसे आदमी तो नहीं खा सकता।"

समर्थ रामदास ने एक लड्डू उठाया और मधुगोलक की तरह झट-पट खा लिया।

युवक ने कहा—"आप तो खा गए, पर मुझसे तो नहीं खाया जा सकता।"

गुरु ने कहा—"क्यों, इसी बल पर साधु बनने चला है? अरे मूर्ख, व्यर्थ ही उस लड़की को क्यों तंग किया करता है? तू साधु बनने का ढोंग क्यों करता है? इस तरह साधु बन कर भी क्या करेगा? साधु बन गया और बाद में गड़बड़ की तो ठीक नहीं होगा। जीभ के चटोरे साधु कैसे बन सकते हैं?"

अब युवक की अक्ल ठिकाने आई। वह चुपचाप घर लौट आया। फिर उसने यह देखना बन्द कर दिया, कि रोटी सख्त है या नरम है, कच्ची है या पक्की है। चुप-चाप शान्त भाव से, जैसा भी और जो भी मिलता, खाने लगा।

जिनके घर में खाने-पीने के लिए ही महाभारत का अध्याय चला करता है, वे भला ऊँचे जीवन की साधना कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अतएव जो साधना करना चाहते हैं, उन्हें खान-पान की लोलुपता को त्याग देना चाहिए, और आवश्यकता से अधिक भी नहीं खाना चाहिए।

हे मनुष्य, तू खाने के लिए नहीं बना है, किन्तु खाना तेरे लिए बना है। तुझे भोजन के लिए जीना नहीं है, जीने के लिए भोजन है। भोजन तेरे जीवन-विकास का साधन होना चाहिए। कहीं वह जीवन-विनाश का साधन न बन जाए।

इस प्रकार कान और आँख के साथ-साथ जो जीभ पर भी पूरी तरह अंकुश रखते हैं, वे ब्रह्मचर्य की साधना कर सकते हैं। जो अपनी जीभ पर अंकुश नहीं रखेगा, और स्वाद-लोलुप होकर चटपटे मसाले आदि उत्तेजक वस्तुओं का सेवन करेगा, जो राजस और तामस भोजन करेगा, उसका ब्रह्मचर्य निश्चय ही खतरे में पड़ जाएगा।

ब्रह्मचर्य की साधना जितनी उच्च और पवित्र है, उतनी ही उस की साधना में सावधानी की भी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता है और मनोनिग्रह की भी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के साधक को फूँक-फूँक कर पैर रखना पड़ता है। यही कारण है, कि हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने, ब्रह्मचारी के लिए अनेक मर्यादाएँ बतलाई हैं। शास्त्र में कहा है—

आलओ थीजणाइण्णो, थी-कहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तेसिमिन्दिय-दंसणं॥

कूइयं रुइयं गीयं, हासं भुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्त-पाणं च, अइमायं पाण-भोयणं॥
—उत्तराध्ययन सूत्र

स्त्री जनों से युक्त मकान में रहना वहाँ बहुत आवागमन रखना, स्त्रियों के सम्बन्ध को लेकर मनोमोहक बातें करना, स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना, बहुत घनिष्ठता रखना, उनके अंगोपांगों की ओर देखना, उनके कूजन, रुदन और गायन को मन लगा कर सुनना, पूर्व-भुक्त भोगोपभोगों का स्मरण किया करना। उत्तेजना-जनक आहार-पानी का सेवन करना और परिमाण से अधिक भोजन करना, यह सब बातें ब्रह्मचारी के लिए विष के समान हैं। और यही बात पुरुष-सम्पर्क को ले कर ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए भी समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है, कि कान, आँख, और जीभ पर तथा मन पर जो जितना काबू पा सकेगा, वह उतनी ही दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य की साधना के पथ पर अग्रसर हो सकेगा। इस रूप में जो जीवन को सीधा-साधा बनाएगा, उसमें पवित्रता की लहर पैदा हो जाएगी और वह अपने जीवन को कल्याणमय बना सकेगा।

ब्यावर,
१३-११-५०।

●

अध्यात्मिक-साधना की चरम परिणति निष्काम भाव में है। जब तक कामना के विषाक्त काँटे अन्तर्मन में खटकते रहते हैं, तब तक निराकुलता-स्वरूप सहज आनन्द कैसे उपलब्ध हो सकता है? कामना के काँटों को निकाले बिना आध्यात्मिक साधना के दिव्य भाव को गलने-सड़ने से कथमपि नहीं बचाया जा सकता!

सिद्धान्त-खण्ड

ब्रह्मचर्य की परिधि :

भारतीय धर्म और संस्कृति में, साधना के अनेक मार्ग विहित किए गए हैं, किन्तु, सर्वाधिक श्रेष्ठ और सबसे अधिक प्रखर साधना का मार्ग, ब्रह्मचर्य की साधना है। 'ब्रह्मचर्य" शब्द मे जो शक्ति, जो बल, और जो पराक्रम निहित है, वह भाषा-शास्त्र के किसी अन्य शब्द में नहीं है। वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य का एक स्थूल रूप है। ब्रह्मचर्य, वीर्य-रक्षा से भी अधिक कही गम्भीर एवं व्यापक है। भारतीय धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के तीन भेद किए गए हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। इन तीनों प्रकारों में मुख्यता मानसिक ब्रह्मचर्य की है। यदि मन में ब्रह्मचर्य नही है, तो वह वचन में एवं शरीर में कहाँ से आएगा। जो व्यक्ति अपने मन को संयमित नही रख सकता, वह कभी भी ब्रह्मचर्य की साधना में सफल नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्य की साधना एक वह साधना है, जो अन्तर्मन में अल्प विकार के आने पर भी खण्डित हो जाती है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'योग-शास्त्र' में ब्रह्मचर्य की परिभाषा करते हुए बताया है कि, '**ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभः**"। इसका अर्थ है कि जब साधक के मन में, वचन में और तन में, ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हो जाता है, स्थिर हो जाता है, तब उसे वीर्य का लाभ मिलता है, शक्ति की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य की महिमा प्रदर्शित करने वाले उपर्युक्त योग-सूत्र में प्रयुक्त वीर्य शब्द की व्याख्या करते हुए, टीकाकारों एवं भाष्यकारो ने वीर्य का अर्थ, शक्ति एवं बल भी किया है।

ब्रह्मचर्य शब्द मे दो शब्द हैं—ब्रह्म और चर्य। इसका अर्थ है—ब्रह्म में चर्या। ब्रह्म का अर्थ है, महान् और चर्या का अर्थ है-विचरण करना, रमण करना। जब साधक अपने जीवन के क्षुद्र क्षेत्र में विचरता है, अपने आपको प्रत्येक स्थिति मे क्षुद्र एवं हीन मानता है, तब उसकी चर्या, उसका गमन, ब्रह्म की ओर, परमात्म-भाव की ओर कैसे हो सकता है ? उस स्थिति में ब्रह्मचर्य का सम्यक् पालन नही किया जा सकता। क्योंकि क्षुद्र एव दीन-हीन संस्कारों में जीवन की विराटता एवं गरिमा की उपलब्धि असंभव है। क्षुद्र एवं हीन परिधि को छिन्न-भिन्न करके, पवित्र जीवन की विशालता और विराटता की ओर अग्रसर होना एवं अन्ततः उसमे रम जाना ही ब्रह्म-

दूषित वातावरण, प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों पर ही नहीं, बल्कि अधखिले कोमल बालक तथा बालिकाओं के मन को भी प्रभावित करता है। वे जिधर भी आंख उठाकर देखते हैं, उधर ही उन्हें हठात् खींच ले जाने वाले प्रलोभन उमड़ते-घुमड़ते हुए नजर आते हैं। उस लुभावने और वासनामय दृश्य को देखकर, वे अपने को रोक नहीं सकते। आगे चलकर वे भी उसी वासना के प्रवाह में प्रवाहित हो जाते हैं, जिसमें उनके माता और पिता, भाई और बहिन तथा अन्य परिजन प्रवाहित होते रहते हैं। नृत्य, संगीत, नाटक और आज का बहुरंगी सिनेमा—यह सब मिलकर कोमल मन की कोमल भावनाओं पर तीव्रतर आघात करते हैं। ग्रीक के महान् दार्शनिक प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात की शिक्षा का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "नाटक, संगीत और वासनामय खेल तमाशे, मनुष्य के मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। अतः मनुष्य को वासना भड़काने वाले नाटक नहीं देखने चाहिएं।" यहाँ कुछ लोग तर्क कर सकते हैं कि नाटक सिनेमा आदि के जहाँ कुछ अंश बुरे होते हैं, वहाँ कुछ अंश अच्छे एवं शिक्षाप्रद भी तो होते हैं। अतः नाटक आदि का एकान्ततः निषेध न्यायोचित नहीं है। इस सन्दर्भ में मुझे कहना है कि सर्व साधारण मानव का दूषित मन अच्छे संस्कारों को प्रथम तो शीघ्र ही ग्रहण नहीं कर पाता। यदि करता भी है, तो वे क्षणिक रहते हैं। जीवन के कर्तव्य क्षेत्र में बद्धमूल नहीं होते। मनोविज्ञान-शास्त्र के पण्डित विलियम जेम्स ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि, "एक रसियन महिला नाटक के दृश्य में सरदी से ठिठुरते हुए एक मनुष्य को देखकर आंसू बहाती रही, परन्तु उसके स्वयं के घोड़ा और कोचवान नाटकशाला के बाहर रूस के खून जमा देने वाले भयंकर पाले में मरते रहे।" यह घटना स्पष्टतः इस तथ्य को प्रकट करती है कि अधिकांश दर्शक केवल अपनी वासना की परितृप्ति के लिए ही नाटक और सिनेमा के दृश्यों को देखते हैं। उनके सुन्दर भावों को वे अपने मन पर अंकित नहीं कर पाते। प्रतिदिन नाटक अथवा सिनेमा देखने वाले, उसके दूरगामी भयंकर दुष्परिणाम की ओर आंखें खोलकर नहीं देख पाते। इसे आंखों के होते हुए भी आंखों का अन्धापन कहा जाता है। चक्षुष् इन्द्रिय का यह रूप-सम्बन्धी दुरुपयोग, भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों से भी छिपा हुआ न था। इसीलिए उन्होंने ब्रह्मचर्य के नियमों का वर्णन करते हुए, कहा—"नर्तनं, गीतं, वादनं च" अर्थात् ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को नृत्य, संगीत और वादन का उपयोग नहीं करना चाहिए। भारत के प्राचीन शास्त्रों में तो यहाँ तक भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले को अपना स्वयं का मुख भी दर्पण में नहीं देखना चाहिए। क्योंकि दर्पण के उपयोग से मन में सौन्दर्य आसक्ति की भावना उत्पन्न होती है। प्रौढ़ व्यक्ति ही नहीं, भोले भाले बालक एवं बालिकाएँ भी अपने मुख को दर्पण में देखकर अपने स्वयं के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते हैं। नेत्र-संयम ब्रह्मचर्य-पालन के लिए प्रथम सोपान है।

नेत्र-संयम का अर्थ है, नेत्र से सुन्दर और आकर्षक वस्तु देखकर भी, उस वस्तु में आसक्ति और लालसा उत्पन्न न होने देना। यदि इतना सामर्थ्य न हो तो, विकारोत्तेजक वस्तु के रूप-दर्शन से आँखों को बचाए रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

मनुष्य के पास दूसरों की बात को सुनने के लिए श्रोत्र है। श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। शब्द प्रिय भी होता है और अप्रिय भी होता है। अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है, प्रिय शब्द को सुनकर मनुष्य के मन में राग उत्पन्न हो जाता है और अप्रिय शब्द को सुनकर द्वेष उत्पन्न होता है। कामोत्तेजक अभद्र शब्द मनुष्य के मन में प्रसुप्त वासना को जागृत कर देता है। अतः ब्रह्मचर्य के साधक के लिए श्रोत्र-संयम नितान्त आवश्यक है। नृत्य देखने के साथ-साथ अभद्र संगीत सुनने का निषेध भी शास्त्रकारों ने किया है। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को अश्लील गाने एवं बजाने आदि का अधिकार नहीं है। क्योंकि गंदे गायन और वाद्य वासना उभारते हैं। एक मनोवैज्ञानिक ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि—"इसमें कोई सन्देह नहीं कि, भिन्न-भिन्न प्राणियों मे, विशेष रूप से कीट-पतंगों और पक्षियों में संगीत का उद्देश्य नर और मादा को परस्पर एक दूसरे के प्रति लुभाना ही होता है।" डार्विन महोदय ने भी इस विषय मे बहुत अनुसंधान किए हैं और वे भी अन्ततः उक्त निर्णय पर ही पहुँचे हैं। वर्तमान काल की गवेषणाओं से भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मधुर शब्दों तथा गीतों का परिणाम पक्षियों में नर और मादा का मिलन ही होता है। गीत तथा प्रेम के सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए, इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्राणि-जगत में नर तथा मादा में से एक को ही प्रकृति की ओर से मधुर स्वर दिया गया है, दोनों को नहीं। संगीत एवं मधुर शब्द सुनने की प्रवृत्ति जिस प्रकार पक्षियों में है, उसी प्रकार पशुओं में भी कम नहीं है। इस सम्बन्ध में डाक्टर एलिस ने कहा है कि—"जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि पशु-पक्षियों में ही नहीं, अपितु छोटे-से-छोटे जन्तु में भी, प्रसुप्त वासना रही हुई है। उसकी अभिव्यक्ति चेतना के विकास के साथ तथा प्राणी के अंग और इन्द्रियों के विकास के साथ अभिवृद्धि होती रहती है।" अस्तु, जो संगीत क्षुद्र जन्तु, पशु और पक्षियों पर वासनानुकूल प्रभाव डाल सकता है, वह मनुष्य पर क्यों नहीं डाल सकता? प्लेटो ने अपने 'काल्पनिक राज्य' नामक पुस्तक मे लिखा है कि—"पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी संगीत नहीं सिखाना चाहिए।" प्लेटो दो ही प्रकार के संगीत सिखाने के हक में हैं—एक युद्ध का और दूसरा प्रभु की प्रार्थना का। जब हम पशु, पक्षी और मनुष्य सभी में संगीत का सम्बन्ध, विषय-वासना को जागृत करने के साथ देखते हैं, तब प्राचीन ऋषियों का ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के जीवन के सम्बन्ध मे यह कहना कि उसे नृत्य और संगीत देखना और सुनना नहीं

है। उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्मचारी व्यक्ति को अपने गुप्त अंगों का स्पर्श बार-बार नहीं करना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में लिखा है कि—[1]ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार हेमन्त ऋतु का भयङ्कर शीत बिना अग्नि के नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार मनुष्य के मन का काम-भाव भी, बिना इन्द्रिय-निग्रह के नष्ट नहीं होता। इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने वाले प्राणियों की दुर्दशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि हथिनी के स्पर्श सुख की अपनी लालसा को पूरा करने के लिए, हाथी शीघ्र ही बन्धन को प्राप्त हो जाता है। अगाध जल में विचरण करने वाली मछली जाल में लगे हुए लोहे के काँटे पर संलग्न माँस को खाने के लिए ज्यों ही उद्यत होती है, त्योंही वह मच्छीमार के हाथ पड़ जाती है। गन्ध में आसक्त भ्रमर, मदोन्मत्त हाथी के कपोल पर बैठता है और उसके कान की फटकार से मृत्यु का शिकार हो जाता है। चमकती दीप-शिखा के प्रकाश पर मुग्ध होकर पतंग, ज्योंही दीपक पर गिरता है, त्योंही वह विकराल काल का ग्रास बन जाता है। मधुर गीत की ध्वनि को सुनकर हरिण, अपने पीछे आते हुए व्याध को देख नहीं पाता और उसके बाण का शिकार बन जाता है। इस प्रकार स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय का विषय भी जब मृत्यु का कारण बन जाता है, तब एक साथ पाँचों इन्द्रियों का सेवन मृत्यु का कारण क्यों नहीं होगा? अतः ब्रह्मचारी व्यक्ति को इन पाँच प्रकार के विषयों से, इनकी आसक्ति से बचते रहना चाहिए।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'योगदर्शन' में इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिरोध का उपदेश देते हुए कहा कि ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को, इन्द्रियजन्य भोगों की आसक्ति से और उनके विषयों की लालसा से बचते रहना चाहिए, अन्यथा वह अपने ब्रह्मचर्य की साधना में सफल नहीं हो सकेगा।

ब्रह्मचर्य की साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए, इन्द्रिय-निग्रह की अपेक्षा भी, मनोनिरोध को अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि मनुष्य का मन अत्यन्त वेग-शील और बड़ा ही विचित्र है। भारतीय दर्शन में मन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है। संकल्प और विकल्प मन के धर्म हैं, मन की वृत्तियाँ हैं। मनुष्य की मनोभूमि में अच्छे और बुरे, दोनों ही प्रकार के विचार पैदा होते रहते हैं। एक क्षण के लिए भी, मनुष्य का मन कभी निष्क्रिय होकर नहीं

१. योग-शास्त्र, चतुर्थ प्रकाश, श्लोक २४-३३

सच्ची साधना है। मन सध गया, तो सब कुछ सध गया और मन नहीं सधा तो कुछ भी नहीं सधा। मन का निरोध किए बिना जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य-योग की साधना करने का निश्चय करता है, वह उसी प्रकार हँसी का पात्र बनता है, जैसे एक पंगु व्यक्ति एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने की इच्छा करके हास्यास्पद बन जाता है। जो साधक मन का निरोध नहीं कर पाता, वह इन्द्रिय का निग्रह भी नहीं कर सकता, और जो मनोनिरोध और इन्द्रिय का निग्रह नहीं कर सकता, वह ब्रह्मचर्य का पालन भी नहीं कर सकता। केवल किसी एक इन्द्रिय का निग्रह कर लेना ही ब्रह्मचर्य नहीं है, बल्कि समस्त इन्द्रियों और मन को विषयों से हटाना ही ब्रह्मचर्य की परिधि है, ब्रह्मचर्य की परिसीमा है। धर्म-शास्त्रों में इसी को ब्रह्मचर्य-योग कहा गया है।

●

वासना का प्रभाव दुर्बल मन के व्यक्ति पर ही पड़ता है। चोर का काम अँधेरे में है, उजाले में नहीं।

वासना एक कसौटी है—अग्नि सोने को परखती, है, और वासना मनुष्य के मन को।

वासना खोटे सोने के समान चमती तो बहुत है, परन्तु परीक्षा की आग में पड़कर यह चमक स्थिर नहीं रहती।

सिद्धान्त-खण्ड | २

शरीर-विज्ञान : ब्रह्मचर्य

भारतीय धर्म और संस्कृति में साधना का आधार, शरीर माना गया है। शरीर भौतिक है, पंचभूतों से बना है, किन्तु हमारी अध्यात्म साधना में इसका एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शरीर की शक्ति का केन्द्र है, वीर्य एवं शुक्र। शरीर-विज्ञान में कहा गया है कि मनुष्य के शरीर का तत्व भाग वीर्य है। शरीर के इस महत्वपूर्ण अंश को अन्दर ही खपा कर, उसे किसी रचनात्मक कार्य में लगाना ही, इसका अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी बनाना है। वीर्य के विनाश से, मनुष्य के जीवन का सर्वतोमुखी पतन एवं ह्रास होता है। अतः वीर्य रक्षा की साधना एक महत्वपूर्ण साधना है। वीर्य-संरक्षण से पूर्व यह समझना चाहिए कि, वीर्य क्या वस्तु है? वीर्य की उत्पत्ति, स्थिति और सम्पूर्ण शरीर में प्रसृति के विषय में आयुर्वेद-शास्त्र एवं पाश्चात्य विज्ञान में जो कुछ कहा गया है, अथवा इस विषय पर लिखा गया है, उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दिया जा रहा है :

आयुर्वेद-शास्त्र :

भुक्त पदार्थ से पहले जो तत्व बनता है, उसे रस कहते हैं।[१] रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है। शरीर रूपी यन्त्र में वीर्य-निर्माण, सातवीं मञ्जिल पर होता है। इसके बनाने में शरीर को जीवन के लिए आवश्यक अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना पड़ता है। रस की अपेक्षा रक्त में तत्व भाग अधिक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सार भाग बढ़ता ही जाता है। शरीर की भौतिक शक्तियों का अन्तिम सार तत्व, पुरुष में वीर्य एवं स्त्री में रज है। थोड़े से वीर्य को बनाने के लिए पर्याप्त मात्रा में रक्त की आवश्यकता पड़ती है। आयुर्वेद के सिद्धान्त को अनेक पाश्चात्य पण्डितों ने भी स्वीकार किया है। डा० कोवन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में—The science of a new life' में लिखा है कि—"शरीर के किसी भाग में से यदि चार औंस रुधिर

१. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसाद् मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं
—अष्टांग-हृदय, अध्याय ३, श्लोक ६

निकाल लिया जाए, तो वह एक औंस वीर्य के बराबर होता है। चार औंस रुधिर से एक औंस वीर्य बनकर तैय्यार होता है।" अमरीका के प्रसिद्ध शरीर-विज्ञान-शास्त्री मैकफेडन ने अपनी पुस्तक—'Manhood and marriage' में उक्त विचार का समर्थन किया है। परन्तु एक शरीर-विज्ञान-शास्त्री कहता है, कि "चालीस औंस रुधिर से एक औंस वीर्य बनता है।" हो सकता है कि इस विषय में पूरा लेखा-जोखा अभी तक न लग पाया हो, फिर भी इतना तो सत्य है कि थोड़े से भी वीर्य को उत्पन्न करने के लिए रक्त की बहुत बड़ी मात्रा अपेक्षित रहती है। भारतीय शरीर-विज्ञान-शास्त्रियों का कहना है कि वीर्य के बनने में उससे चालीस, पचास अथवा साठगुना अधिक रुधिर काम में आ जाता है। जब रुधिर में शरीर को जीवित अथवा मृत बना देने की शक्ति है, तब वीर्य में जो रुधिर का भाग है, वह शक्ति निश्चित रूप में कई गुनी अधिक होनी ही चाहिए। आयुर्वेद का कथन है कि रुधिर से वीर्य की अवस्था तक पहुँचने में सात मञ्जिलें तय करनी पड़ती हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, अन्त में रक्त से वीर्य किस प्रकार बन जाता है, इस विषय पर आयुर्वेद में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस विषय में अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही परिचय दिया जा रहा है। आयुर्वेद-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान वाग्भट्ट ने कहा है कि—[२] "शरीर में वीर्य का होना ही जीवन है। रस से लेकर वीर्य तक सात धातुओं का जो तेज है, उसे ओजस् कहते हैं। ओजस् मुख्यतया हृदय में रहता है, फिर भी वह समग्र शरीर में व्याप्त रहता है। शरीर में जैसे-जैसे ओजस् की अभिवृद्धि होती है, वैसे-वैसे ही पुष्टि, तुष्टि और शक्ति की उत्पत्ति बढ़ती जाती है। ओजस् के ह्रास से ही मनुष्य का मरण होता है, क्योंकि यह ओजस् ही मनुष्य के भौतिक जीवन का आधार है। इसी से प्रतिभा, मेधा, बुद्धि, लावण्य, सौन्दर्य एवं उत्साह की प्राप्ति होती है। परन्तु प्रश्न है कि यह ओजस् तत्व शरीर में कहाँ से आता है? इस प्रश्न का समाधान, महर्षि सुश्रुत ने इस प्रकार दिया है—[३] "रस से शुक्र तक सात धातुओं के परम तेज भाग को ओजस् कहते हैं। यही बल है और

---

२. ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देह-स्थिति-निबन्धनम्॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टि-पुष्टि-बलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देह-संश्रयाः।
उत्साह-प्रतिभा-धैर्य-लावण्य—सुकुमारताः॥

—वाग्भट्ट

३. रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलम्।

—सूत्रस्थान १५,१६

यही शक्ति है।" यह ओजस् कैसा है और कहाँ रहता है, इस विषय में शार्ङ्गधर का कथन है कि—[4]"यह ओजस् समग्र शरीर में रहता है। यह स्निग्ध, शीतल, स्थिर, श्वेत और सोमात्मक होता है। यह शरीर को बल और पुष्टि देने वाला है।" इससे यह सिद्ध होता है कि ओजस् तत्व की उत्पत्ति वीर्य से ही होती है। अतः मनुष्य के शरीर में वीर्य ही जीवन का मुख्य आधार है, यही जीवन का प्रधान उत्पादन है और यही जीवन का प्रमुख अवलम्बन है। प्रश्न होता है कि वीर्य क्या है? उसका क्या स्वरूप है और उसकी उत्पत्ति का मूल आधार क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए, आयुर्वेद के आचार्यों ने कहा है कि शरीर में सप्त धातुओं का रहना परम आवश्यक है। क्योंकि ये सप्त धातु ही, भौतिक जीवन के आधार बनते हैं। सुश्रुत के अनुसार वे सप्त धातु इस प्रकार हैं—[5]"रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। ये सात धातु मनुष्य के शरीर में स्थिर रह कर उसके जीवन को धारण करते हैं। धातु का अर्थ है—धारण करने वाला तत्त्व। मनुष्य जो कुछ भी खाता-पीता है और शरीर पर लगाता एवं सूँघता है, वह सब कुछ शरीर में पहुँच कर सबसे पहले उसमें से रस बनता है, फिर क्रम से शुक्र। भोजन का सबसे पहले रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से सातवाँ पदार्थ, जो सबका सारभूत है, वीर्य बनता है। यही वीर्य ओजस् एवं तेजस् होकर समग्र शरीर में फैल जाता है। इसी को जीवन-शक्ति भी कहा है।

अब सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि भोजन खाने से लेकर, वीर्य बनने तक कितना समय लगता है? इस प्रश्न का समाधान आयुर्वेद-शास्त्र में, इस प्रकार दिया गया है कि एक धातु से दूसरी धातु के बनने में पाँच दिन लगते हैं। भोजन करने के बाद भोजन का सार भाग तो शरीर में रह जाता है और पाचन की प्रक्रिया से बचा हुआ शेष असार भाग कूड़ा-कचरा मल-मूत्र, पसीना, मल, नाखून और बाल आदि के रूप में बाहर निकल आता है। वीर्य बनते ही उसकी पाचन-क्रिया रुक जाती है और वह सार भाग, ओजस् एवं तेजस् के रूप में शरीर में स्थित रहता है। इस प्रकार रस से लेकर वीर्य बनने तक प्रत्येक धातु के परिपक्व होने में पाँच दिन के हिसाब से छह धातुओं के पाचन में एवं परिपक्व होने में तीस दिन लगते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो भोजन आज किया गया है, उसका वीर्य बनने में इकत्तीस दिन लगते

---

४. ओजः सर्व-शरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम्।
सोमात्मकं शरीरस्य बल-पुष्टिकरं मतम्॥

५. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्र-सम्भवः॥

—सूत्र स्थान १४,१०

हैं। आयुर्वेदशास्त्र में यह भी बतलाया गया है कि, चालीस सेर भोजन से एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रुधिर से दो तोला वीर्य बनता है। प्रतिदिन एक सेर भोजन करने वाला मनुष्य एक मास में तीस सेर ही पदार्थ खाता है। इस हिसाब से तीस सेर खुराक से एक मास में डेढ़ तोला वीर्य बनता है। यह है वीर्य के उत्पादन का लेखा-जोखा। आयुर्वेद-शास्त्र में यह भी बतलाया गया है कि जो वीर्य इतनी अधिक साधना एवं परिश्रम के बाद तैयार होता है, उसे वासना-लोलुप मनुष्य किस प्रकार क्षण भर के आवेग में बरबाद कर डालता है। सुश्रुत-संहिता में कहा गया है कि एक बार के स्त्री-सहवास में डेढ़ तोले से कम वीर्य-पात नहीं होता। अब विचार करना चाहिए कि जो महीने भर की कमाई है, उसे एक कामान्ध मनुष्य क्षण भर के आवेग में आकर नष्ट कर देता है, तो पश्चात्ताप के अतिरिक्त उसके हाथ में क्या बच रहता है? जो मनुष्य अपनी इस अमूल्य शक्ति को इस प्रकार नष्ट करता है, वह संसार में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता। चरक-संहिता में[6] कहा गया है कि "वीर्य सौम्य, श्वेत, स्निग्ध, बल और पुष्टिकारक तथा गर्भ का बीज, शरीर का श्रेष्ठ सार और जीवन का प्रधान आश्रय है। [7]यह वीर्य सबके शरीर में उसी प्रकार व्याप्त रहता है, जैसे दूध में घी, और ईख के रस में गुड़ व्याप्त रहता है।" जैसे दूध में से मक्खन निकालने के लिए, दूध को मथना पड़ता है और ईख में से गुड़ निकालने के लिए ईख को पेलना पड़ता है, वैसे ही एक बिन्दु वीर्य को निकालने के लिए समग्र शरीर को मथना एवं निचोड़ना पड़ता है। जैसे दूध में से घी निकालने के बाद और ईख में से रस निकालने के बाद वे सार-हीन एवं खोखले हो जाते हैं, वैसे ही शरीर में से वीर्य-शक्ति निकल जाने के बाद यह शरीर भी सार-हीन, निस्तेज और खोखला हो जाता है। वीर्य-पतन के बाद मनुष्य के शरीर की सभी नाड़ियाँ ढीली पड़ जाती हैं और उसके शरीर का प्रत्येक अङ्ग शिथिल हो जाता है। आयुर्वेद-शास्त्र यह कहता है कि वीर्य के पतन में ही मनुष्य के जीवन का पतन है और वीर्य के रोकने में ही मनुष्य जीवन का उत्थान है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि—"वीर्य-धारणं हि ब्रह्मचर्यम्" अर्थात् वीर्य-धारण करना ही ब्रह्मचर्य है। शिव-संहिता में कहा गया है कि[8] "बिन्दु के पात से मरण है और बिन्दु के धारण से ही जीवन है।

---

६. शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बल-पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भ-बीजं वपुःसारो जीवनाश्रयं उत्तमः॥

७. यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षु-रसे यथा।
एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥

८. मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दु-धारणात्।
तस्मादति प्रयत्नेन कुरुते बिन्दु-धारणम्॥

अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रबल प्रयत्न से बिन्दु को धारण करना चाहिए।" पुराण कहते हैं—शंकर ने इसी बिन्दु-धारण के आधार से कामदेव को भस्म किया और समुद्र के विष का पान करके भी स्वस्थ एवं जीवित रहे।

पाश्चात्य शरीर-विज्ञान :

शरीर-विज्ञान के शास्त्री एवं आधुनिक भौतिक विज्ञान के वेत्ता, वीर्य की अद्भुत शक्ति से एवं उसकी अनुपम महत्ता से इन्कार नहीं कर सकते। पाश्चात्य विद्वानों का वीर्य-विज्ञान के सम्बन्ध में प्रायः वही अभिमत है, जो आयुर्वेद के विद्वानों का रहा है। किन्तु विचार करने की पद्धति और विषय को प्रस्तुत करने की शैली दोनों की अपनी-अपनी है। पाश्चात्य शरीर-विज्ञान के पण्डित वीर्य को सात धातुओं का सार नहीं मानते। उनके कथनानुसार वीर्य सीधा रक्त से उत्पन्न होता है। उनका कथन यह भी है कि वीर्य समग्र शरीर में स्थित नहीं रहता। मनोविकार जिस समय मनुष्य के मन में उत्पन्न होता है, उस समय अण्डकोष अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव उत्पन्न करते हैं, और यही द्रव उत्पादक वीर्य कहलाता है। उनका कहना है कि जिस प्रकार उत्तेजक पदार्थ के सम्मुख आने पर आँखों से आँसू तथा मुख से लार टपकती है, उसी प्रकार कामोत्तेजक पदार्थ को देख कर अण्डकोषों की ग्रन्थियों में से वीर्य निकलता है। पाश्चात्य विद्वान इसके दो रूप मानते हैं—अन्तःस्राव और बहिःस्राव। अन्तःस्राव हर समय होता रहता है और शरीर में अन्दर ही अन्दर खपता रहता है। यह रस सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर आँखों को तेजस्वी, मुख को कान्तिमय और शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को व्यवस्थित और मजबूत बनाता है। चौदह एवं पन्द्रह वर्ष की अवस्था में बालक के शरीर में जो अचानक परिवर्तन देखे जाते हैं, उनका कारण अन्तःस्राव का अन्दर ही अन्दर खप जाना है। बहिःस्राव के विषय में पाश्चात्यों का यह कथन है कि इसमें शुक्र-कीटाणुओं के साथ-साथ प्रजनन-प्रदेश के अन्य अनेक स्थानों से उत्पन्न हुए स्राव भी मिल जाते हैं। शुक्र-कीटाणु और उन स्रावों के मेल का नाम ही वीर्य है। डा० गार्डनर का कथन है कि—"वीर्य-कीटाणु रुधिर का सारतम भाग है। प्रकृति ने इसे जीवन-शक्ति ही नहीं दी, बल्कि इसमें वैयक्तिक जीवन को समृद्ध करने का जादू भी भर दिया है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि शुक्र-कीटाणु के शरीर में खप जाने से समग्र देह में संजीवनी-शक्ति का संचार हो जाता है।" मनुष्य के शरीर की रचना को जानने वाले सभी विद्वान एक मत होकर यह स्वीकार करते हैं कि भीतरी अथवा बाहरी किसी भी वीर्य-शक्ति का ह्रास, मनुष्य को जीवन-

---

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशोऽभवत् ॥

—शिव-संहिता

शक्ति के लिए अत्यन्त हानिकर है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के लिए, संयम द्वारा वीर्य का निरोध एवं स्तम्भन अत्यन्त आवश्यक है। वीर्य के सम्बन्ध में पूर्वी तथा पाश्चात्य विद्वानों की विचार-धारा का उल्लेख करते हुए उनकी तुलना पर विचार करना बड़ा ही रोचक विषय है। सामान्य दृष्टि से विचार करने पर दोनों में इस प्रकार के भेद हैं—

१. आयुर्वेद में वीर्य सात धातुओ के क्रम से तथा पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार रक्त से बनता है।

२. आयुर्वेद वीर्य को सम्पूर्ण शरीर में स्थित मानता है, जबकि पाश्चात्य विज्ञान इसे केवल अण्डकोषों द्वारा उत्पन्न हुआ मानता है।

३. पाश्चात्य शरीर-विज्ञान में वीर्य के दो रूप माने हैं—अन्तः स्राव और बहिः स्राव, जबकि आयुर्वेद में कहीं पर भी इस प्रकार के भेदो का उल्लेख नहीं मिलता।

४. पाश्चात्य विज्ञान में शुक्र-कीटाणु की परिभाषा की गई है कि—उत्पादक वीर्य का नाम ही शुक्र-कीटाणु है, जबकि आयुर्वेद में उत्पादक वीर्य और उसे कीटाणु विशेष मानने का उल्लेख कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता है।

इस प्रकार पौर्वात्य और पाश्चात्य शरीरवैज्ञानिकों में जो विचार-भेद है, उसका यहाँ पर संक्षेप में दिग्दर्शन करा दिया गया है। उन दोनों में कुछ समानताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है—

१. आयुर्वेद शास्त्र में वीर्य को सात धातुओं में से गुजर कर बना हुआ माना गया है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि आयुर्वेद के कुछ ग्रन्थों में वीर्य के सात धातुओं में से गुजर कर बनने के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। वे यह मानते हैं कि "केदार-कुल्या-न्याय' से रुधिर ही शरीर के विभिन्न अङ्गों को भिन्न-भिन्न रस प्रदान करता है। जैसे बाग में पानी, सब जगह बहता है, उसमें से भिन्न-भिन्न वृक्ष भिन्न-भिन्न रस खींच लेते हैं, वैसे ही रुधिर भी शरीर के अंग प्रत्यङ्गों को सींचता हुआ, समग्र शरीर को पुष्ट करता है। जब रुधिर अण्डकोषों में पहुँचता है तब वे रुधिर में से वीर्य खींच लेते हैं। ये विचार अक्षरशः पाश्चात्य शरीर-विज्ञान के साथ मिल जाता है।

२. आयुर्वेद वीर्य को समग्र शरीर में स्थित मानता है, जबकि पाश्चात्य विज्ञान इसे अण्डकोषों द्वारा जनित मानता है। परन्तु यह भेद स्वाभाविक भेद नहीं। पाश्चात्य यह नहीं मानते कि वीर्य अण्डकोष में रहता है। वे इतना ही मानते हैं कि वीर्य के उत्पत्ति-स्थान अण्डकोष हैं। मनोमंथन के बाद वीर्य अण्डकोषों में प्रकट होता

है, यह बात दोनों पक्षों को मान्य है। वीर्य का प्रस्रवण दोनों के मत में समग्र शरीर से होता है।

३. यद्यपि भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र में अन्तःस्राव और बहिःस्राव जैसे भेद उपलब्ध नहीं होते, तथापि जहाँ तक हमने विचार किया है, हमने यह पाया कि आयुर्वेद में तेजस् एवं ओजस् शब्दों का प्रयोग अन्तःस्राव के लिए, तथा रेतस् और बीज शब्दों का प्रयोग बहिःस्राव के लिए किया गया है। शुक्र एवं वीर्य शब्द भीतरी एवं बाहरी दोनो स्रावों के लिए प्रयुक्त हो जाते हैं।

४. बहिःस्राव के स्वरूप के विषय में दोनो मे अत्यन्त विचार-भेद है। आयुर्वेद में बहिःस्राव के लिए शुक्र-कीटाणु शब्द नहीं पाया जाता, जबकि पश्चात्य विज्ञान मे पाया जाता है। आयुर्वेद में केवल शुक्र शब्द का प्रयोग ही होता है।

वीर्य की स्थिति और स्वरूप के सम्बन्ध में, शरीर-विज्ञान में एक तीसरा पक्ष भी है। उसका कथन है कि—"वीर्य का नाश मस्तिष्क का नाश है। क्योंकि वीर्य तथा मस्तिष्क दोनों एक ही पदार्थ हैं।" इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि वीर्य और मस्तिष्क को बनाने वाले रासायनिक तत्व एक ही है। दोनों की तुलना करने पर, उनमे बहुत ही अल्प अन्तर मालूम पड़ता है। यदि रसायन-शास्त्र से यह बात सिद्ध होजाए कि उत्पादक वीर्य और मस्तिष्क की रचना में कोई भेद नहीं है, तो ब्रह्मचर्य के लिए एक अकाट्य सिद्धान्त तैयार हो जाए।

शारीरिक श्रम, मानसिक श्रम एवं अन्य किसी एक कार्य में ही निरन्तर लगे रहने से वीर्य-कीटाणु मस्तिष्क में ही खप जाता है। इसी को भारतीय आयुर्वेद-शास्त्र में ऊर्ध्वरेता कहा जाता है! स्मरण रखना चाहिए कि उत्पादक पदार्थों का अति मात्रा में व्यय करना, और प्रकृति के नियमों का उल्लघन करना मस्तिष्क पर एक प्रकार का अत्याचार है। इससे दिमागी-बीमारी होने की पूरी आशंका रहती है। विचार करने पर अनुभव होता है कि मस्तिष्क का वीर्य के साथ और वीर्य का मस्तिष्क के साथ गहनतम सम्बन्ध है। यही कारण है कि वीर्य-नाश का दिमाग पर सीधा प्रभाव पड़ता है। डा० कोवन का कहना है कि मस्तिष्क से एक द्रव उत्पन्न होकर उस ओर को, जिस ओर मनुष्य के मनोभाव केन्द्रित होते हैं, बहने लगता है। डा० हॉल का कथन है कि अण्डकोषों से एक पदार्थ उत्पन्न होकर मस्तिष्क मे पहुँचता है, जहाँ से यह यौवनावस्था मे अभिव्यक्त होने वाले, समस्त शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों को प्रकट करता है। डा० टॉलिंग ने अपनी पुस्तक "Natural Philosophy" में लिखा है कि दिमाग, अण्डकोषों के रस से बना हुआ है।

वीर्य स्वरूप के सम्बन्ध में हमने यहाँ तीनों मुख्य विचारों का उल्लेख इसलिए कर दिया; ताकि वीर्य-सम्बन्धी विभिन्न विचारों से प्रभावित प्रत्येक व्यक्ति अपने

वीर्यसंरक्षण के महत्व को भली भाँति समझ सके। वीर्य-रक्षा करना, जीवन रक्षा के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने वीर्य का व्यर्थ विनाश करता है, वह अपने जीवन में कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। वीर्य-संरक्षण ही जीवन-शक्ति है।

मनुष्य के शरीर में जो कुछ शक्ति एवं बल है, उसका आधार एकमात्र वीर्य ही है। वीर्य के संरक्षण को सभी सिद्धान्तों ने स्वीकार किया है। वह सिद्धान्त, भले ही आध्यात्मिक हो अथवा भौतिक, किन्तु वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि वीर्य का संरक्षण आवश्यक ही नहीं, परमावश्यक है। शरीर में दो प्रकार की स्थितियाँ रहती हैं, संचय और विचय। जीवन के प्रारम्भ से लेकर पैंतालीस वर्ष तक संचयशक्ति की अधिकता रहती है और पैंतालीस से सत्तर वर्ष तक विचय स्थिति की। संचय का अर्थ है, वीर्य-शक्ति की अभिवृद्धि-होते रहना, नया उत्पादन होते रहना। विचय का अर्थ है, वीर्य का ह्रास होना, नया उत्पादन न होना। जैसे-जैसे मनुष्य किशोर, तरुण, प्रौढ़ और वृद्ध होता जाता है, वैसे-वैसे संचय के बाद, विचय बढ़ता जाता है। मनुष्य की शक्ति का ह्रास तथा प्रजा-प्रजनन दोनों एक ही समय में प्रारम्भ होते हैं। प्रजोत्पत्ति के बाद अधिक शारीरिक उन्नति की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि जिस तत्व से शारीरिक उन्नति होती है, वह फिर प्रजा की उत्पत्ति में लग जाता है। शरीर की संजीवन शक्ति के बीज का शरीर से बाहर जाना, निश्चय ही उसकी अवनति है। मनुष्य यह विचार करता है कि मुझे विषय-सेवन से आनन्द मिलता है, किन्तु वास्तव में यह आनन्द नहीं। भविष्य में आने वाली एक भयंकर विपत्ति ही है। वीर्य-नाश से ज्ञान-तन्तुओं में तनाव होता है, वह इतना भयंकर होता है कि उसके बुरे परिणामों का लेखा-जोखा नहीं लगाया जा सकता। पशु-विज्ञान के एक डा० ने लिखा है कि—"प्रथम सम्भोग के बाद, बलिष्ठ बैल और पुष्ट घोड़ा भी कभी-कभी संज्ञाहीन होकर जमीन पर गिर पड़ता है। वीर्य-विनाश के बाद की थकान से शरीर में अनेक उपद्रव एवं रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं।" जर्मनी के महान कवि और विचारक 'गेटे' ने कहा है कि—"मृत्यु से बचने के लिए हम प्रजोत्पत्ति की क्रिया बंद नहीं करते, इसलिए उसके अवश्यंभावी परिणाम, मृत्यु से बच नहीं सकते।"

●

मनोविज्ञान : ब्रह्मचर्य

मनोविज्ञान आज के युग का एक विचार-शास्त्र है। मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू पर यह गम्भीरता के साथ विचार करता है। मनोविज्ञान की परिभाषा है कि मन के स्वरूप और उसकी विचारात्मक क्रियाओं का अध्ययन एवं अनुसंधान करने वाला शास्त्र। मनुष्य के व्यवहार और विचारों को जानकर यह मानव के मन का अध्ययन प्रस्तुत करता है। मनोविज्ञान मे मनोविश्लेषण-विज्ञान की खोजो का भी समावेश होता है। यह एक सबसे नया विज्ञान है। मनोविज्ञान के द्वारा मन का विराट् रूप जाना जाता है। आधुनिक युग मे हमारे अध्ययन का एक भी ऐसा विषय नही है, जिसमें आज मनोविज्ञान की आवश्यकता न हो। शारीरिक स्वास्थ्य, मनुष्य के वैयक्तिक व्यवहार तथा सामाजिक एव सांस्कृतिक समस्याओ को समझने के लिए आज के मानव जीवन में मनोविज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

मनोविज्ञान की उपयोगिता :

मनोविज्ञान का अध्ययन जन-जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए बड़े महत्व का है। मनोविज्ञान में भी New Psychology ने शरीर और मन के सम्बन्ध मे एक नया प्रकाश डाला है। अनेक शारीरिक बीमारियाँ, जिनका डाक्टर लोग बाहरी उपचार किया करते हैं, मानसिक कारणों से होती हैं। इसी प्रकार अनेक मानसिक बीमारियों की चिकित्सा आज शारीरिक चिकित्सा के द्वारा की जाती है। किन्तु उनका कारण मानसिक होता है। अस्वस्थ मन ही, अनेक बीमारियों का कारण है, यह सिद्धान्त नवीन मनोविज्ञान ने सयुक्तिक स्थिर किया है। जिस प्रकार शरीर का स्वास्थ्य मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर है, उसी प्रकार मानव-मन में रहने वाले सदाचार एवं कदाचार भी मन की अज्ञात क्रियाओं पर निर्भर रहते हैं। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के मन में, अनेकविध ग्रन्थियाँ (Complexes) रहती हैं। यह ग्रन्थियाँ मनुष्य को बहुत-सी कुचेष्टाओं और दुराचारों के कारण होती हैं। नवीन मनोविज्ञान के अनुसन्धान के अनुसार, मनुष्य का निर्मल मन ही सदाचारी हो सकता है। मनोविज्ञान की खोज यह प्रमाणित करती है कि जब तक

मनुष्य के स्वभाव को सुधारने की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा, तब तक समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकेगी। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ जो संघर्ष है, एक समाज का दूसरे समाज के साथ जो कलह है और एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ जो झगड़ा है, उसका मूल कारण व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियाँ ही हैं। यह मनुष्य की मानसिक ग्रन्थियाँ एक ओर उसे अपने आपको समझने में बाधा डालती हैं तथा दूसरी ओर उसका दूसरे लोगों से वैमनस्य बढ़ाती हैं। इसी के कारण राष्ट्र, समाज और व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न होते हैं।

इस वर्तमान युग में मनुष्य के लिए जितने भी अध्ययन के विषय हैं, उन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी, मनोविज्ञान का अध्ययन ही है। क्योंकि मनोविज्ञान के अध्ययन से मनुष्य स्वयं अपने स्वरूप को और समाज के स्वरूप को भी भलीभाँति जान सकता है। जब तक मनुष्य अपने आपको, अपने पड़ोसियों को और अपने समाज को नहीं समझ सकेगा, तब तक उसे सुख, शान्ति एवं सन्तोष नहीं मिलेगा। धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य, शिक्षा, राजनीति और समाज इन सभी को समझने के लिए, और इन सबकी उपयोगिता जानने के लिए मनोविज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है। मनोविज्ञान एक ऐसा विषय है, जो विज्ञान और दर्शन में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है और जिसके अध्ययन एवं परिशीलन से मानव-मन की गहनतर एवं गूढ़तर अनुभूति, विचार और मानसिक क्रियाओं को वैज्ञानिक पद्धति से समझा जा सकता है।

मन के भेद :

मनोविज्ञान के अनुसार मन के तीन भेद किए जाते हैं—चेतन मन (Conscious), अचेतनमन (Unconscious) और चेतनोन्मुख मन (Preconscious)। डा० फ्रायड के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य का मन समुद्र में तैरते हुए, बर्फ के पहाड़ के समान है। इस पहाड़ का अल्पांश ही पानी की सतह के ऊपर रहता है, किन्तु उसका अधिकांश भाग पानी के भीतर रहता है। पानी के बाहर वाले भाग को ही हम देख सकते हैं, क्योंकि पानी के अन्दर रहने वाला भाग अदृश्य रहता है। डा० फ्रायड कहता है कि मन के जिस भाग को हम जान सकते हैं वह चेतनमन कहलाता है और जिस हिस्से के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते वह अचेतन मन कहलाता है। चेतन और अचेतन मन के बीच, मन का जो भाग है, वह चेतनोन्मुख मन कहा जाता है। मानव-जीवन के समस्त व्यवहार एवं क्रियाएँ चेतन मन से ही की जाती हैं। पढ़ना, लिखना, बोलना, चलना-फिरना, खाना, पीना, चिन्तन करना और कल्पना करना—यह सब चेतन मन के व्यापार हैं। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ जो भी और जितना भी व्यवहार करता है, वह सब चेतन मन के द्वारा ही होता है। प्रत्येक

व्यक्ति को अपने जीवन मे, ठीक ढंग से व्यावहारिक कार्यों को करने के लिए चेतन मन की आवश्यकता होती है। अचेतन मन हमारे पुराने अनुभवों की महानिधि के समान है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ अचेतन मन मे ही रहती हैं। विस्मृत अनुभव और अतृप्त वासनाएं भी, अचेतन मन मे ही रहती हैं। अचेतन मन क्रियात्मक मनोवृत्तियों का उद्गम-स्थल है। चेतन और अचेतन मन का सम्बन्ध कभी-कभी नाट्यशाला की रंगभूमि और उसके पिछले भाग से तुलना करके बताया जाता है। जैसे रंगमंच पर आने वाले पात्र, रंगमंच पर न आने वाले पात्रो की तुलना मे अल्प रहते हैं, वैसे ही मनुष्य के चेतन मन मे आने वाली वासनाएँ न आने वाली वासनाओं का एक अल्प भाग ही होता है। जिस प्रकार बिना रंगमंच पर जाए, कोई भी पात्र अपनी कला का प्रदर्शन नही कर सकता, उसी प्रकार मन की कोई भी वासना अचेतन मन से चेतन मन में आए बिना प्रकट नहीं हो सकती। कोई भी विचार या वासना, चेतन मन मे आने से पूर्व रंगभूमि के सजे हुए पात्रो के सदृश मन के पर्दे के पीछे ठहरे रहते हैं। मन का वह भाग, जहाँ पर चेतना के समय आने वाले विचार और वासनाएँ ठहरती हैं, चेतनोन्मुख मन कहलाता है। चेतनोन्मुख मन और अचेतन मन मे, एक मुख्य भेद यह है कि चेतनोन्मुख मन के अनुभव, प्रयत्न करने पर स्मृति में आ जाते हैं, किन्तु अचेतन मन में रहने वाले अनुभव प्रयत्न करने पर भी स्मृति मे नही आते। उन्हें स्मृति-पटल पर लाने के लिए विशेष प्रकार का प्रयत्न करना पड़ता है। इस प्रकार मनोविज्ञान में मन के इन तीन रूपो का विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन किया जाता है। बिना मन की वृत्तियों के मनुष्य केवल एक पशु के तुल्य ही रह जाता है। मन जितना ही संस्कारी होता है, उसके व्यापार भी उतने ही अधिक सुन्दर होते हैं। किन्तु असस्कारी मन कभी भी सन्मार्ग पर नही चल सकता। मनुष्य के तीन प्रकार के मनों में, उसका अचेतन मन एक असंस्कारी मन है। चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन का भण्डार कही अधिक रहता है। चेतन मन में केवल वर्तमान काल मे होने वाला अनुभव ही रहता है, किन्तु अचेतन मन मे वह सब प्रकार का ज्ञान एवं अनुभव रहता है, जिसका मनुष्य को स्मरण भी नहीं रहता। अतः चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन अधिक बलवान है।

मन की मूल शक्ति :

मनोविज्ञान के पण्डितों के समक्ष सबसे विकट प्रश्न यह है कि मन की मूल शक्ति क्या है और उसका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध मे मनोविज्ञान के पण्डितों मे अनेक मत एवं विचार हैं। डा० फ्रायड का कहना है कि जीवन के सभी कार्य एक मूल शक्ति द्वारा संचालित होते हैं। फ्रायड के पूर्व मनोविज्ञान के पण्डितो ने मन की अनेक शक्तियों का वर्णन किया था। मेगडूगल ने अपने से पूर्व होने वाले मनो-

विज्ञान के पण्डितों का अनुसरण करते हुए, मन की मूल शक्तियाँ तेरह स्वीकार की हैं। शक्ति, वृत्ति और प्रवृत्ति इन सब का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है और वह है, मन के व्यापार। जिस प्रकार दर्शन-शास्त्र में दो मतभेद हैं—एकवादी और अनेकवादी। वेदान्त समग्र विश्व की एक शक्ति में विश्वास रखकर चलता है और वह शक्ति है आत्मा एवं ब्रह्म। जैन, सांख्य, वैशेषिक और मीमांसक अनेकवादी इस अर्थ में हैं कि वे इस दृश्यमान जगत के मूल आधार दो मानते हैं—जीव और अजीव, प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन। इसी प्रकार मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानव-मन की मूल-शक्ति के विषय में जब प्रश्न उपस्थित हुआ, तब उनमें भी दो विचारधाराएँ प्रकट हुईं—एकवादी और अनेकवादी। डा० फ्रायड एकवादी हैं और मेगडूगल अनेकवादी हैं। जब डा० फ्रायड से यह पूछा गया कि वह मन की मूल-शक्ति किसको मानता है, तब उसने उत्तर दिया कि काम एवं वासना ही मन की एक मूलशक्ति है। फ्रायड के अनुसार मानव-मन की मूलशक्ति काम एवं वासनामयी है। मानव-जीवन की मूल इच्छा, कामेच्छा है। यही इच्छा अनेक प्रकार के भोगों की इच्छा में परिणत हो जाती है और मनुष्य की अनेक प्रकार की क्रियाओं का रूप धारण करती है। मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ भी कार्य करता है, उसके मूल में उसके मन की काम-वासना ही रहती है। वह अपने प्रकाश के लिए अनेक मार्ग ढूंढ़ती है। जब उसका निर्गमन स्वाभाविक रूप से नहीं हो पाता तब वह अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक रूप में फूट पड़ती है। सभ्यता एवं संस्कृति का विकास, इसी काम-इच्छा के अवरोध (Inhiatition), मार्गान्तरीकरण (Rediraction), रूपान्तर (Transformation) अथवा शोध (Sublimation) में है। इस शक्ति के अत्यधिक दमन एवं अत्यधिक प्रकाशन में, मनुष्य अपने स्वरूप को भूल बैठता है। डा० फ्रायड का कथन है कि व्यक्ति में जन्म से ही काम-वासना रहती है। यह वासना शिशु में भी वैसी ही प्रबल रहती है, जैसी कि प्रौढ़ व्यक्ति में। शिशु की काम-वासना और प्रौढ़ व्यक्ति की काम-वासना में केवल प्रकाशन पद्धति का ही भेद है। प्रौढ़ अवस्था में अथवा तरुण अवस्था में यह वासना सम्भोग क्रिया का रूप धारण करती है, परन्तु शिशु अवस्था में यही वासना अपनी जननेन्द्रिय से खेल करने आदि का रूप धारण करती है। किसी भी व्यक्ति के किसी भी प्रकार के प्रेम-प्रदर्शन में इसी काम-वासना का कार्य देखा जाता है।

वासना की व्यापकता :

मानव-जीवन में वासना अनेक रूपों में प्रकट होती है। मानव-समाज, इस वासना के दमन के अनेक उपाय सोचता है। शिष्टाचार एवं सभ्यता के अनेक नियमों की रचना, इस वासना के दमन के हेतु की गई है। इसी दमन के परिणाम-

स्वरूप, मनुष्य दूसरे प्राणियों से भिन्न श्रेणी का समझा जाता है, तथापि यदि हम संसार के विगत इतिहास को देखें तथा विभिन्न जातियों के साहित्य का अध्ययन करें, तो उसमें काम-वासना की व्यापकता के अनेकविध प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यूनान के इतिहास में और तो क्या, पुत्र और माता के काम-सम्बन्ध का प्रमाण भी मिलता है । मिस्र देश के इतिहास में, भाई-बहिन के काम-सम्बन्ध का उल्लेख है। भारतीय पौराणिक साहित्य में, बताया गया है कि बहिन यमी अपने भाई यम के प्रेम में फँस जाती है और यम उसे सदाचार की शिक्षा देकर, उसकी वासना को शान्त करने का प्रयत्न करता है। इतिहास के इन उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि सभी कालों में और देशों में काम-वासना की व्यापकता रही है। मनोविज्ञान के पण्डित इस जगत के सम्पूर्ण व्यापारों के मूल में काम-वासना को मूल कारण स्वीकार करते हैं और उसका विश्लेषण करके उसके अच्छे-बुरे दोनों पहलुओं पर गम्भीरता के साथ विचार करते हैं।

वासना का दमन :

समाज में काम-वासना का इतना अधिक दमन किया जाता है, कि मन में उसकी सत्ता रहते हुए भी लोग उसकी सत्ता से इन्कार कर देते हैं। फ्रायड ने एवं मनोविज्ञान के अन्य पण्डितों ने यह लिखा है कि वासना का दमन करने से वासना नष्ट नहीं होती, बल्कि वह कुछ काल के लिए चेतन मन से अचेतन मन में चली जाती है। किन्तु जब तक उसका दमन होता रहेगा, वह मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के मन को मौन नहीं बैठने देगी। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जब काम-वासना का दमन किया जाता है, तब उसके दो परिणाम निकलते हैं—उचित दमन से उसकी शक्ति का उच्चकोटि के कामों में प्रकाशन और अनुचित दमन से उसका विकृत रूप से प्रकाशन। पहले प्रकार का प्रकाशन, काम-वासना का ऊर्ध्वगमन अथवा शोधन कहलाता है, और दूसरे प्रकार का प्रकाशन अधोगमन एवं विकार कहलाता है। मनोविज्ञान के पण्डित कहते हैं कि मानव-संस्कृति का विकास काम-वासना के संशोधन एवं ऊर्ध्व गमन से होता है और उसके दुरुपयोग से उसका विनाश होता है। यह वासना इतनी प्रबल होती है कि सब प्रकार के प्रतिबन्ध होने पर भी वह किसी न किसी प्रकार फूट कर बाहर निकल आती है। वह व्यक्ति के अचेतन मन को अनेक प्रकार से धोखा देना जानती है। अतएव मन की असावधानी के कारण बाहर निकल कर वह अनेक रूप धारण कर लेती है। जैसे कुस्वप्न, अश्लील गाली, अश्लील गायन, और अश्लील व्यवहार। जब इस वासना को सीधे निकलने के लिए मार्ग नहीं मिलता, तब वह अनेक प्रकार के टेढ़े-मेढ़े रास्ते खोजने लगती है। इसी कारण मनुष्य के चरित्र में अनेक प्रकार के दुराचार एवं पापाचार करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। अनेक प्रकार के उन्माद भी इसी के परिणाम हैं।

टेन्सले जो कि मनोविज्ञान का एक महान पण्डित था, उसका कथन है कि मनुष्य के जीवन की मार्मिक घटनाओं का मुख्य कारण काम-वासना का दमन ही है। जब मनुष्य की कामेच्छा की पूर्ति में किसी प्रकार की रुकावट पैदा हो जाती है, तब उसके जीवन में अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। फायड का कथन भी यह है कि काम वासना के अनुचित दमन के कारण ही, मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु यदि मनुष्य अपनी काम-वासना का संशोधन करले, रूपान्तर करले, अथवा उसकी शक्ति को किसी उच्चकोटि के कार्य में संलग्न करदे, तो उसके जीवन का समुचित विकास भी हो सकता है।

काम-वासना का विश्लेषण :

मनोविज्ञान के पण्डितों ने काम-वासना का विश्लेषण करते हुए, इसके तीन रूपों का कथन किया है—

१. सम्भोग की इच्छा, जो पुरुष में स्त्री के प्रति और स्त्री में पुरुष के प्रति होती है। यह काम-वासना का पहला रूप है।

२. मानसिक संयोग, जो स्त्री-पुरुष में एक दूसरे के प्रति आकर्षण के रूप में, प्रेम प्रकाशन के रूप में एवं अन्य वार्तालाप आदि करने की इच्छा के रूप में, प्रकट होता है। यह काम-वासना का दूसरा रूप है।

३. सन्तान के प्रति प्रेम तथा रक्षा के भाव में दाम्पत्य जीवन की पूर्ति देखी जाती है। क्योंकि सन्तान-उत्पत्ति स्त्री एवं पुरुष के मानसिक और शारीरिक मिलन का परिणाम है। यह तीसरा रूप है।

साधारणतया काम-वासना के यह तीनों अङ्ग एक साथ ही उपलब्ध हो जाते हैं। मनुष्य के दाम्पत्य जीवन में इन तीनों की उपस्थिति रहती है। पुरुष जिस स्त्री को प्यार करता है, वह उसके साथ विवाह करने की भी अभिलाषा करता है और विवाह के अनन्तर सन्तान-उत्पत्ति होने पर, उसके पालन-पोषण और रक्षा का भार भी अपने ऊपर लेता है। यह भी देखा जाता है कि कभी किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में, काम-वासना के इन तीनों अंगों में से किसी एक ही अंग की अधिकता रहती है। जैसे कि किसी व्यक्ति में भोग-विलास की इच्छा अत्यधिक बढ़ सकती है, उस स्थिति में काम-वासना के दूसरे अङ्ग निर्बल पड़ जाते हैं।

काम-शक्ति का रूपान्तर :

मनोविज्ञान के पण्डितों का यह विचार है कि प्रत्येक मनुष्य अपने चित्त के विश्लेषण से अपनी काम शक्ति का रूपान्तर भी कर सकता है। उसे ह्रास की ओर न ले जाकर विकास की ओर भी ले जा सकता है। मनुष्य के मन में यह अद्भुत

शक्ति है कि वह पतन से बचकर उत्थान की ओर बढ़ सकता है। जब मनुष्य अपनी काम-शक्ति का उपयोग एवं प्रयोग साहित्य, संगीत, कला एवं अध्यात्म विकास में करता है, तब मनोविज्ञान के पंडित इसे काम-शक्ति का रूपान्तर कहते हैं। देखा जाता है कि बहुत से व्यक्ति, अपना समस्त जीवन राष्ट्र-सेवा एवं समाज-सेवा में लगा देते हैं, जिससे काम-वासना की ओर सोचने का उन्हें कभी अवसर ही नहीं मिलता। एक वैज्ञानिक जब अपने आपको विविध प्रकार के प्रयोगों में तल्लीन कर देता है, तब भोग और विलास की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। एक कवि जब अपने काव्य-रस में आप्लावित हो जाता है, तब उसका ध्यान वासना की ओर जाता ही नहीं। एक साहित्यकार जब अपनी विविध कृतियों के लिखने में संलग्न हो जाता है, तब उसके मन में काम की स्फुरणा कैसे हो सकती है? एक संत जब अपने चित्त की शक्ति को अपने ध्येय में एकाग्र करके अध्यात्म साधना में लीन हो जाता है, तब उसके उस निर्मल चित्त में कामना एवं वासना की तरंग कैसे उत्पन्न हो सकती है? इन उदाहरणों से यह बात स्पष्टरूपतः समझ में आ जाती है कि चित्त की वृत्तियों को सब ओर से हटा कर, जब मनुष्य उन्हें किसी एक विशुद्ध एवं उच्च ध्येय पर एकाग्र कर देता है, तब उस मनुष्य के मन में कभी भी विकार, विकल्प एवं वासनामय बुरे विचार उत्पन्न नहीं होने पाते। मनोविज्ञान के पण्डित मनुष्य जीवन की इस स्थिति को काम-शक्ति का रूपान्तर, काम-शक्ति का ऊर्ध्वीकरण और काम-शक्ति का संशोधन कहते हैं। धर्म-शास्त्र एवं नीति-शास्त्र में, मनुष्य-जीवन की इस स्थिति को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। एक दार्शनिक विद्वान ने ब्रह्मचर्य का व्यापक अर्थ करते हुए लिखा है कि अपने मन की बिखरी हुई शक्तियों को सब ओर से हटाकर, किसी एक पवित्र लक्ष्य बिन्दु पर केन्द्रित कर देना ही, वास्तविक एवं सच्चा ब्रह्मचर्य है।

शक्ति का शोधन :-

मनोविज्ञान का गम्भीर अध्ययन एवं परिशीलन करते हुए ज्ञात होता है कि मानसिक-शक्ति का शोधन (Sublimation) उतना कठिन नहीं है, जितना कि कुछ लोगों ने समझ लिया है। शोधन का अर्थ है—"काम-शक्ति को भोग-विलास में व्यय न करके उसे किसी उच्च कार्य में लगाना।" मनुष्य सभ्यता और संस्कृति के विकास के लिए, जहाँ अन्य अनेक प्रकार के कठोर परिश्रम करता है, वहाँ वह मानसिक शोधन के कार्य को भी भली-भाँति कर सकता है। यह तो निश्चित है कि सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण, काम-भावना से सम्बन्धित शक्ति के रूपान्तर एवं शोधन से आसानी से हो जाता है। क्योंकि बिना इस प्रकार के रूपान्तर और शोधन के मनुष्य अपने जीवन में अपने किसी भी महान् लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य से जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति में आत्म-सम्मान, जन-कल्याण एवं समाज-सेवा का भाव प्रबल रहता है और वह अपनी वीर्य-शक्ति के समुचित प्रयोग से इन कठिनतर कार्यों

को सहज ही कर भी सकता है। डा० फ्रायड के कथनानुसार तो कवि और कला-कारों की उच्च से उच्च कृतियाँ, काम-वासना के उचित शोधन के परिणाम ही हैं।

काम-शक्ति को योग्य रूप से व्यय करने के लिए ही शोध शब्द का अधिकतर उपयोग एवं प्रयोग होता है। कुछ मनोविज्ञान के पण्डित काम-वासना को मानव-मन की मूल भावना नहीं मानते। उनके अनुसार काम-वासना मनुष्य की मूल वासना नहीं है, तो भी वह अधिक प्रबल वासनाओं में से एक तो अवश्य है। इस शक्ति का सदुपयोग न किया गया, तो वह मनुष्य को दुराचार एवं पापाचार की ओर ले जा सकती है। काम-वासना के शोधित होने पर मनुष्य किसी भी एक उच्च कला का समुचित विकास कर सकता है। कहा जाता है कि कवि कालिदास का जीवन पहले बहुत ही विषय-वासनामय था, किन्तु जब उसने अपनी काम-शक्ति का शोधन कर लिया, तब उसने 'शकुन्तला' एवं 'मेघदूत' जैसी श्रेष्ठ कृतियाँ, संसार को समर्पित करदी। मीराबाई के संगीत में जो माधुर्य और सौन्दर्य है, वह कहाँ से आया? कहीं बाहर से नहीं, बल्कि मानसिक-शक्ति के शोधन से ही वह प्रकट हुआ था। संत सूरदास का मन पहले चिन्तामणि वेश्या पर आसक्त था, और वह उसके प्रेम को पाने के लिए सदा लालायित रहते थे। किन्तु यह दशा उनके जीवन की कोई उत्तम दशा न थी। एक दिन उन्होंने अपने मन की इस अधोदशा पर विचार किया, उनकी प्रसुप्त आत्म-चेतना जागृत हो गई और उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति का शोधन करके अपने मन को कृष्ण-भक्ति में डुबोकर जो भक्तिमय मधुर पद्य लिखे हैं, वे संसार के साहित्य में बेजोड़ माने जाते हैं। उनके भक्तिमय संगीत की स्वर-लहरी चारों दिशाओं में एवं भारतीय संस्कृति के कण-कण में रम चुकी है। तुलसीदास अपनी पत्नी रत्ना के वासनामय प्रेम में इतना विह्वल था कि उसके पास पहुँचने के लिए रात्रि के अन्धकार में एक भयंकर सर्प को भी वह रस्सी समझ लेता है, कल्पना कीजिए उस कामातुर मन के विकल्प-वेग को। किन्तु आगे चल कर रत्ना के मधुर उपालम्भ से उनके जीवन की दिशा ही बदल जाती है। कामातुर तुलसीदास संत तुलसीदास बन जाते हैं। काम का भक्त तुलसी, राम का परम भक्त बन जाता है। तुलसी ने अपनी मानसिक शक्ति का शोधन करके अपनी काम-शक्ति का रूपान्तर एवं ऊर्ध्वीकरण करके जो कुछ साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियाँ संसार के समक्ष प्रस्तुत की हैं, निश्चय ही वे बेजोड़ और बेमिसाल हैं। तुलसीदास सदा के लिए अमर हो गए हैं।

ब्रह्मचर्य की शक्ति :

मनोविज्ञान के पण्डितों ने काम-शक्ति के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया है, भले ही वह अपने सम्पूर्ण रूप में भारतीय विचारों से मेल न खाता हो, किन्तु इस बात में जरा भी सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्य की जादूभरी शक्ति से वे भी इन्कार नहीं कर

सकते। काम-वासना केवल मनुष्य में ही नहीं, अपितु सृष्टि के प्रत्येक प्राणी में किसी न किसी रूप से न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध होती है। निम्न मनोभूमिकाओं में काम की सत्ता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। यह ठीक है कि उसके शोधन, परिमार्जन अथवा रूपान्तरकरण की पद्धति के सम्बन्ध में, मनोविज्ञान के विद्वानों में मतभेद अवश्य है। फिर भी सब मिलकर आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों के कथन का सार इतना ही है, कि मनुष्य के मन में जो काम-वासना है, उसका बलात् बाहरी दबाव से दमन न किया जाए। दमन आखिर दमन ही है, दमन करने से वह मूलतः नष्ट नहीं होती, अपितु निमित्त पाकर अनेक उग्र विकारों के रूप में पुनः भड़क उठती है। उस पर नियन्त्रण करने का मनोविज्ञान की दृष्टि से सबसे अच्छा उपाय यही है कि विवेक के प्रकाश में उसका ऊर्ध्वीकरण, रूपान्तर, शमन और शोधन किया जाए। मनोविज्ञान की दृष्टि से ब्रह्मचर्य की सबसे सुन्दर और उपयोगी व्याख्या यही हो सकती है।

●

बद्धो हि को यो विषयानुरागी
का वा विमुक्तिः विषये विरक्तिः।

—आचार्य शङ्कर

बद्ध कौन है ?
जो विषयों में आसक्त है, वही वस्तुतः बद्ध है।
विमुक्ति क्या है ?
विषयों से वैराग्य ही मुक्ति एवं मोक्ष है।

है, यह एक अर्जित प्रवृत्ति है। किन्तु भारतीय दार्शनिक एवं विचारक उनकी इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। क्योंकि भारतीय तत्व-चिंतक धर्म को सदा से ही आत्मा की सहज एवं स्वाभाविक वृत्ति मानते रहे हैं। धर्म शुभ एवं शुद्ध चैतन्य की स्थायी प्रवृत्ति है। वह विकृत तो हो सकता है, किन्तु कभी मिट नहीं सकता। इसलिए धर्म एक शाश्वत एवं अनन्त सत्य है।

धर्म और सुख :

धर्म और सुख मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह एक विचारणीय गम्भीर प्रश्न है। प्रत्येक युग में इस पर कुछ न कुछ विचार अवश्य ही किया गया है। मनुष्य धर्म इसीलिए करता है कि उसे उससे सुख की प्राप्ति हो। क्योंकि मानव-बुद्धि के प्रत्येक प्रयत्न के पीछे, सुख की अभिलाषा अवश्य रहती है। जब तक कि साधना के उत्कृष्ट कर्तव्यों में किसी को सुख न मिले, तब तक उन्हें अच्छा नहीं कहा जा सकता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को सदा प्रसन्न रहना चाहिए। अरस्तू के मतानुसार आनन्द, मानवीय कार्यों की उचित रूप से पूर्ति करने से उपलब्ध होता है। कार्यों के उचित अभ्यास में आनन्द मिलता है। मनुष्य-जीवन का विशिष्ट कार्य, जो अन्य जीवों से उसका भेद करता है, वह उसकी विचार-शक्ति है। अतः सुख एवं प्रसन्नता की उपलब्धि, धर्म की समुचित साधना में ही है। बुद्धिमय जीवन में स्थायी एवं निष्कलंक चरित्र और धर्मनिष्ठता अन्तर्गभित है। धर्मनिष्ठ जीवन में अमङ्गल एवं अशुभत्व आ नहीं सकता। सुख और आनन्द धर्मनिष्ठ जीवन का सहगामी है। धर्म स्वयं आनन्द नहीं है, बल्कि आनन्द की उपलब्धि में एक परम साधन है। जीवन का आनन्द धर्म पर निर्भर है। आनन्द नैतिक जीवन का उत्कर्ष है। आत्म-लाभ से आत्म-सन्तोष की उपलब्धि होती है। आत्म-लाभ का अर्थ है अपने स्वरूप की उपलब्धि, और यही सबसे बड़ा धर्म है।

धर्म और ज्ञान :

सुकरात का कथन है कि—"धर्म ज्ञान है।" यदि एक मनुष्य को शुभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाए, तो उसके अनुसरण में वह कदापि असफल नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि किसी को उसका पूर्ण ज्ञान न हो सके, तो वह कदापि नैतिक नहीं हो सकता। इसी आधार पर सुकरात कहता है कि "ज्ञान धर्म है और अज्ञान अधर्म।" सुकरात का यह कथन कहाँ तक सत्य है, इस तथ्य की मीमांसा करने का यहाँ अवसर नहीं है, किन्तु सुकरात की बात मे इतना अन्तस्तथ्य अवश्य है कि धर्म के स्वरूप को ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता और बिना धर्म की विशुद्ध साधना के सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जैन-दर्शन के अनुसार जहाँ सम्यक् चारित्र है वहाँ सम्यक् [illegible] रहता है। ज्ञान क्या वस्तु है ? यह कोई

बाह्य वस्तु नहीं है, बल्कि वह मानव-मन की एक पवित्र भावना ही है। भारतीय संस्कृति संयम और ज्ञान में समन्वय स्वीकार करती है। अनेकान्त सिद्धान्त मे एकान्त संयम और एकान्त ज्ञान जैसी स्थिति को स्वीकार नही किया जा सकता। अतः धर्म और ज्ञान एक दूसरे का पोषण करते हैं।

आचार और विचार :

भारतीय धर्म-परम्परा मे विचार और आचार को समान रूप से जीवन के लिए उपयोगी माना गया है। यदि कोई विचार मानव-मस्तिष्क मे उद्भूत होकर आचार का रूप न ले सके, तो वह विचार जीवनोपयोगी विचार नहीं हो सकता, वह केवल बुद्धि का ही शृंगार कर सकता है, जीवन का शृंगार नहीं। सत् और असत् की विवेचना के बाद सत् का ग्रहण और असत् का परिहार करना ही होता है। शुभ और अशुभ को समझ कर, शुभ का ग्रहण और अशुभ का त्याग आवश्यक है। ज्ञान एवं विवेक हमारे गन्तव्य पथ का प्रकाशन करता है, किन्तु उस आलोकित पथ पर जीवन को गतिशील बनाने के लिए पवित्र चरित्र की आवश्यकता है। विचार आंख है और आचार पांव। आंख और पांव में जब तक समन्वय न साधा जाएगा, तब तक जीवन-रथ के चक्रों में गति, प्रगति और विकास नहीं आ सकेगा।

धर्म और ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य एक ऐसा धर्म है, जिसकी पवित्रता, पावनता और स्वच्छता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। एक बुरे से बुरा व्यभिचारी व्यक्ति भी व्यभिचार का सेवन करने के बाद पश्चात्ताप करता है। इसका अर्थ यह है कि वह वासना के आवेग में बहकर व्यभिचार का पाप तो कर लेता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा उसे इस पाप के लिए धिक्कारती है। जब तक मनुष्य के मन मे संयम, सदाचार और शील के प्रति आस्था का भाव जागृत नहीं होगा, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करना सरल नहीं है। विश्व के समस्त धर्मों में ब्रह्मचर्य को एक पावन और पवित्र धर्म माना गया है। इसकी पवित्रता से सभी प्रभावित हैं।

वैदिक परम्परा में आश्रम-व्यवस्था स्वीकार की गई है। चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य सबसे पहला आश्रम है। वैदिक परम्परा का यह विश्वास है कि मनुष्य को अपने जीवन का भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नीव पर खड़ा करना चाहिए। ज्ञान और विज्ञान की साधना एवं आराधना, बिना ब्रह्मचर्य की साधना के नहीं की जा सकती। ज्ञान-प्राप्त करने के लिए बुद्धि का स्वच्छ और निर्मल रहना आवश्यक है। किन्तु बुद्धि की निर्मलता तभी रह सकती है, जबकि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाए।

है, यह एक अर्जित प्रवृत्ति है। किन्तु भारतीय दार्शनिक एवं विचारक उनकी इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। क्योंकि भारतीय तत्व-चिंतक धर्म को सदा से ही आत्मा की सहज एवं स्वाभाविक वृत्ति मानते रहे हैं। धर्म शुभ एवं शुद्ध चैतन्य की स्थायी प्रवृत्ति है। वह विकृत तो हो सकता है, किन्तु कभी मिट नहीं सकता। इसलिए धर्म एक शाश्वत एवं अनन्त सत्य है।

धर्म और सुख :

धर्म और सुख में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह एक विचारणीय गम्भीर प्रश्न है। प्रत्येक युग में इस पर कुछ न कुछ विचार अवश्य ही किया गया है। मनुष्य धर्म इसीलिए करता है कि उसे उससे सुख की प्राप्ति हो। क्योंकि मानव-बुद्धि के प्रत्येक प्रयत्न के पीछे, सुख की अभिलाषा अवश्य रहती है। जब तक कि साधना के उत्कृष्ट कर्तव्यों में किसी को सुख न मिले, तब तक उन्हें अच्छा नहीं कहा जा सकता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को सदा प्रसन्न रहना चाहिए। अरस्तू के मतानुसार आनन्द, मानवीय कार्यों की उचित रूप से पूर्ति करने से उपलब्ध होता है। कार्यों के उचित अभ्यास में आनन्द मिलता है। मनुष्य-जीवन का विशिष्ट कार्य, जो अन्य जीवों से उसका भेद करता है, वह उसकी विचार-शक्ति है। अतः सुख एवं प्रसन्नता की उपलब्धि, धर्म की समुचित साधना में ही है। बुद्धिमय जीवन में स्थायी एवं निष्कलंक चरित्र और धर्मनिष्ठता अन्तर्गर्भित है। धर्मनिष्ठ जीवन में अमङ्गल एवं अशुभत्व आ नहीं सकता। सुख और आनन्द धर्मनिष्ठ जीवन का सहगामी है। धर्म स्वयं आनन्द नहीं है, बल्कि आनन्द की उपलब्धि में एक परम साधन है। जीवन का आनन्द धर्म पर निर्भर है। आनन्द नैतिक जीवन का उत्कर्ष है। आत्म-लाभ से आत्म-सन्तोष की उपलब्धि होती है। आत्म-लाभ का अर्थ है अपने स्वरूप की उपलब्धि, और यही सबसे बड़ा धर्म है।

धर्म और ज्ञान :

सुकरात का कथन है कि—"धर्म ज्ञान है।" यदि एक मनुष्य को शुभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाए, तो उसके अनुसरण में वह कदापि असफल नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि किसी को उसका पूर्ण ज्ञान न हो सके, तो वह कदापि नैतिक नहीं हो सकता। इसी आधार पर सुकरात कहता है कि "ज्ञान धर्म है और अज्ञान अधर्म।" सुकरात का यह कथन कहाँ तक सत्य है, इस तथ्य की मीमांसा करने का यहाँ अवसर नहीं है, किन्तु सुकरात की बात में इतना अन्तस्तथ्य अवश्य है कि धर्म के स्वरूप को ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता और बिना धर्म की विशुद्ध साधना के सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जैन-दर्शन के अनुसार जहाँ सम्यक् चारित्र होता है, वहाँ सम्यक् ज्ञान अवश्य ही रहता है। ज्ञान क्या वस्तु है ? वह कोई

बाह्य वस्तु नहीं है, बल्कि वह मानव-मन की एक पवित्र भावना ही है। भारतीय संस्कृति संयम और ज्ञान में समन्वय स्वीकार करती है। अनेकान्त सिद्धान्त में एकान्त संयम और एकान्त ज्ञान जैसी स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः धर्म और ज्ञान एक दूसरे का पोषण करते हैं।

आचार और विचार :

भारतीय धर्म-परम्परा में विचार और आचार को समान रूप से जीवन के लिए उपयोगी माना गया है। यदि कोई विचार मानव-मस्तिष्क मे उद्भूत होकर आचार का रूप न ले सके, तो वह विचार जीवनोपयोगी विचार नहीं हो सकता, वह केवल बुद्धि का ही शृंगार कर सकता है, जीवन का शृंगार नहीं। सत् और असत् की विवेचना के बाद सत् का ग्रहण और असत् का परिहार करना ही होता है। शुभ और अशुभ को समझ कर, शुभ का ग्रहण और अशुभ का त्याग आवश्यक है। ज्ञान एवं विवेक हमारे गन्तव्य पथ का प्रकाशन करता है, किन्तु उस आलोकित पथ पर जीवन को गतिशील बनाने के लिए पवित्र चरित्र की आवश्यकता है। विचार आँख है और आचार पाँव। आँख और पाँव में जब तक समन्वय न साधा जाएगा, तब तक जीवन-रथ के चक्रों में गति, प्रगति और विकास नही आ सकेगा।

धर्म और ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य एक ऐसा धर्म है, जिसकी पवित्रता, पावनता और स्वच्छता से कोई इन्कार नही कर सकता। एक बुरे से बुरा व्यभिचारी व्यक्ति भी व्यभिचार का सेवन करने के बाद पश्चात्ताप करता है। इसका अर्थ यह है कि वह वासना के आवेग में बहकर व्यभिचार का पाप तो कर लेता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा उसे इस पाप के लिए धिक्कारती है। जब तक मनुष्य के मन में संयम, सदाचार और शील के प्रति आस्था का भाव जागृत नहीं होगा, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करना सरल नहीं है। विश्व के समस्त धर्मों में ब्रह्मचर्य को एक पावन और पवित्र धर्म माना गया है। इसकी पवित्रता से सभी प्रभावित हैं।

वैदिक परम्परा में आश्रम-व्यवस्था स्वीकार की गई है। चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य सबसे पहला आश्रम है। वैदिक परम्परा का यह विश्वास है कि मनुष्य को अपने जीवन का भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नींव पर खड़ा करना चाहिए। ज्ञान और विज्ञान की साधना एवं आराधना, बिना ब्रह्मचर्य की साधना के नहीं की जा सकती। ज्ञान-प्राप्त करने के लिए बुद्धि का स्वच्छ और निर्मल रहना आवश्यक है। किन्तु बुद्धि की निर्मलता तभी रह सकती है, जबकि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाए।

है, यह एक अर्जित प्रवृत्ति है। किन्तु भारतीय दार्शनिक एवं विचारक उनकी इस व्याख्या से सहमत नहीं हैं। क्योंकि भारतीय तत्व-चिंतक धर्म को सदा से ही आत्मा की सहज एवं स्वाभाविक वृत्ति मानते रहे हैं। धर्म शुभ एवं शुद्ध चैतन्य की स्थायी प्रवृत्ति है। वह विकृत तो हो सकता है, किन्तु कभी मिट नहीं सकता। इसलिए धर्म एक शाश्वत एवं अनन्त सत्य है।

धर्म और सुख :

धर्म और सुख में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह एक विचारणीय गम्भीर प्रश्न है। प्रत्येक युग में इस पर कुछ न कुछ विचार अवश्य ही किया गया है। मनुष्य धर्म इसीलिए करता है कि उसे उससे सुख की प्राप्ति हो। क्योंकि मानव-बुद्धि के प्रत्येक प्रयत्न के पीछे, सुख की अभिलाषा अवश्य रहती है। जब तक कि साधना के उत्कृष्ट कर्तव्यों में किसी को सुख न मिले, तब तक उन्हें अच्छा नहीं कहा जा सकता। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को सदा प्रसन्न रहना चाहिए। अरस्तू के मतानुसार आनन्द, मानवीय कार्यों की उचित रूप से पूर्ति करने से उपलब्ध होता है। कार्यों के उचित अभ्यास में आनन्द मिलता है। मनुष्य-जीवन का विशिष्ट कार्य, जो अन्य जीवों से उसका भेद करता है, वह उसकी विचार-शक्ति है। अतः सुख एवं प्रसन्नता की उपलब्धि, धर्म की समुचित साधना में ही है। बुद्धिमय जीवन में स्थायी एवं निष्कलंक चरित्र और धर्मनिष्ठता अन्तर्गर्भित है। धर्मनिष्ठ जीवन में अमङ्गल एवं अशुभत्व आ नहीं सकता। सुख और आनन्द धर्मनिष्ठ जीवन का सहगामी है। धर्म स्वयं आनन्द नहीं है, बल्कि आनन्द की उपलब्धि में एक परम साधन है। जीवन का आनन्द धर्म पर निर्भर है। आनन्द नैतिक जीवन का उत्कर्ष है। आत्म-लाभ से आत्म-सन्तोष की उपलब्धि होती है। आत्म-लाभ का अर्थ है अपने स्वरूप की उपलब्धि, और यही सबसे बड़ा धर्म है।

धर्म और ज्ञान :

सुकरात का कथन है कि—"धर्म ज्ञान है।" यदि एक मनुष्य को शुभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हो जाए, तो उसके अनुसरण में वह कदापि असफल नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि किसी को उसका पूर्ण ज्ञान न हो सके, तो वह कदापि नैतिक नहीं हो सकता। इसी आधार पर सुकरात कहता है कि "ज्ञान धर्म है और अज्ञान अधर्म।" सुकरात का यह कथन कहाँ तक सत्य है, इस तथ्य की मीमांसा करने का यहाँ अवसर नहीं है, किन्तु सुकरात की बात में इतना अन्तस्तथ्य अवश्य है कि धर्म के स्वरूप को ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता और बिना धर्म की विशुद्ध साधना के सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जैन-दर्शन के अनुसार जहाँ सम्यक् चारित्र होता है, वहाँ सम्यक् ज्ञान अवश्य ही रहता है। ज्ञान क्या वस्तु है ? वह कोई

बाह्य वस्तु नहीं है, बल्कि वह मानव-मन की एक पवित्र भावना ही है। भारतीय संस्कृति संयम और ज्ञान में समन्वय स्वीकार करती है। अनेकान्त सिद्धान्त में एकान्त संयम और एकान्त ज्ञान जैसी स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः धर्म और ज्ञान एक दूसरे का पोषण करते हैं।

आचार और विचार :

भारतीय धर्म-परम्परा में विचार और आचार को समान रूप से जीवन के लिए उपयोगी माना गया है। यदि कोई विचार मानव-मस्तिष्क में उद्‌भूत होकर आचार का रूप न ले सके, तो वह विचार जीवनोपयोगी विचार नहीं हो सकता, वह केवल बुद्धि का ही शृंगार कर सकता है, जीवन का शृंगार नहीं। सद् और असद् की विवेचना के बाद सत् का ग्रहण और असद् का परिहार करना ही होता है। शुभ और अशुभ को समझ कर, शुभ का ग्रहण और अशुभ का त्याग आवश्यक है। ज्ञान एवं विवेक हमारे गन्तव्य पथ का प्रकाशन करता है, किन्तु उस आलोकित पथ पर जीवन को गतिशील बनाने के लिए पवित्र चरित्र की आवश्यकता है। विचार आँख है और आचार पाँव। आँख और पाँव में जब तक समन्वय न साधा जाएगा, तब तक जीवन-रथ के चक्रों में गति, प्रगति और विकास नहीं आ सकेगा।

धर्म और ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य एक ऐसा धर्म है, जिसकी पवित्रता, पावनता और स्वच्छता से कोई इन्कार नहीं कर सकता। एक बुरे से बुरा व्यभिचारी व्यक्ति भी व्यभिचार का सेवन करने के बाद पश्चात्ताप करता है। इसका अर्थ यह है कि वह वासना के आवेग में बहकर व्यभिचार का पाप तो कर लेता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा उसे इस पाप के लिए धिक्कारती है। जब तक मनुष्य के मन में संयम, सदाचार और शील के प्रति आस्था का भाव जागृत नहीं होगा, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करना सरल नहीं है। विश्व के समस्त धर्मों में ब्रह्मचर्य को एक पावन और पवित्र धर्म माना गया है। इसकी पवित्रता से सभी प्रभावित हैं।

वैदिक परम्परा में आश्रम-व्यवस्था स्वीकार की गई है। चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य सबसे पहला आश्रम है। वैदिक परम्परा का यह विश्वास है कि मनुष्य को अपने जीवन का भव्य प्रासाद ब्रह्मचर्य की नींव पर खड़ा करना चाहिए। ज्ञान और विज्ञान की साधना एवं आराधना, बिना ब्रह्मचर्य की साधना के नहीं की जा सकती। ज्ञान-प्राप्त करने के लिए बुद्धि का स्वच्छ और निर्मल रहना आवश्यक है। किन्तु बुद्धि की निर्मलता तभी रह सकती है, जबकि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाए।

जीवन के ऊँचे ध्येय को प्राप्त करने के लिए, ब्रह्मचर्य से बढ़ कर अन्य कोई साधन नहीं है।

जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य में एक अपार बल, अमित शक्ति और एक प्रचण्ड पराक्रम माना गया है। मानव जीवन को सरस, सुन्दर, शीतल एवं प्रकाशमय बनाने के लिए, ब्रह्मचर्य की साधना को आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य और अपरिहार्य भी माना गया है। ब्रह्मचर्य की स्तुति में बहुत कुछ लिखा गया है, कहा गया है और गाया गया है। यदि जीवन का आधार ही शुद्ध और पवित्र न हो तो, जिस लक्ष्य की ओर मानव बढ़ रहा है, वह भी पावन और पवित्र कैसे होगा ? जैन-परम्परा के सत्य-चिन्तकों ने ब्रह्मचर्य व्रत को स्थिर रखने के लिए जो शोध एवं खोज की है, जो नियम और उपनियम बनाए हैं, वे अद्भुत एवं विलक्षण हैं। परम प्रभु भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य धर्म की महिमा बताते हुए कहा है कि यह एक शाश्वत धर्म है। ध्रुव है, नित्य है, और कभी मिटने वाला नहीं है। 'एस धम्मे धुवे णिच्चे।' अतीत काल में अनन्त-अनन्त साधकों ने इसकी विशुद्ध साधना के द्वारा, सिद्धि की उपलब्धि करके, सिद्धत्व-भाव को प्राप्त किया है और अनन्त भविष्य में भी अनन्त साधक इस ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करेंगे। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में इससे सुन्दर उदात्त विचार और उज्ज्वल भावना विश्व-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्य को बड़ा महत्त्व दिया गया है। बौद्ध-परम्परा के सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि बोधि लाभ प्राप्त करने के लिए मार को जीतना आवश्यक है, वासना पर संयम रखना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपनी वासना पर संयम नहीं कर सकता, वह बुद्ध नहीं बन सकता। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में ब्रह्मचर्य को कितना आदर एवं सत्कार प्राप्त हुआ है।

भारतीय धर्मों के अतिरिक्त ईसाई धर्म में भी ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। बाइबिल में एक नहीं अनेक स्थानों पर व्यभिचार, विषय-वासना और विलासिता आदि दुर्गुणों की भर्त्सना की गई है और इसके विपरीत त्याग, संयम, शील और सदाचार के मधुर गीत गाए गए हैं। व्यभिचार करना, बलात्कार करना और विलासिता का पोषण करना, यह ईसाई धर्म में भयंकर पाप माने गए हैं। इस वर्णन से यह प्रमाणित हो जाता है कि ईसाई-धर्म में ब्रह्मचर्य को कितना महत्त्व दिया है।

मुस्लिम धर्म में भी व्यभिचार, विलास और वासना का तीव्र विरोध किया गया है। जिस व्यक्ति का जीवन विलासमय वासनामय होता है, मुस्लिम धर्म और

संस्कृति में उस व्यक्ति के जीवन को गर्हित एवं निन्दनीय समझा जाता है। दुनिया का कोई भी धर्म क्यों न हो, उन सब का एक मत और एक स्वर यही है कि ब्रह्मचर्य महान धर्म है।

वर्तमान युग में गाँधी जी ने भी ब्रह्मचर्य की स्थापना को जीवन-विकास के लिए परमावश्यक माना है। और उन्होंने स्वयं इस व्रत की दीर्घ काल तक साधना करके इसे परखा है।

●

ब्रह्मचर्य क्या है ? वह चरित्र का मूल है। वह मोक्ष का एक मात्र कारण है। जो व्यक्ति विशुद्ध-भाव से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह पूज्यों का भी पूज्य बन जाता है।

जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य की साधना करता है, वह दीर्घ जीवन प्राप्त करता है। उसका शरीर स्वस्थ रहता है, उसका मन प्रसन्न रहता है और उसकी बुद्धि स्वच्छ एवं पवित्र रहती है।

नीति-शास्त्र : ब्रह्मचर्य

मानव-जीवन के विकास में उसके उत्थान और उसकी आध्यात्मिक साधना में नीति-शास्त्र का एक बहुत बड़ा योग-दान रहा है। नीति-शास्त्र मानव-जीवन का एक परिष्कृत एवं संस्कृत दर्शन है। नीति-शास्त्र इस नैतिक विश्वास को विचारात्मक अन्तर्दृष्टि में परिणत करता है कि सत् से असत् का क्या भेद है, शुभ का अशुभ से क्या विभेद है? मुख्य रूप में जीवन के शुभत्व और अशुभत्व का विश्लेषण करना, यही नीति-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। नीति-शास्त्र विचारमूलक नैतिकता का विज्ञान है। यह एक नीति का विज्ञान है। नीति-शास्त्र नैतिकता की मीमांसा है। नीति-शास्त्र विश्वास को विवेक में परिवर्तित करता है। एक विद्वान के कथनानुसार नीतिशास्त्र मनुष्यों की आदतों की पृष्ठभूमि में स्थित सिद्धान्तों का विवेचन और उनकी बुराई एवं अच्छाई के कारणों का विश्लेषण करता है। यह आचार का नियामक विज्ञान है। इसी आधार पर इसे आचार-शास्त्र भी कहा जाता है। इसे (Moral philosophy) भी कहते हैं।

नीति-शास्त्र विज्ञान नहीं है, क्योंकि विज्ञान हमें, जानना सिखाता है जब कि नीति-शास्त्र हमें कर्तव्य एवं आचरण सिखाता है वस्तुतः नीति-शास्त्र एक आचार शास्त्र है। प्लेटो के विचार के अनुसार मानव-जीवन के तीन आदर्श हैं—सत्यं, शिवं, सुन्दरं। मनुष्य के अनुभवात्मक जीवन में यह सर्वाधिक मूल्य रखते हैं। इनका सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन के तीन पहलुओं के साथ है—ज्ञान, क्रिया और भावना। नीति-शास्त्र इन तीनों के तथ्य का अनुसंधान करके उन्हें जीवनोपयोगी बनाने का प्रयत्न करता है।

नीति-शास्त्र का क्षेत्र :

नीति-शास्त्र का क्षेत्र मनुष्य के व्यवहार एवं चरित्र का प्रकाशन है। चरित्र संकल्प का अभ्यस्त रूप है। यह मन की आन्तरिक वृत्ति अथवा अभ्यस्त क्रियाओं से उत्पन्न एक स्थायी प्रवृत्ति है। आचार-शास्त्र को कभी चरित्र का विज्ञान भी कहा

जाता है। चरित्र के विज्ञान का अर्थ है, जिसमें मनुष्य के आचार पर वैज्ञानिक पद्धति से विचार किया जाए। क्योंकि मनुष्य वही कुछ करता है, जिसे वह पहले किसी न किसी रूप में जान चुका है। नीति-शास्त्र हमें यह बतलाता है कि सत्कर्म से पुण्य होता है और असत् कर्म से पाप। नीति-शास्त्र पुण्य और पाप तथा धर्म-अधर्म के लक्षणों का विवेचन करता है। वह इस तथ्य को जानने का प्रयत्न करता है कि मनुष्य के द्वारा किया गया कोई भी कर्म सत् और असत् क्यों होता है, वह शुभ और अशुभ कैसे होता है? नीति-शास्त्र पुण्य और पाप को व्यक्ति की नैतिक योग्यताएँ मानता है। नीति-शास्त्र पुण्य और पाप तथा उनके फल पर एक वैज्ञानिक पद्धति से विचार प्रस्तुत करता है। नीति-शास्त्र के लिए इच्छा-स्वातन्त्र्य एक स्वीकृत सत्य है। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी कर्म को करने में स्वतन्त्र है, भले ही वह कर्म शुभ हो या अशुभ, सत् हो या असत्, एवं अच्छा हो या बुरा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार, वह जैसा भी चाहे कर्म कर सकता है, किन्तु इस कर्म का फल उस व्यक्ति के हाथ में नहीं रहता। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि नीति-शास्त्र हमारी जीवन की प्रत्येक क्रिया पर सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुसंधान करता है—और मनुष्य को अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा करता है। यही नीति-शास्त्र का मुख्य ध्येय है।

महावीर का आचार-शास्त्र :

भगवान् महावीर ने अपने आचार-शास्त्र की आधार-शिला अहिंसा एवं समत्वयोग को बनाया। उनका कथन है, कि अहिंसा के बिना मानव-संस्कृति का उन्नयन एवं अभ्युत्थान नहीं हो सकता। अहिंसा मानव-आत्मा की एक विराट्, विशाल एवं व्यापक भावना है, जिसमें समग्र विश्व को आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता एवं योग्यता है। जिस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म, विश्व के कण-कण में परिव्याप्त है, उसी प्रकार भगवान महावीर की अहिंसा, चेतनात्मक जगत के प्राण-प्राण में परिव्याप्त है। अहिंसा का अर्थ है—सहयोग, सहकार और अस्तित्व। अहिंसा का अर्थ है—एक प्राण का दूसरे प्राण के साथ आत्मीय सम्बन्ध। जो कुछ अपने को अनुकूल और रुचिकर नहीं है, वही दूसरे को भी अनुकूल और रुचिकर कैसे हो सकता है? अहिंसा का यह विराट् भाव ही भगवान महावीर की अहिंसा का मूल आधार है।

भगवान महावीर के आचार-शास्त्र के अनुसार आचार के पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यद्यपि साधना की दृष्टि से और स्वरूप की दृष्टि से इस आचार में किसी प्रकार का विभेद नहीं है फिर भी साधक की योग्यता को देखकर, इसके दो खण्ड किए गए हैं—श्रावक-आचार और दूसरा श्रमण-आचार। श्रावक-आचार को अणुव्रत कहा जाता है और श्रमण-आचार को

महाव्रत। अहिंसा का अर्थ है—किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न देना। सत्य का अर्थ है, यथार्थ भाषण करना। अस्तेय का अर्थ है, किसी की वस्तु उसकी बिना आज्ञा के ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, अपनी वासना पर संयम रखना। अपरिग्रह का अर्थ है, किसी भी वस्तु पर आसक्ति भाव न रखना। इसके अतिरिक्त अपने मन को, वाणी को और शरीर को किसी भी पाप-वृत्ति मे संलग्न न करना। बोलते समय यह ध्यान रखना चाहिए, कि मैं क्या बोल रहा हूँ और किससे क्या कह रहा हूँ? किसी प्रकार का अनुचित शब्द तो मेरे मुख से नही निकल रहा है? मार्ग में चलते हुए यह ध्यान रखना कि मैं कहाँ चल रहा हूँ और जिस पथ पर मैं चल रहा हूँ, वह कैसा है। किसी से कोई वस्तु लेते समय भी विवेक रखो और किसी को कोई वस्तु देते समय भी विवेक रखना आवश्यक है। किसी भी वस्तु को ग्रहण करने से पूर्व उसके अच्छे एवं बुरे परिणाम पर भी विचार करना चाहिए। किसी वस्तु का परित्याग करते समय, साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं किस वस्तु को कहाँ डाल रहा हूँ।

भगवान महावीर ने अपने आचार-शास्त्र में साधक के लिए यह उपदेश दिया है कि वह प्रतिदिन चार भावनाओं पर विचार करे—मैत्री-भावना, प्रमोद-भावना करुण-भावना और मध्यस्थभावना। मैत्री भावना का अर्थ है—संसार के प्रत्येक प्राणी को, प्रत्येक चेतन आत्मा को हम अपना मित्र समझें। उसके प्रति शत्रुता की भावना न रखें। प्रमोद भावना का अर्थ है—संसार में जो स्वस्थ, प्रसन्न और सम्पन्न आत्माएँ हैं, उनकी प्रसन्नता और सम्पन्नता को देखकर, हमारे मन में प्रमोद हो, हर्ष हो, किन्तु ईर्ष्या और असूया न हो। करुण-भावना का अर्थ है—संसार मे जो दीन-हीन एवं दुःखी प्राणी हैं, उनके प्रति हमारे हृदय मे करुणा, दया और अनुकम्पा रहे। मध्यस्थ भावना का अर्थ है—संसार में जो विरोधी हैं, उनके प्रति भी हमारे हृदय में कभी विरोध की भावना उत्पन्न न हो। संक्षेप में भगवान महावीर का आचार-शास्त्र और नीति-शास्त्र यही है।

बुद्ध का आचार-शास्त्र :

भगवान बुद्ध ने अपने आचार-शास्त्र मे उन सभी बातों को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है, जिन्हें भगवान महावीर ने मान्यता दी है। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को पंचशील का उपदेश दिया है और कहा है कि इस पंचशील के पालन से मानव के जीवन का विकास होगा। उन्होंने कहा है कि जगत के समस्त प्राणी प्रसन्न हों एवं सुखी हों। कोई किसी से वैर न रखे, कोई किसी से घृणा न करें। क्रोध को शान्ति से जीतने का प्रयत्न करो। किसी को अश्लील शब्द मत कहो।

अपने शत्रु से भी मित्र जैसा व्यवहार करो। हमेशा ध्यान रखो कि, दूसरे को किसी भी प्रकार का कष्ट मत दो। जो व्यक्ति अपनी वासना को जीत नही सकता, वह अपने जीवन का विकास नहीं कर सकता। बुद्ध ने अपने आचार-शास्त्र में मुख्य रूप से चार आर्य-सत्यों का कथन किया है। वे चार आर्य-सत्य इस प्रकार हैं—जगत में दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख को दूर किया जा सकता है, दुःख के निवारण का उपाय है। इन आर्य-सत्यों में यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि यह ससार दुःखमय है, किन्तु इन दुःखों से साधना के द्वारा मनुष्य विमुक्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त भगवान बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग का उपदेश भी दिया है। वस्तुतः बुद्ध के आचार-शास्त्र का यह एक मुख्य आधार है। यह अष्टांगिक मार्ग इस प्रकार है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, प्राणि-हिंसा से विरत होना, सम्यक् आजीव, सम्यग् व्यायाम=जागरूकता, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। बुद्ध का आचार-शास्त्र जीवन की आन्तरिक विशुद्धि पर बल देता है। उन्होंने कहा है कि मन को अशुभ संकल्पोंसे बचाना चाहिए और उसमें सदा शुभ संकल्प ही रहने चाहिए। बुद्ध के जीवन में करुणा एवं वैराग्य विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। बुद्ध ने अपने अनुभव के आधार पर यह बतलाया कि मानव-जीवन की सार्यकता और सफलता इसी बात में है कि वह शीघ्र से शीघ्र वासना के बन्धन से और भोग-विलास की लोलुपता से अपने आपको मुक्त करले।

●

वासना उस किंपाक विष-फल के समान है, जो खाने में मधुर होता है, सूंघने में सुरभित होता है, किन्तु जिस का परिणाम है—मृत्यु।

दर्शन-शास्त्र : ब्रह्मचर्य

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—तप, त्याग और संयम। संयम में जो सौन्दर्य है, वह भौतिक भोग-विलास में कहाँ है। भारतीय धर्म और दर्शन के अनुसार सच्चा सौन्दर्य तप और त्याग में ही है। संयम ही यहाँ का जीवन है। संयमः खलु जीवनम्। संयम में से आध्यात्मिक संगीत प्रकट होता है। संयम का अर्थ है—अध्यात्म-शक्ति। संयम एक सार्वभौम वस्तु है। पूर्व और पश्चिम उभय संस्कृतियों में इसका आदर एवं सत्कार है। संयम, शील और सदाचार ये जीवन के पवित्र प्रतीक हैं। संयम एवं शील क्या है ? जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही संयम एवं शील है। असंयम की दवा संयम ही हो सकती है। विष की चिकित्सा अमृत ही हो सकता है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है कि—"सागरे सर्व-तीर्थानि" संसार के समस्त तीर्थ जिस प्रकार समुद्र में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार दुनिया भर के संयम, सदाचार एवं शील ब्रह्मचर्य में अन्तर्निहित हो जाते हैं। एक गुरु अपने शिष्य से कहता है—"यथेच्छसि तथा कुरु" यदि तेरे जीवन में त्याग, संयम और वैराग्य है, तो फिर तू भले ही कुछ भी कर, कहीं भी जा, कहीं पर भी रह, तुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। आचार्य मनु कहते हैं कि—"मनःपूतं समाचरेत्" यदि मन पवित्र है, तो फिर जीवन का पतन नहीं हो सकता। इसलिए जो कुछ भी साधना करनी हो, वह पवित्र मन से करो। यही ब्रह्मचर्य की साधना है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जो अपने युग के महान दार्शनिक, विचारक और समाज के समालोचक एवं संशोधक थे, अपनी ग्रीक-संस्कृति का सारतत्व बतलाते हुए, उन्होंने भी यही कहा कि संयम और शील के बिना मानव-जीवन निस्तेज एवं निष्प्रभ है। मनुष्य यदि अपने जीवन में सदाचारी नहीं हो सकता, तो वह कुछ भी नहीं हो सकता। संयम और सदाचार ही मानव-जीवन के विकास के आधारभूत तत्व हैं। प्लेटो ने लिखा है कि मनुष्य-जीवन के तीन [illegible] हैं—Thought (विचार) Desires (इच्छाएँ) और Feeli[illegible] [illegible] मस्तिष्क में जो कुछ [illegible] इच्छाओं के अनुसार

ही उसकी भावना बनती है। मनुष्य व्यवहार में वही करता है, जो कुछ उसके हृदय के अन्दर भावनाएँ उठती हैं। विचार से आचार प्रभावित होता है और आचार से मनुष्य का विचार भी प्रभावित होता है।

अध्यात्म दृष्टि :

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति भौतिक नहीं, आध्यात्मिक हैं। यहाँ प्रत्येक व्रत, तप, जप और संयम को भौतिक दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से आँका जाता है। साधक जब भोग-वाद के दल-दल में फँस जाता है, तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को वह भूल जाता है। इसलिए भारतीय विचारक, तत्व-चिन्तक और सुधारक साधक को बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि आसक्ति, मोह, तृष्णा और वासना के कुचक्रों से बचो। जो व्यक्ति वासना के झंझावात से अपने शील की रक्षा नहीं कर पाता, वह कथमपि अपनी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। न जाने कब वासना की तरंग मन में उठ खड़ी हो। उस वासना की दूषित तरंग के प्रभाव से बचने के लिए सतत जागरूक और सावधान रहने की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ :

ब्रह्मचर्य के लिए भारतीय साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है—"उपस्थ-संयम, वस्ति-निरोध, मैथुन-विरमण, शील और वासना-जय।" योग सम्बन्धी ग्रन्थों मे ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-संयम किया गया है। अथर्ववेद में वेद को भी ब्रह्म कहा गया है। अतः वेद के अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म, ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ परमात्मभाव किया जाता है। उस परमात्म-भाव के लिए जो अनुष्ठान एवं साधना की जाती है, वह ब्रह्मचर्य है। बौद्ध पिटकों मे ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय के 'महापरिनिव्वाण सुत्त' में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग—बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग के अर्थ में हुआ है। दीघनिकाय के पोट्ठपाद में ब्रह्मचर्य का अर्थ है—बौद्ध धर्म में निवास। विशुद्धि-मार्ग के प्रथम भाग मे ब्रह्मचर्य का अर्थ वह धर्म है, जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

जैन-दृष्टि से ब्रह्मचर्य :

जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य शब्द के लिए मैथुन-विरमण और शील शब्द का प्रयोग विशेष रूप से उपलब्ध होता है। 'सूत्रकृतांग सूत्र' की आचार्य शीलाङ्क कृत संस्कृत टीका मे, ब्रह्मचर्य की व्याख्या इस प्रकार से की है—"जिसमें सत्य, तप, भूत-दया और इन्द्रिय निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है।" वाचक उमास्वाति के 'तत्वार्थ सूत्र' ९-६ के भाष्य में गुरुकुल-वास को ब्रह्मचर्य कहा है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य बताया है कि व्रत-परिपालन, ज्ञान-वृद्धि और कषाय-जय। भाष्य में मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन के

दर्शन-शास्त्र : ब्रह्मचर्य

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—तप, त्याग और संयम। संयम में ज
सौन्दर्य है, वह भौतिक भोग-विलास में कहाँ है। भारतीय धर्म और दर्शन के अनुसा
सच्चा सौन्दर्य तप और त्याग में ही है। संयम ही यहाँ का जीवन है। संयमः ख
जीवनम्। संयम में से आध्यात्मिक संगीत प्रकट होता है। संयम का अर्थ है—अध्यात्म
शक्ति। संयम एक सार्वभौम वस्तु है। पूर्व और पश्चिम उभय संस्कृतियों में इसक
आदर एवं सत्कार है। संयम, शील और सदाचार ये जीवन के पवित्र प्रतीक हैं
संयम एवं शील क्या है? जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही संय
एवं शील है। असंयम की दवा संयम ही हो सकती है। विष की चिकित्सा अमृत ही
हो सकता है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है कि—"सागरे सर्व-तीर्थानि" संसा
के समस्त तीर्थ जिस प्रकार समुद्र में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार दुनिया भर
के संयम, सदाचार एवं शील ब्रह्मचर्य में अन्तर्निहित हो जाते हैं। एक गुरु अपने शिष्य
से कहता है—"यथेच्छसि तथा कुरु" यदि तेरे जीवन में त्याग, संयम और वैराग्य है
तो फिर तू भले ही कुछ भी कर, कहीं भी जा, कहीं पर भी रह, तुझे किसी प्रकार का
भय नहीं है। आचार्य मनु कहते हैं कि—"मन.पूतं समाचरेत्" यदि मन पवित्र है, तो
फिर जीवन का पतन नहीं हो सकता। इसलिए जो कुछ भी साधना करनी हो, वह
पवित्र मन से करो। यही ब्रह्मचर्य की साधना है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जो अपने युग के महान दार्शनिक, विचारक
और समाज के समालोचक एवं संशोधक थे, अपनी ग्रीक-संस्कृति का सारतत्व बतलाते
हुए, उन्होंने भी यही कहा कि संयम और शील के बिना मानव-जीवन निस्तेज एवं
निष्प्रभ है। मनुष्य यदि अपने जीवन में सदाचारी नहीं हो सकता, तो वह कुछ भी
नहीं हो सकता। संयम और सदाचार ही मानव-जीवन के विकास के आधारभूत तत्व
हैं। प्लेटो ने लिखा है कि मनुष्य-जीवन के तीन विभाग हैं—Thought (विचार)
Desires (इच्छाएँ) और Feelings (भावनाएँ)। मनुष्य अपने मस्तिष्क में जो कुछ
सोचता है, अपने मन में वह वैसी ही इच्छा करता है और उसकी इच्छाओं के अनुसार

ही उसकी भावना बनती है। मनुष्य व्यवहार में वही करता है, जो कुछ उसके हृदय के अन्दर भावनाएँ उठती हैं। विचार से आचार प्रभावित होता है और आचार से मनुष्य का विचार भी प्रभावित होता है।

अध्यात्म दृष्टि :

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति भौतिक नहो, आध्यात्मिक हैं। यहाँ प्रत्येक व्रत, तप, जप और संयम को भौतिक दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से आँका जाता है। साधक जब भोग-वाद के दल-दल में फँस जाता है, तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को वह भूल जाता है। इसलिए भारतीय विचारक, तत्त्व-चिन्तक और सुधारक साधक को बार-बार यह चेतावनी देते हैं कि आसक्ति, मोह, तृष्णा और वासना के कुचक्रों से बचो। जो व्यक्ति वासना के झंझावात से अपने शील की रक्षा नहीं कर पाता, वह कथमपि अपनी साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। न जाने कब वासना की तरंग मन मे उठ खड़ी हो। उस वासना की दूषित तरंग के प्रभाव से बचने के लिए सतत जागरूक और सावधान रहने की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ :

ब्रह्मचर्य के लिए भारतीय साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है—"उपस्थ-संयम, वस्ति-निरोध, मैथुन-विरमण, शील और वासना-जय।" योग सम्बन्धी ग्रन्थों मे ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-संयम किया गया है। अथर्ववेद में वेद को भी ब्रह्म कहा गया है। अतः वेद के अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म, ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ परमात्मभाव किया जाता है। उस परमात्म-भाव के लिए जो अनुष्ठान एवं साधना की जाती है, वह ब्रह्मचर्य है। बौद्ध पिटकों मे ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय के 'महापरिनिब्बाण सुत्त' में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग— बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग के अर्थ में हुआ है। दीघनिकाय के पोट्ठपाद में ब्रह्मचर्य का अर्थ है—बौद्ध धर्म मे निवास। विशुद्धि-मार्ग के प्रथम भाग मे ब्रह्मचर्य का अर्थ वह धर्म है, जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

जैन-दृष्टि से ब्रह्मचर्य :

जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य शब्द के लिए मैथुन-विरमण और शील शब्द का प्रयोग विशेष रूप से उपलब्ध होता है। 'सूत्रकृतांग सूत्र' की आचार्य शीलाङ्क कृत संस्कृत टीका मे, ब्रह्मचर्य की व्याख्या इस प्रकार से की है—"जिसमें सत्य, तप, भूत-दया और इन्द्रिय निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है।" वाचक उमास्वाति के 'तत्वार्थ सूत्र' ९-६ के भाष्य में गुरुकुल-वास को ब्रह्मचर्य कहा है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य बताया है कि व्रत-परिपालन, ज्ञान-वृद्धि और कषाय-जय। भाष्य में मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन के

भाव को और कर्म को मैथुन कहते हैं। मैथुन ही अब्रह्म है। पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र ७-१६ की सर्वार्थ सिद्धि में कहा है—मोह के उदय होने पर राग परिणाम से स्त्री और पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है, वह मिथुन है और उसका कार्य (सम्भोग) मैथुन है। दोनों के पारस्परिक भाव एवं कर्म मैथुन नहीं, राग-परिणाम के निमित्त से होने वाली चेष्टा एवं क्रिया मैथुन है। अकलंक देव ने 'तत्त्वार्थसूत्र' ७-१६ के अपने राजवार्तिक में एक विशेष बात कही है—हस्त, पाद, और पुद्गल-संघटन आदि से एक व्यक्ति का अब्रह्म सेवन भी मैथुन है। क्योंकि यहाँ एक व्यक्ति मोह के उदय से प्रकट हुए काम रूपी पिशाच के सम्पर्क से दो हो जाता है और दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नहीं है। अकलंकदेव ने यह भी कहा है कि—पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच रागभाव होने से होने वाली अनुचित-चेष्टा भी अब्रह्म है।

ब्रह्मचर्य : योग का अंग

योग-साधना में विशेष रूप से ब्रह्मचर्य की साधना को महत्व दिया गया है। पतञ्जलि ने अपने 'योग-दर्शन' में पाँच यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है। भगवान महावीर ने अपने आचार-योग की आधारशिलारूप पंच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य को भी साधु के लिए महाव्रत और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप में स्वीकार किया है। बुद्ध ने भी अपने पंचशीलों में ब्रह्मचर्य को एक शील माना है। इस पर से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य की साधना बहुव्यापी एवं विस्तृत साधना है। ब्रह्मचर्य की साधना स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समानभाव से विहित है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुरुष साधक के लिए उसकी ब्रह्मचर्य-साधना में स्त्री विघ्न रूप होती है और स्त्री साधक के लिए उसकी ब्रह्मचर्य-साधना में पुरुष बाधक होता है। किन्तु दोनों अलग-अलग रहकर ब्रह्मचर्य की साधना करते रहे हैं और कर भी सकते हैं। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि, पुरुष के लिए जैसे नारी वर्जित है, उसी प्रकार साधना-काल में स्त्री के लिए पुरुष भी वर्जित है। जो साधक योग की साधना करना चाहते हैं और उसके फल की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले ब्रह्मचर्य की साधना की ओर विशेष लक्ष्य देना पड़ता है। योग-साधना में वासना, कामना, तृष्णा और आसक्ति बाधक तत्त्व हैं।

मैथुन : एक महादोष

आचार्य हेमचन्द्र अपने 'योग-शास्त्र' में कहते हैं कि—प्रारम्भ में तो मैथुन रमणीय, एवं सुखद प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में वह अत्यन्त भयंकर एवं दुःखद रहता है। विषय-भोग उस किंपाक फल के समान हैं, जो देखने में सुहावना, खाने में सुस्वादु और सूंघने में सुगन्धित होते हुए भी परिणाम में भयंकर है, घातक

एवं विनाशक है। मैथुन से कम्प, स्वेद, श्रम, मूर्छा, मोह, चक्कर, ग्लानि, शक्ति का क्षय और राजयक्ष्मा आदि भयंकर रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। मैथुन में हिंसा भी होती है। कहा गया है कि मैथुन का सेवन करते समय योनि-रूपी यन्त्र में उत्पन्न होने वाले अत्यन्त सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। काम-शास्त्र के प्रणेता आचार्य वात्स्यायन ने भी स्त्री-योनि में सूक्ष्म जन्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अध्यात्म साधक के लिए मैथुन सेवन एक भयंकर पाप है। जो लोग यह समझते है कि भोग में शान्ति है, संसार में उनसे बढ़कर अज्ञानी अन्य कोई नही हो सकता। जो व्यक्ति विषय-वासना का सेवन करके कामज्वर का प्रतिकार करना चाहता है, वह अग्नि में घृत की आहुति डालकर उसे बुझाना चाहता है। जैसे घी से आग बुझती नहीं, वैसे ही काम से वासना कभी शान्त नही होती है। अध्यात्म शास्त्र में मैथुन सेवन के दोष बताते हुए कहा गया है कि विषय-वासना नरक का द्वार है इससे बुद्धि का विनाश होता है और आत्मा के सद्गुणों का घात।

ब्रह्मचर्य का फल :

ब्रह्मचर्य संयम का मूल है। परब्रह्म=मोक्ष का एक मात्र कारण है। ब्रह्मचर्य पालन करने वाला पूज्यों का भी पूज्य है। सुर, असुर एवं नर सभी का वह पूज्य होता है, जो विशुद्ध मन से ब्रह्मचर्य की साधना करता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य स्वस्थ, प्रसन्न और सम्पन्न रहता है। ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य का जीवन तेजस्वी और ओजस्वी बन जाता है।

जो व्यक्ति विषय-सेवन से काम के ताप को शान्त करना चाहता है, वह जलती ज्वाला में घी की आहुति डाल कर, उसे बुझाना चाहता है।

है। इस सन्दर्भ में महाकवि अश्वघोष ने अपने 'बुद्ध-चरित' में वर्णित किया है कि मार ने सुन्दर से सुन्दर अप्सराएँ भेजकर, उनके संगीत-नृत्य और विविध प्रकार के हाव-भावों से बुद्ध के साधनाकालीन चित्त को विचलित करने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु बुद्ध अपनी साधना में एक स्थिर योद्धा की भाँति अजेय रहे, अकम्प और अडोल रहे। महाकवि अश्वघोष ने अन्त में यह लिखा कि वासना के इस भयङ्कर युद्ध में, मार पराजित हुआ और बुद्ध विजेता बने। बौद्ध संस्कृति में यह बतलाया गया है कि जब तक साधक अपने मन के मार पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक वह बुद्ध बनने के योग्य नहीं है, बुद्ध बनने के लिए मार अर्थात् काम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

श्रमण-संस्कृति के ज्योतिर्मय इतिहास में तो एक नहीं, अनेक हृदयस्पर्शी जीवन-गाथाओं का अङ्कन किया गया है, जिनमें ब्रह्मचर्य की साधना के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मनुष्य जीवन के लिए प्रेरणाप्रद एवं दिशा-दर्शक रूपक आख्यानों से ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधकों के लिए पवित्र प्रेरणा और बल प्राप्त होता है। मूल आगमों में 'राजीमती' और 'रथनेमि का वर्णन आज भी उपलब्ध हैं। रथनेमि, जो अपने युग का कठोर साधक था, रैवताचल की गुफा के एकान्त स्थान में राजीमती क अद्भुत सौंदर्य को देख कर मुग्ध हो जाता है, वह अपनी साधना को भूल जाता है, और वासना का दास बनकर राजीमती से वासना की याचना करने लगता है। परन्तु उस ज्योतिर्मय नारी ने उसकी इस संयम-भ्रष्टता की भर्त्सना की और कहा कि कोई भी साधक अपनी साधना में तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि वह अपने मन के विकल्पों को न जीत ले। रूप को देख कर भी जिसके मन में रूप के प्रति आसक्ति उत्पन्न न हो, वही वस्तुतः सच्चा साधक है। काम और वासना पर बिना विजय प्राप्त किए, अपनी साधना के अभीष्ट फल को अधिगत नहीं कर सकता। और तो क्या, भ्रष्ट जीवन की अपेक्षा तो मरण ही श्रेयकर है। राजीमती के अध्यात्म उपदेश को सुनकर रथनेमि पुनः संयम में ही स्थिर हो गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित' में एक महान साधक के जीवन का बड़ा ही सुन्दर एवं भव्य चित्र अङ्कित किया है। वे महान साधक थे, 'स्थूल भद्र' जिन्होंने अपने जीवन की ज्योति से ब्रह्मचर्य की साधना को सदा के लिए ज्योतिर्मय बना दिया। दो हजार वर्ष जितना लम्बा एवं दीर्घ समय व्यतीत हो जाने पर भी आज तक के साधक, ब्रह्मचर्य व्रत के अमर साधक स्थूलभद्र को भूल नहीं सके हैं। स्थूलभद्र के जीवन के सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि वे योगियों में श्रेष्ठ योगी, ध्यानियों में श्रेष्ठ ध्यानी, और तपस्वियों में श्रेष्ठ तपस्वी थे। स्थूलभद्र की इस यशो-गाथा को सुनने के बाद सुनने वाले के दिमाग में यह प्रश्न उठता है कि आखिर वह क्या साधना की थी, कैसे की थी और कहाँ की थी?

यह घटना भारत के प्राचीन समृद्ध नगर पाटलिपुत्र की है। योगी स्थूल भद्र अपने योग-साधना काल में पूर्व वचन-बद्धता के कारण वर्षा-वास के लिए पटना आए। इस समृद्ध नगर की तत्कालीन रूप-सम्पन्न, वैभव-सम्पन्न और विलास-सम्पन्न पूर्व प्रेयसी 'कोशा' वेश्या को प्रतिबोध देने का, उसे वासनामय जीवन से निकाल कर सदाचार के मार्ग पर लगाने का दिव्य संकल्प उनके अन्तस् में ज्योतिर्मय हो रहा था। यद्यपि यह संकल्प अपने मे परम पावन और परम पवित्र था, किन्तु उसे साकार करना, सहज और आसान न था। आग से खेलकर भी आग से दग्ध न होना, भयङ्कर प्रसुप्त विषधर को जगाकर भी उससे बच निकलना और अपनी भुजाओं के बल से विशाल महासागर को पार कर सकना जैसे सम्भव नहीं है, वैसे ही इस पवित्र विचार को साकार करना सम्भव न था, किन्तु उस योगी ने अपनी संकल्प शक्ति से अपनी (Will power) से असम्भव को भी सम्भव बना दिया। कोशा वेश्या के घर, जहाँ पर मादक मेघमाला की वर्षा की रिमझिम में मधुर सङ्गीत की स्वर-लहरी, नृत्य करते समय पायलों की झंकार, और विविध प्रकार की विलासी भाव भंङ्गिमा चल रही हो, ऐसे विलासमय एवं वासनामय वातावरण में भी जो योगी अपने योग में स्थिर रह सका, अपने ध्यान में अविचलित रह सका और अपनी ब्रह्मचर्य की साधना में अखण्डित रह सका, निश्चय ही वह स्थूलभद्र अपने युग का विशाल एवं विराट अपराजित काम-विजेता वीर पुरुष था। उसके ब्रह्मचर्य की साधना को खण्डित करने के लिए कोशा वेश्या का एक भी प्रयत्न सफल नहीं हो सका। अन्त में पराजित होकर उसने जिज्ञासु साधक की भाषा में कहा, "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।" मैं आपकी शिष्या हूँ, आप मुझे सन्मार्ग बतलाकर मेरे जीवन का उद्धार करें।" एक योगी के समक्ष, विलासवती कोशा वेश्या का यह आत्म-समर्पण, निश्चय ही, वासना पर संयम की विजय है, कामना पर शुभ संकल्प का जयघोष है और एक योगी की अमूर्त दृढ़ इच्छा-शक्ति का साकार रूप है। अन्त में कोशा वेश्या अपने विलास और वासनामय जीवन का परित्याग करके, आध्यात्मिक जीवन अंगीकार करती है और अब्रह्मचर्य के पाप से हटकर, ब्रह्मचर्य की पुण्यमयी शरण में, पहुँच जाती है।

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य को जितना गौरव और महत्त्व मिला है, उतना अन्य किसी व्रत और नियम को नहीं मिला। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति की तीनों धाराओं में—वैदिक, जैन और बौद्ध परम्परा में, कुछ ऐसे विशिष्ट ब्रह्मचर्य के साधक हुए हैं, जिन्होंने अपनी अध्यात्म साधना के बल पर, सम्पूर्ण मानव जाति के समक्ष, एक महान् आदर्श प्रस्तुत किया था। जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इन जीवन-गाथाओं से भली भाँति यह प्रमाणित हो जाता है कि

ब्रह्मचर्य का पालन केवल आदर्श ही नहीं, बल्कि वह जीवन की यथार्थता के धरातल पर भी उतर सकता है। भारतीय संस्कृति में, इसी आधार पर ब्रह्मचर्य की अपार महिमा गाई है। ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है ? ब्रह्म-भाव एवं आत्मभाव के लिए, सतत प्रयत्न करते रहना। प्रयत्न करते रहना ही नहीं, अन्ततः ब्रह्मभाव एवं आत्मभाव में सर्वतो-भावेन लीन हो जाना, निर्विकार हो जाना।

ब्रह्मचर्य की साधना एक अध्यात्म साधना है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में गाँधी जी ने लिखा है कि ब्रह्मचर्य किसी एक इन्द्रिय का संयम नहीं है, वह सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम है, वह जीवन का सर्वाङ्गीण संयम है। ब्रह्मचर्य का पालन उसी समय सम्भव है, जबकि विशेषतः आँख, कान और जबान पर नियंत्रण रखा जाए। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले को अपने मन में यह संकल्प करना चाहिए कि वह आँखों से किसी नारी के सौन्दर्य को अपलक दृष्टि से नहीं देखेगा, शृंगारी कहानी एवं उपन्यास नहीं पढ़ेगा और शृंगारिक चित्र नहीं देखेगा। वह अपने कानों से, शृंगारिक गीत नहीं सुनेगा। वह अपनी जबान से अश्लील शब्दों का उच्चारण नहीं करेगा। जब इस प्रकार के व्रतों का वह पालन करेगा तब उसके लिए ब्रह्मचर्य की साधना असम्भव नहीं रहेगी।

लोकमान्य तिलक के जीवन का संस्मरण लिखते हुए एक लेखक ने लिखा है कि एक बार एक स्त्री, जो स्वस्थ एवं तरुणी थी, जिसका सौन्दर्य अद्भुत था और जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सुन्दरता की सरिता प्रवाहित हो रही थी, वह तिलक के पास किसी विषय पर विचार करने के लिए आई। तिलक उस समय (Reading room) में बैठे हुए थे और अपने किसी विषय पर गम्भीर चिन्तन और मनन कर रहे थे। उन्होंने अपने अध्ययन-कक्ष में जब उस स्त्री को प्रवेश करते हुए देखा, तब एक बार उसकी ओर देख कर तुरन्त ही उन्होंने अपने नेत्र, अपनी पुस्तक पर स्थिर कर लिए। वह स्त्री लगभग तीन घण्टे तक उनके सामने बैठी रही, लेकिन तिलक ने एक बार भी फिर उसकी ओर नहीं देखा। इसी को भारतीय संस्कृति में नेत्र-संयम कहते हैं। उस विदेशी लेखक ने लिखा है कि—"लोकमान्य की तेजस्वी आँखों में मैंने जो तेज देखा, वह संसार के अन्य किसी पुरुष की आँखों में नहीं देखा।" प्रश्न होता है कि यह तेज कहाँ से आया ? उत्तर एक ही होगा कि ब्रह्मचर्य से। बिना ब्रह्मचर्य की साधना के इस प्रकार का अद्भुत तेज, अन्यत्र सुलभ नहीं है, और सम्भव भी नहीं है।

इतिहास के परम विद्वान राजवाड़े के जीवन का यह व्रत था कि वे कभी चारपाई पर नहीं सोते थे, जमीन पर कम्बल बिछाकर ही सोया करते थे। जब उनकी अवस्था केवल पच्चीस वर्ष की थी, तो सहसा किसी बीमारी के कारण उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। मित्रों ने और अन्य लोगों ने दूसरा विवाह करने

के लिए उन पर दबाव डाला, पर उन्होंने इस बात के लिए स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा कि—"मेरी साधना में जो एक विघ्न था, वह भी भगवान की इच्छा से स्वतः ही दूर हो गया। जब मैं एक बार बन्धन-मुक्त हो गया हूँ, तब फिर दुबारा बन्धन में क्यों फँसूं ?" निश्चय ही राजवाड़े का जीवन सरस, शान्त, शीतल एवं प्रकाशमय था। उनके जीवन के इस संयम के कारण ही, उनकी धारणा-शक्ति अपूर्व थी। किसी भी शास्त्र में उनकी बुद्धि रुकती नहीं थी। यह बौद्धिक बल उन्हें ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुआ था।

स्वामी विवेकानन्द का नाम कौन नहीं जानता ? विवेकानन्द के जीवन में जो एकाग्रता, एकनिष्ठता और तन्मयता थी, वह किसी दूसरे पुरुष में देखने को नहीं मिलती। उनकी प्रतिभा एवं मेधा-शक्ति के चमत्कार के विषय में कहा जाता है कि वे जब किसी ग्रन्थ का अध्ययन करने बैठते थे, तब एक आसन पर एक साथ ही अध्याय के अध्याय पढ़ लेते थे और किसी के पूछने पर वे उन्हें ज्यों का त्यों सुना भी सकते थे। उनकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी। कोई भी विषय ऐसा नहीं था, जिसे वे आसानी से न समझ सकते हों। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि ब्रह्मचर्य के बल से सारी बातें साधी जा सकती हैं।

आधुनिक युग के अध्यात्म योगी साधक श्रीमद् रायचन्द से सभी परिचित हैं। उनमें शताधिक अवधान करने की क्षमता एवं योग्यता थी। जिस भाषा का उन्होंने अध्ययन नहीं किया था, उस भाषा के कठिन से कठिन शब्दों को भी वे आसानी से हृदयंगम कर लेते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य योग की साधना का ही शुभ परिणाम है। उन्होंने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में अपने एक ग्रन्थ में कहा है कि—

निरखी ने नव यौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठ नी पूतली, ते भगवंत समान॥

ब्रह्मचर्य की इससे अधिक परिभाषा एवं व्याख्या नहीं की जा सकती, जो ब्रह्मचर्य-योगी श्रीमद् रायचन्द ने अपने इस एक दोहे में करदी है।

सुखबीजं सदाचारो वैभवस्यापि साधनम् ।
कदाचारप्रसक्तिस्तु विपदां जन्मदायिनी ॥

—कुरल सदाचार-परिच्छेदः १४,८

सदाचार सुख-सम्पत्ति का बीज बोता है, परन्तु दुष्ट-प्रवृत्ति असीम आपत्तियों की जननी है।

इन्द्रियाणां जयो यस्य कर्तव्येषु च धूरता ।
पर्वतादधिकस्तस्य प्रभावो वर्तते भुवि ॥

—कुरल, संयम-परिच्छेदः १३,४

जिसने अपनी समस्त ऐन्द्रियक इच्छाओं को जीत लिया है और जो कभी अपने कर्तव्य से पराङ्मुख नहीं होता, उसका व्यक्तित्व पर्वत से भी बढ़कर प्रभावशाली होता है।

कोऽर्थस्तस्य महत्वेन रमते यः परस्त्रियाम् ।
व्यभिचारात् समुत्पन्ना लज्जा येन चहेलिता ॥

—कुरल, परस्त्री-त्याग परिच्छेद १५,४

मनुष्य चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, मगर, उसकी श्रेष्ठता किस काम की, जबकि वह व्यभिचारजन्य लज्जा का कुछ भी विचार न कर परस्त्री-गमन करता है।

साधन खण्ड

आसन :

साध्य की सिद्धि के लिए साधन की आवश्यकता रहती है। साधक अपनी साधना में साधन बिना सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य-योग को जब साधक अपनी साधना का साध्य स्वीकार कर लेता है, तब उसके सामने प्रश्न यह रहता है, कि इस साध्य को किस साधन से सिद्ध किया जाए ? भारतीय योग-शास्त्र में ब्रह्मचर्य योग की सिद्धि के लिए अनेक साधन बताए गए हैं। जिनमें तीन साधन मुख्य माने गए हैं—आसन, प्राणायाम और ध्यान। चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों को एकत्रित करने के लिए, आसन, प्राणायाम और ध्यान की नितान्त आवश्यकता है।

आसन :

योग-दर्शन में चित्त-शुद्धि के लिए यम और नियम का उपदेश देने के बाद आसन का स्वरूप समझाया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए भी कुछ आसनों की उपयोगिता और आवश्यकता है। कुछ आसन ब्रह्मचर्य के संरक्षण के लिए बहुत उपयोगी हैं। उनके प्रतिदिन के अभ्यास से ब्रह्मचर्य की साधना एक प्रकार से सरस और आसान बन जाती है। आसन की साधना का एक ही उद्देश्य है, कि मेरुदण्ड को सहज भाव से रखा जाए। वक्ष एवं ग्रीवा सीधे तथा समुन्नत रहे, ताकि शरीर का सम्पूर्ण भार पसलियों पर गिरे। शरीर को स्थिर करना ही आसन का उद्देश्य नहीं है, आसन का उद्देश्य है, शरीर की स्थिरता के साथ मन की स्थिरता। आसन चौरासी प्रकार के बताए गए हैं, किन्तु यहाँ पर कुछ आसनों का ही उल्लेख किया जाएगा, जो ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक हो सकते हैं। इन आसनों के प्रतिदिन अभ्यास से मनुष्य की वीर्य-शक्ति स्थिर एवं परिपुष्ट होती है।

आसन का समय :

आसन का समय कितना होना चाहिए यह भी एक प्रश्न विचारणीय रहा है। इस विषय में साधक एवं सिद्धों के विभिन्न विचार उपलब्ध होते हैं। परन्तु सामान्य रूप से प्रारम्भ में लगभग एक सप्ताह तक पन्द्रह सैकिण्ड से बीस सैकिण्ड तक किसी

भी आसन का अभ्यास किया जाए। फिर प्रति सप्ताह एक या दो मिनट बढ़ाते-बढ़ाते बारह मिनट तक ले जाना चाहिए। वर्ष भर में आध घण्टे से एक घण्टे तक का अभ्यास बढ़ाया जा सकता है। आगे चल कर यह साधन की स्थिति और परिस्थिति पर निर्भर है, कि वह कितने लम्बे समय तक आसन की साधना में स्थिर रह सकता है।

आसन से लाभ :

योग के ग्रन्थों मे आसन से होने वाले लाभों के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु आसन के मुख्य लाभ इस प्रकार हैं—शरीर का स्वस्थ रहना, शरीर हल्का रहना, शरीर का कान्तिमय हो जाना, शरीर में स्फूर्ति का रहना, वीर्य का स्तम्भन, वीर्य का शोधन, वीर्य का स्थिरीकरण, आँखों की रोशनी का बढ़ना, मस्तक के केशो का जल्दी श्वेत न होना, शरीर में किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न न होना, शरीर मे मेद एवं मज्जा का न बढ़ना, शरीर का स्थूलत्व न होना और शरीर में आलस्य एवं प्रमाद का न रहना।

शीर्षासन :

शीर्षासन का दूसरा नाम विपरीत करणी मुद्रा भी है। इसमें सिर के बल उल्टा खड़ा होना होता है, जिससे रक्त एवं वीर्य नीचे से ऊपर की ओर बढ़ता है और मस्तिष्क में जमा होने लगता है। इस आसन से वीर्य-दोष, रक्त-विकार, मिरगी, कुष्ठ, सिर एवं आँखों का दुर्बल होना आदि-आदि दोष दूर हो जाते हैं।

विधि :

शीर्षासन की विधि यह है, कि शीर्षासन करने से पहले जमीन को स्वच्छ और साफ कर लेना चाहिए, कोई कम्बल अथवा अन्य कोई वस्त्र लपेटकर गुदगुदा करके, अथवा गोल बनाकर उस पर सिर रखने की जगह बनाले। इस आसन के करने से पूर्व शरीर के समस्त वस्त्र उतार दे और लगोट या कटि वस्त्र कुछ ढीला कर देना चाहिए, ताकि रक्त प्रवाह में बाधा न पड़े। इतनी क्रिया करने के बाद जमीन पर घुटने टेक कर आसन पर बैठना चाहिए, फिर दोनों हाथ की उँगलियों को आपस में फँसाकर, कुहनी जमीन पर जमाकर, हथेलियो को जमीन पर रखना चाहिए। हथेलियों के ऊपर सिर नहीं रखना चाहिए, केवल इतना हो कि वे सिर के समीप रहें और सिर को इधर-उधर हिलने से रोके रहें। सिर को जमीन पर जमा कर,पैरों को शरीर की ओर धीरे-धीरे लाना चाहिए, ताकि शरीर का बोझा सिर पर आने लगे। फिर घुटने मोड़ते हुए पैरों को बहुत धीरे-धीरे ऊपर उठाना चाहिए। प्रथम कमर को सीधा करना चाहिए, फिर पाँव उठाते हुए उन्हें अधर में बिलकुल सीधे तान देना चाहिए और सिर के बल बिलकुल सीधे खड़े हो जाना चाहिए। यही शीर्षासन है। आसन पूरा होने पर शरीर

स्थिर कर देना चाहिए। घुटने, पजे और पाँव की एड़ियाँ आपस में मिली रहनी चाहिए। आसन के समय ध्यान, भृकुटि में अथवा नासिका के अग्रभाग में रखना चाहिए। आँखें खुली रखनी चाहिए।

सिद्धासन :

वीर्य सम्बन्धी विकारों को नष्ट करने के लिए सिद्धासन की बड़ी प्रशंसा है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए यह एक सर्वोत्तम आसन माना गया है। इस आसन से वीर्य स्थिर होता है। गुदा, लिङ्ग तथा पेट की समस्त नाड़ियों में खिचाव होता है, जिससे उदर-विकार एवं वीर्य-विकार दूर हो जाते हैं। मन को स्थिर करने और प्राण की गति को ठीक रखने में यह आसन बहुत सहायता देता है। ब्रह्मचर्य की साधना में इसका बहुत बड़ा महत्व माना गया है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यह आसन उन्ही लोगों को करना चाहिए, जो ब्रह्मचर्य की साधना में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। क्योंकि इससे काम-शक्ति का ह्रास होता है।

विधि :

पाँव फैलाकर किसी कोमल आसन पर बैठिए, फिर बाएँ पैर को मोड़ कर उसकी एड़ी गुदा और अण्डकोष के बीच मे मजबूती से जमाइए। ध्यान रहे कि एड़ी बीचोंबीच की नाड़ी सीवनी के ऊपर रहनी चाहिए। बाँए पाँव का तला, दाहिनी जंघा के नीचे रहना चाहिए। अब दाहिने पाँव को मोड़कर उसकी एड़ी को ठीक लिङ्ग के उपरिस्थल भाग अर्थात् लिङ्ग की जड़ पर जमाइए। ध्यान रहे, एड़ी दोनो पाँव की एक सीध में हों। दाहिने पाँव का तलवा बाँई जघा से सटा रहे। पंजा जाँघ और पिंडली के बीच में रहे और दोनो हाथ पेट के नीचे एक दूसरे पर रखिए। बाँया हाथ नीचे और दाहिना हाथ ऊपर। ठोड़ी, कंठ के नीचे जो गड्ढा है उसमें जमी रहे। आँखों को स्थिर कर भृकुटी में देखिए। मन एकाग्र हो। इसका नाम सिद्धासन है। यह आसन कठिन है। इसलिए दो मिनट से आरम्भ करना चाहिए और धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। स्थान एकान्त, शुद्ध और शान्तिमय होना चाहिए।

अर्ध सिद्धासन :

यह आसन गृहस्थों के लिए ठीक पड़ता है। इसमें बाएँ पाँव की एड़ी तो गुदा और अण्डकोष के बीच में रहती है, पर दाहिने पाँव की एड़ी लिंग के ऊपर न रखके, जंघा पर ठीक पेट से सटी हुई रहती है। इसको—'अर्ध सिद्धासन' बोला जाता है। इन दोनों प्रकार के आसनों में मेरुदण्ड सीधा रखना होता है। शरीर का सारा बोझ बाईं एड़ी पर ही लाना होता है।

पद्मासन :

पहिले पाँव फैलाकर बैठ जाइए, फिर बाँया पैर उठाकर दाहिनी जंघा पर और

दाहिना पाँव उठाकर बाँई जंघा पर रखें। दोनों पाँव की एड़ी मजबूती से जंघा की जड़ में जमादें। घुटने पृथ्वी से मिले रहें। ठोड़ी कंठ के नीचे गड्ढे में लगाली जाए तो अधिक श्रेष्ठ है। इसके साथ स्थिर चित्त से प्राणायाम भी हो, तो और भी उत्तम है।

इनका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। एक मिनट से प्रारम्भ करके एक घण्टा का अभ्यास प्रतिदिन होना चाहिए। इन आसनों के साथ, यदि पेट को भीतर सिकोड़ने और फुलाने का कार्य किया जा सके, तो इससे उदर-विकार, वायु-विकार वीर्य-विकार, अर्श और मन्दाग्नि आदि विकार दूर हो जाते हैं। इन आसनों से शरीर का मोटापन भी दूर होता है।

आसन स्वच्छ और खुली हवा में करना चाहिए। जहाँ पर आसन किया जाए, वहाँ ध्यान रखना चाहिए कि वह स्थान स्वच्छ और साफ होने के साथ शान्तिमय और एकान्त भी होना चाहिए। योग-दर्शन के ग्रन्थों में आसन करने का सबसे उत्तम समय प्रातःकाल बताया गया है। आसन एक प्रकार के शारीरिक व्यायाम हैं। इनसे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं, पाचन-शक्ति बढ़ती है और रक्त का संचार सम्पूर्ण शरीर में ठीक रहता है।

●

सुन्दर आचरण, सुन्दर शरीर से अच्छा है। मूर्ति और चित्र की अपेक्षा यह उच्चकोटि का आनन्द देता है। यह कलाओं में सुन्दरतम कला है।

साधन खण्ड | २

प्राणायाम :

आसन के समान प्राणायाम भी ब्रह्मचर्य की साधना के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। प्राणायाम शब्द का मौलिक अर्थ है—प्राण-शक्ति को आयाम करना, दीर्घ करना। आसन शारीरिक व्यायाम है और प्राणायाम श्वास-प्रश्वास का व्यायाम है। प्राण, उस वायु का भी नाम है, जिसमें जीवन-तत्त्व या आक्सीजन का भाग अधिक रहता है। प्राण उस आदि शक्ति को भी कहते हैं, जिसके आधार पर हमारे शरीर का यह जीवन-यंत्र सुचारु रूप से चलता है। परन्तु प्राण शब्द का अर्थ यहाँ प्राण वायु से ही समझना चाहिए। प्राणरूप वायु का आयाम ही प्राणायाम है। प्राणायाम में तीन क्रियाओं का समावेश होता है—वायु को अन्दर खींचना, वायु को अन्दर रोकना और वायु को पुनः बाहर निकालना। एक बार खींचने, रोकने और निकालने को एक प्राणायाम कहा जाता है।

प्राणायाम से लाभ :

प्राणायाम स्वास्थ्य के लिए और विशेषतः ब्रह्मचर्य की साधना के लिए लाभदायक तो बहुत है, परन्तु विधिपूर्वक न होने से यह हानि भी कर सकता है। अनेक व्यक्ति इस प्राणायाम की साधना को अनियमित करने के कारण जहाँ रोगग्रस्त हो जाते हैं, वहाँ वे इसे नियमित करने से भयंकर से भयंकर रोग से भी मुक्त हो सकते हैं। अतः प्राणायाम की साधना किसी सुयोग्य गुरु की देख-रेख में ही करनी चाहिए। यदि व्यक्ति इस साधना को अविवेक से और असावधानी के साथ करता है, तो वह इससे लाभान्वित नहीं हो सकता। गृहस्थ को तीन से पाँच तक ही प्राणायाम की साधना के लिए विशेष रूप से शुद्ध और खुली वायु की आवश्यकता है। विधिपूर्वक और शक्ति के अनुसार किया हुआ प्राणायाम शरीर की समग्र धातुओं को शोधकर विशुद्ध बना देता है। शरीर को रोग रहित बना देता है। इससे जठराग्नि उत्तेजित हो जाती है और पाचन-शक्ति बढ़ जाती है। मल साफ रहता है और भूख लगती है। प्राणायाम की साधना से रक्त की शुद्धि होती है एवं वीर्य स्थिर हो जाता है। शरीर में रहने वाले क्षय आदि भयंकर रोग इस प्राणायाम की साधना से समूल नष्ट-भ्रष्ट

हो जाते हैं। प्राणायाम से शरीर में कान्ति और मुख पर तेज आता है। यह ओज धातु को बढ़ाता है और वीर्य का आकर्षण कर साधक ऊर्ध्वरेता बनता है। प्राणायाम के शास्त्रों में अनेक भेद बताए गए हैं—किन्तु यहाँ पर उनमें से कुछ ही प्राणायामों का वर्णन किया गया है, जिनका सम्बन्ध विशेष रूप से ब्रह्मचर्य की साधना से है।

सामान्य प्राणायाम :

प्राणायाम की साधना सामान्य प्राणायाम से करनी चाहिए क्योंकि इसे स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, बलवान एवं बलहीन सभी कर सकते हैं। इससे हानि की कोई सम्भावना नहीं रहती। प्राणायाम में तीन तत्व मुख्य हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बाहर की वायु को अन्दर ले जाना पूरक है, उसे कुछ काल के लिए अन्दर रोके रखना कुंभक है, और फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल देना रेचक है। श्वास-प्रश्वास की इसी प्रक्रिया को योग में प्राणायाम कहा जाता है।

सामान्य प्राणायाम की विधि :

मेरुदण्ड सीधा करके पालथी मार कर स्वस्तिकासन पर बैठ जाओ, सिर का भाग कुछ आगे की ओर झुकालो, ठोड़ी छाती से न लगे और गर्दन सीधी रहे, फिर दोनों नथुओं से बहुत धीरे-धीरे श्वास को अन्दर खींचो, छाती पर दबाव न पड़े, खींचना और निकालना पेट की नाभि के द्वारा हो। ध्यान भी नाभि-कमल पर रहे। जितनी वायु खींची जा सके, उतनी खींच लो, आँतों और फेफड़ों में वायु भर जाने से पेट और छाती उस समय फूल जाएँगे। फिर उस वायु को कुछ सैकण्ड या मिनट अपनी शक्ति के अनुसार अन्दर रोके रहो, जब सहन न हो, तब बहुत ही धीरे-धीरे उसे निकाल दो। यहाँ तक कि पेट व छाती भीतर को दब जाएँ। जब पूरी निकाल चुको, तब थोड़ी देर बाहर रोक लो। यह एक प्राणायाम हुआ। ऐसे तीन प्राणायाम करो।

सूर्य-भेदी प्राणायाम :

जब सामान्य प्राणायाम का अभ्यास ठीक हो जाए, तब सूर्य-भेदी का अभ्यास करना चाहिए। पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाएँ इसमें भी करनी होती हैं। सूर्य-भेदी प्राणायाम में एक नथने से पूरक किया जाता है और दूसरे से रेचक किया जाता है। दूसरी बार में जिससे रेचक किया था, उससे पूरक करना होता है। इस प्रकार एक दूसरे को अदला-बदली होती रहती है।

योग-शास्त्र के अनुसार दाहिने नथने को सूर्य-स्वर और बाएँ नथने को चन्द्र स्वर कहा जाता है। गहरे ध्यान के समय ही दोनों नथनों से बराबर श्वास निकलता है। अन्य समयों में एक हल्का और दूसरे से तीव्र श्वास आता जाता रहता है। इस

प्राणायाम में सीधे हाथ के अँगूठे और बीच की अँगुली से काम लिया जाता है। इसका नियम यह है, कि बायाँ नथना अँगुली से बन्द करके दाहिने नथने से प्रथम श्वास खींचा जाए और फिर सीधे नथने को अंगूठे से दबा के श्वास को बाहर निकाला जाए। फिर इसी प्रकार बाएँ से खींचे और दाएँ से निकाले।

वीर्याकर्षक प्राणायाम :

वीर्याकर्षक और वीर्यस्तम्भन-प्राणायाम के भी अनेक भेद हैं। अनेक साधक इसको विविध प्रकार से करते हैं। ये प्राणायाम वीर्य के समस्त दोषों को दूर करके साधक को ऊर्ध्वरेता बनाते हैं। इसकी साधना साधारण व्यक्ति नहीं कर सकता।

विधि :

अर्ध-सिद्धासन पर बैठ कर एड़ी को ठीक गुदा और अण्डकोष के बीच में प्रमेह-नाड़ी पर इस प्रकार जमाएँ कि समस्त शरीर का भार उस पर आ जाए। मेरुदण्ड सीधा रहे, नाभि के बल से एक नथने से वायु खींचकर कुम्भक करें। कुम्भक के समय ठोडी को कण्ठ के गड्ढे में जमा दें। फिर वायु को दूसरे नथने से धीरे-धीरे निकालें और दृढ़ संकल्प करें कि वीर्य पेड़ू से खिचकर मस्तक की ओर चढ़ रहा है और चढ़ गया है। इसके बाद बाह्य कुम्भक करें। उस समय यह संकल्प करें, कि खिचा हुआ वीर्य मस्तिष्क में भर गया है और वहाँ एकत्रित हो गया है। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार के तीन या पाँच प्राणायाम नित्य प्रति शुद्ध एवं खुले स्थान में बैठ करके करें। इस प्राणायाम से वीर्य-दोष, स्वप्न-दोष और प्रमेह आदि वीर्य-सम्बन्धी समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं। शरीर की दुर्बलता नष्ट हो जाती है। शरीर कान्तिमय बन जाता है।

प्राणायाम भले ही वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, मस्तिष्क में गरमी एवं खुश्की पैदा करता है। इसलिए योग-विशारदों ने भोजन में स्निग्ध दूध, दही एवं घृत जैसे पदार्थों का सेवन करते रहना बताया है। प्राणायाम की साधना करने वाले साधक को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने वीर्य-पात के सभी प्रसंगों से बचता रहे। उसका भोजन सात्विक एवं शुद्ध होना चाहिए। राजस और तामस भोजन का वह परित्याग कर दे। तभी वह प्राणायाम की इस साधना से लाभ उठा सकता है।

ब्रह्मचर्य की साधना मन, वचन और तन तीनों से करनी चाहिए, तभी उसका जीवन सुखद, शान्त और मधुर बन सकता है। ब्रह्मचर्य की साधना से जैसे-जैसे वीर्य-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे उसमें इच्छा-शक्ति और संकल्प-शक्ति भी बढ़ती जाती है। इच्छा-शक्ति और संकल्प-शक्ति से ब्रह्मचर्य की साधना असम्भव होने पर भी सम्भव बन जाती है और कठिन होने पर भी सरल हो जाती है। क्योंकि मन इच्छा-शक्ति

का केन्द्र है। यह शक्ति हमारे प्रत्येक कार्य के साथ-साथ रहती है। शरीर पर भी इसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। आसन और प्राणायाम की साधना में इच्छाशक्ति का ही प्राधान्य रहता है। जब तक इच्छा नहीं होती, तब तक कोई कार्य उत्साह और उमंग के साथ नहीं होता। आचरण, चरित्र और स्वास्थ्य के सुधारने में इच्छा-शक्ति का बहुत बड़ा हाथ है। इच्छा-शक्ति से हृदय और मांस-पेशियों की गति को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। ध्यान में स्थित होकर मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति से, अपने रुधिर-प्रवाह को एवं अपनी हृदय-गति को भी रोक सकता है और फिर उसे चालू कर सकता है। इच्छा-शक्ति और संकल्प-शक्ति से हीन व्यक्ति यौवन-काल में भी बूढ़ा हो जाता है। इसके विपरीत इच्छा-शक्ति और संकल्प-शक्ति से बूढ़ा मनुष्य भी युवक एवं तरुण बन सकता है। प्रश्न है कि इस इच्छा-शक्ति को कैसे प्राप्त किया जाए? यह संकल्प-शक्ति ध्यान-योग से ही साधक अपने जीवन में प्राप्त करके महान बन सकता है।

●

कुण्डले नाभिजानामि, नाभिजानामि कङ्कणे।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्यं पादाब्जवन्दनात् ॥

—पद्मपुराण

मैं न तो (सीता) के कुण्डलों को पहचानता हूँ और न कंकणों को ही। प्रतिदिन चरणों में वन्दन करने के कारण, मैं तो केवल नूपुरों को ही पहचानता हूँ।

संकल्प-शक्ति : ध्यान-योग

योग-शास्त्र में जिसे ध्यान योग कहा जाता है, वह मनुष्य के मन की एक संकल्प शक्ति है, एक मनोबल है। किसी भी व्रत का परिपालन तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि मनुष्य की संकल्प शक्ति में सुदृढ़ता न आ जाए। ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए भी संकल्प-शक्ति, इच्छा-शक्ति, मनोबल और ध्यान-योग की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि वासना का उदय सर्वप्रथम मनुष्य के मन में ही होता है। मन में उत्पन्न होने वाली वासना ही मनुष्य के व्यवहार में और वाणी में अवतरित होती है। इसीलिए एक ऋषि ने कहा है कि—"हे काम! मैं तुझे जानता हूँ कि तेरा जन्म सर्वप्रथम मनुष्य के संकल्प में होता है। मनुष्य के विचार में और मनुष्य की भावना में जब तेरा प्रवेश हो जाता है, तब वह अपने आपको सँभाल नहीं पाता। अतः तुझे जीतने का एक ही उपाय है, कि तेरा संकल्प ही न किया जाए, विचार ही न किया जाए।"[1]

ध्यान योग :

ध्यान-योग क्या वस्तु है, इस सम्बन्ध में योग-शास्त्र में गम्भीरता के साथ विचार किया गया है। मन की एकाग्रता को ही वस्तुतः ध्यान कहा जाता है। इस विषय में जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्परा के विद्वानों का, अनुभव-प्राप्त व्यक्तियों का एक ही अभिमत है, कि मन को किसी एक ही साध्य-रूप विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना, यही ध्यान-योग है। ध्यान-योग की साधना के द्वारा साधक अपने मन की बिखरी हुई वृत्तियों को किसी भी एक विषय में एकाग्र करने के लिए जब तत्पर होता है, तब उसके समक्ष अनेक विकट समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं। परन्तु ध्यान-योग की चिरकालीन साधना के बाद साधक के जीवन में वह योग्यता और क्षमता आ जाती है, जिससे वह सहज ही अपने मन के विकल्प और विकारों

---

१. काम ! जानामि ते मूलं, संकल्पात् किल जायसे।
   न त्वां संकल्पयिष्यामि ततो मे न भविष्यसि॥

को जीतने में समर्थ हो जाता है। इसी को योग-शास्त्र में ध्यान-योग एवं ध्यान-साधना कहा है।

संकल्प-शक्ति :

मनुष्य क्या है ? यह आज का नहीं, एक चिरन्तन प्रश्न रहा है। मनुष्य के जीवन का निर्माण और विकास जिस शक्ति पर निर्भर है, आज के मनोविज्ञान के पण्डित उसे मनोबल, संकल्प और इच्छा-शक्ति कहते हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने कहा है, कि—"जब मनुष्य अपने आपको अज्ञानवश तुच्छ, नगण्य, दीन एवं हीन समझ लेता है, तब उसके जीवन का भयंकर पतन हो जाता है।" यह पतन क्यों होता है ? इसके समाधान में कहा गया है, कि संकल्प की हीनता और मन की दीनता से मनुष्य अपनी शक्ति पर, योग्यता पर और क्षमता पर विश्वास खो बैठता है। संकल्प-शक्ति के अभाव में व्यक्ति किसी भी महान कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य की साधना में सफल होने के लिए, इस संकल्प-शक्ति की नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि मनुष्य जैसा विचारता है वैसा ही बोलता है; और जैसा बोलता है वैसा ही आचरण भी करता है। मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न का समाधान खोजने के लिए साधक को अपने अन्दर ही चिन्तन और मनन करना होगा। बाहर से कभी इस प्रश्न का समाधान होने वाला नहीं है। महर्षि वशिष्ठ ने 'योग वाशिष्ठ' में कहा है, कि 'मानसं विद्धि-मानवम्।' महर्षि वशिष्ठ से एक बार पूछा गया था कि मनुष्य क्या है ? उसका क्या स्वरूप है ? इस प्रश्न के समाधान में उन्होंने कहा था कि मनुष्य अपने विचार और संकल्प का प्रतिफल है। वह जैसा सोचता है वैसा ही बन जाता है, क्योंकि मनुष्य मनोमय होता है। जो कुछ वर्तमान में है, वह उससे भिन्न नहीं है, जो उसने अतीत काल में अपने जीवन के सम्बन्ध में कुछ चिन्तन और मनन किया था। मनुष्य भविष्य में भी वही कुछ बनेगा, जो कुछ या जैसा भी वह वर्तमान में अपने सम्बन्ध में सोच रहा है। अपने आपको मिट्टी का पुतला समझने वाला व्यक्ति संसार में क्या कर सकता है ? जो व्यक्ति अपने आप को अनन्त, असीम, अजर चैतन्य-शक्ति का अधिष्ठान समझता है, वही संसार में कुछ कार्य कर सकता है। अपने प्रति हीन भावना और तुच्छ विचार रखने वाला व्यक्ति, दूसरों को तो क्या, स्वयं अपने को भी समझने की शक्ति खो बैठता है। जब तक मनुष्य अपने दिव्य रूप में विश्वास नहीं करेगा, अपने दिव्य रूप का परिज्ञान नहीं करेगा और अपने दिव्य रूप के अनुसार आचरण नहीं करेगा, तब तक संसार का कोई भी देव, महादेव और अधिदेव उसके जीवन का संरक्षण और सम्वर्धन नहीं कर सकता। विचार कीजिए, जिस बीज की अपनी जीवनशक्ति विलुप्त हो चुकी है, महामेघ की हजार-हजार धाराएँ, सूर्य का विश्व-संजीवक उष्ण प्रकाश और प्राण-प्राण में शक्ति-संचार करने वाला पवन

भी उसे अंकुरित, पुष्पित और फलित नहीं कर सकता। उस बीज के भाग्य में मिट्टी में मिलने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी शेष नहीं रहता। उसके जीवन का उपयोग और प्रयोग जन-जीवन के लिए शून्य से अधिक कुछ महत्व नहीं रखता। इस प्रकार का जीवन, जिसमें संकल्प, इच्छा और बल नहीं रहता, वह संसार के कल्याण के लिए और विकास के लिए क्या योग-दान कर सकता है? ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही साधक के जीवन में वह संकल्प-शक्ति और इच्छा-शक्ति प्रस्फुटित होती है, जिससे उसके जीवन में चमक और दमक आ जाती है। जो व्यक्ति जितनी अधिक तीव्रता के साथ ब्रह्मचर्य व्रत का परिपालन करता है, उसकी संकल्प-शक्ति और इच्छा-शक्ति उतनी ही अधिक विशाल और विराट बन जाती है। एक ध्यान-योगी अपनी ध्यान-योग की साधना के द्वारा जिस ध्येय को प्राप्त करना चाहता है, एक ज्ञान-योगी अपने ज्ञान-योग की साधना के द्वारा जिस लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है, और एक वैज्ञानिक अपने प्रयोग की जिस साधना के द्वारा अपनी मंजिल पर पहुँचना चाहता है, वह वस्तुतः है क्या? वह संकल्प की ध्रुवता, मन की एकाग्रता, चित्त की एकनिष्ठता और विचार की तन्मयता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। मनुष्य को जो कुछ पाना है, वह अपने अन्दर से ही पाना है; कहीं बाहर से नहीं। ब्रह्मचर्य की साधना से जिसका मन एकाग्र हो जाता है, उस व्यक्ति के लिए विश्व का गहन से गहनतर रहस्य भी प्रकट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है एवं अगाध है।

मनुष्य के जीवन को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—मर्त्य और अमृत, दिव्य और पार्थिव। जो व्यक्ति अपने जीवन के मर्त्य और पार्थिव भाग का चिन्तन करते हैं, उसी में विश्वास करते हैं, वे अपने अमृत और दिव्य भाग को भूल जाते हैं। वस्तुतः यही उनकी आत्म-हीनता और आत्म-दीनता का कारण है। इससे मनुष्य में कुछ भी करने की योग्यता और क्षमता विलुप्त हो जाती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को जो अपने जीवन में किसी भी प्रकार की साधना करना चाहता है, उसे यह सोचना चाहिए कि मैं जड़ नहीं, चेतन हूँ। मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ। मैं सान्त नहीं हूँ, अनन्त शक्ति का पुंज हूँ। संसार के इन तुच्छ बन्धनों में बद्ध रहना मेरा स्वभाव नहीं है। यह संकल्प-शक्ति जिसके घट में प्रकट हो जाती है, वह कभी भी और किसी भी प्रकार के बन्धन से बद्ध नहीं हो सकता। वह संसार के माया-जाल में फँसा नहीं रह सकता। सोने वाला एक प्रकार से मृत है, वह क्या प्राप्त कर सकेगा? अपने को खोकर किसने क्या प्राप्त किया है? जो जागता है, वही सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

अपने चरित्र के निर्माण एवं विकास के लिए, प्रत्येक मनुष्य को अपना कोई भी एक ध्येय निश्चित करके अपनी समग्रशक्ति को उसी पर केन्द्रित कर देना चाहिए। इससे बढ़कर सफलता का अन्य कोई मन्त्र नहीं हो सकता। क्योंकि विचारों में अस्थिरता

होने से मनुष्य का जीवन अस्त-व्यस्त और खंडित हो जाता है, उसका व्यक्तित्व चकनाचूर हो जाता है। भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व उसे असंयत और लक्ष्य-हीन बना देता है। जिस मनुष्य की संकल्प-शक्ति में स्थिरता और ध्रुवता नहीं है, वह संसार का कितना ही बुद्धिमान पुरुष क्यों न हो, किन्तु वह अपने ध्येय की पूर्ति किसी भी प्रकार कर नहीं सकता। जिसका विचार ही स्थिर नहीं है, उसका विश्वास और आचार भी स्थिर कैसे होगा ? यदि आप ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहते हैं, तो आपको अपने मन की समग्र शक्ति को उसी साधना में केन्द्रित कर देना चाहिए। सूर्य की इतस्ततः बिखरी हुई—फैली हुई किरणों को एकत्र करके आज के वैज्ञानिक जो चमत्कार दिखा रहे हैं, महान कार्य कर रहे हैं, इससे बढ़कर एकाग्रशक्ति का और क्या 'प्रमाण' चाहिए ?

ब्रह्मचर्य की साधना :

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए बाहरी साधन अपेक्षित हैं, इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु बाहरी साधनों के अतिरिक्त भीतरी साधन भी परमावश्यक हैं और वे भीतरी साधन संकल्प-शक्ति, इच्छा-शक्ति और मनोबल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकते। वासना-रूपी राक्षसी के क्रूर पंजों से बचने के लिए मनुष्य को अपनी संकल्प-शक्ति को जागृत करना ही होगा। जो वासना से भयभीत हो जाता है, वासना उसे धर दबाती है। उसे पनपने नहीं देती और जीवन का विकास नहीं करने देती। कामरूपी दैत्य से बचने के लिए मनुष्य को सदा जागृत, सचेत और सावधान रहने की बड़ी आवश्यकता है। वासना पर विजय प्राप्त कैसे की जाए, इसके लिए साधक को चार संकल्पों की नितान्त आवश्यकता रहती है।

पहला संकल्प :

किसी भी आदत को नये सिरे से बनाने अथवा किसी भी बुरी आदत को छोड़ने का पहला नियम यह है, कि अच्छे संकल्प को जीवन में उतारने के लिए अपनी सम्पूर्ण इच्छा-शक्ति से उसे प्रारम्भ करो। उसे पूरा करने में अपने मन का समग्र संकल्प लगा दो। उस नियम और व्रत का पूरी सावधानी से पालन करो। अपने मन में यह विचार करो कि संसार की कोई भी ताकत मुझे इस मार्ग से हटा नहीं सकती। मेरे इस अंगीकृत व्रत को भंग करने की शक्ति, संसार में किसी भी मनुष्य में नहीं है। मैं इस व्रत का पालन अपनी पूरी शक्ति लगा करके करता रहूँगा। वासना की एक भी तरंग मेरे मन को चलित नहीं कर सकेगी। मैं अनन्त हूँ और मेरी शक्ति भी अनन्त है। फिर मेरी प्रतिज्ञा भी अनन्त क्यों न हो ? कदम-कदम पर मेरे संकल्प को विकल्प में बदलने वाले साधन संसार में विद्यमान हैं। मेरे चारों ओर मेरे विचार को विकार में परिणत करने का वातावरण है, फिर भी मैं इस वातावरण को बदल डालूँगा और अपने ब्रह्मचर्य के संकल्प में किसी प्रकार झोल न आने दूँगा।

दूसरा संकल्प :

जब तक नयी आदत पूर्णतया आपके जीवन का अंग न बन जाए, तब तक एक क्षण के लिए भी उसमें शैथिल्य न आने दो। याद रखो, युद्ध-क्षेत्र में छोटी-सी विजय भी आगे आने वाली बड़ी विजय में सहायक होती है और छोटी-सी पराजय भी एक विशाल पराजय को निमन्त्रण देती है। किसी भी व्रत के परिपालन में यदि साधक प्रारम्भ में जागृत नहीं रहता है, तो वह व्रत धीरे-धीरे भग्न होने लगता है। किसी भी व्रत की साधना में ढील करना अपने आपको विनष्ट करना है। पराजय के पक्ष का जरा भी समर्थन किया, कि विजय का भव्य द्वार हमसे कोसों दूर चला जाता है। ध्यान रखो—'बस एक बार और' यही से और इतने ही से मनुष्य के जीवन का पराजय प्रारम्भ हो जाता है। यह शैथिल्य ही हमारी इच्छा-शक्ति के वृक्ष को काटने वाला है। मनुष्य के मन मे इतना तीव्र संकल्प होना चाहिए कि जिस बुराई को एक बार छोड़ दिया, जीवन में फिर कभी उसका प्रवेश न हो। संसार मे रूप एवं सौंदर्य की कमी नहीं है। वह संसार मे सर्वत्र बिखरा पड़ा है। उसके लुभावने व्यामोह में आसक्त होने वाला व्यक्ति अपने स्वीकृत व्रत के भंग के महादोष से बच नहीं सकता। धीर, गम्भीर और वीर पुरुष वही होता है, जो मुग्ध करने वाले रूप को देखकर भी उसमें आसक्त नहीं होता।

तीसरा संकल्प :

जिस किसी भी सकल्प को आप अपने जीवन के धरातल पर क्रियान्वित करना चाहते हैं, उसे मजबूती के साथ पकड़े रहो। मनुष्य के जीवन में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं, जबकि वह अपनी संकल्प-शक्ति को प्रबल बनाकर महान्-से-महान् कार्य कर सकता है, परन्तु खेद है कि ज्योंही उसके संकल्प में कुछ भी ढीलापन आता है, तो वह अपने लक्ष्य को भूल बैठता है। किसी भी प्रकार के प्रलोभन में फँसने का अर्थ होता है, अपनी इच्छा-शक्ति का विनाश और अपनी इच्छा-शक्ति के विनाश का अर्थ होता है, अपना स्वयं का विनाश। विषयों का ध्यान करने से विषयों में आसक्ति हो जाती है और उस आसक्ति से कामना और वासना अधिकतर, तीव्रतर और प्रबलतर बन जाती हैं। एक साधक ने पतन के पथ पर अग्रसर होते एक व्यक्ति को उद्बोधन देते हुए कहा है कि—"इस संसार में कदम-कदम पर पतन के कारण उपस्थित हैं, यदि सँभल कर नहीं चलोगे तो कहीं पर भी और किसी भी स्थिति में तुम्हारा भयंकर पतन हो सकता है।" अतः ब्रह्मचर्य के विकट पथ पर प्रतिक्षण सँभल कर चलो, सावधानी के साथ चलो। ब्रह्मचर्य व्रत एक असिधारा व्रत है। उपनिषद् के एक आचार्य ने ब्रह्मचर्य-पथ को 'क्षुरस्य धारा' कहा है। इस धारा पर, इस मार्ग पर जरा-सी भी असावधानी मनुष्य को पतन के गहन गर्त में गिरा सकती है।

चौथा संकल्प :

आप अपने जीवन में जो भी नयी आदत डालना चाहते हैं, उसका प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करते रहिए। प्रतिदिन के अभ्यास से वह आदत भविष्य में मनुष्य का स्वभाव बन जाता है और जो स्वभाव बन जाता है, उसमें किसी प्रकार का भय और खतरा नहीं रहता। यदि आप ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, तो इसका अभ्यास आपको पूरी दृढ़ता के साथ करना चाहिए। यह ठीक है कि किसी भी व्रत और प्रतिज्ञा का पालन करते समय, बाधा और रुकावट आती है, किन्तु उस बाधा और रुकावट को दूर करते रहना भी तो मनुष्य का ही कर्तव्य है। खाली मन शैतान का घर होता है। अतः एक क्षण के लिए भी आप अपने मन को खाली न रखें। उसे किसी न किसी शुभ संकल्प में एवं शुभ कार्य में संलग्न रखें। जिस बाग में पुष्प और फल पैदा होते हैं, वहाँ घास-पात भी उत्पन्न हो सकता है। यदि बागवान सावधानी न रखे, तो मनुष्य की मनोभूमि में बुरे विचारों का घास-पात भी पैदा हो सकता है और उसी मनोभूमि में अच्छे विचारों के पुष्प और शुभ संकल्पों के मधुर फल भी उत्पन्न हो सकते हैं। मनुष्य का मन भले ही कितना भी चंचल क्यों न हो, किन्तु उसे स्वाध्याय, ध्यान और चिन्तन के क्षेत्र में ले जाकर आसानी से स्थिर किया जा सकता है। एक कार्य करते-करते यदि आप थकावट का अनुभव करें, तो दूसरा कार्य हाथ में ले लीजिए। क्योंकि काम को बदल देना ही मन का आराम है। काम को छोड़ देने से तो वह तबाही मचा देता है। ध्यान रखो, भूलकर भी कभी खाली मत बैठो। यदि आपके पास कुछ भी कार्य करने के लिए न हो, तो मन में पवित्र विचार और पवित्र संकल्प ही भरते रहो। मन में कभी भी विकल्प और विकारों की तरंग मत उठने दो। इससे बढ़कर ब्रह्मचर्य की साधना में सफलता प्राप्त करने के लिए, अन्य कोई कारगर साधन नहीं हो सकता।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में जो चार प्रकार के संकल्प बतलाए गए हैं, वे तभी सफल हो सकते हैं, जबकि आप इन विचारों को अपने जीवन के धरातल पर उतारने का प्रामाणिकता से प्रबल प्रयत्न करेंगे। प्रयत्न से सब कुछ साध्य हो सकता है। लगन के बिना तो साधारण-से-साधारण कार्य भी सम्पन्न नहीं हो पाता। इसके विपरीत, पूरी इच्छा-शक्ति से और लगन के साथ यदि किसी कार्य में जुटा जाए, तो वह सहज और सरल बन जाता है। फिर उसके करने में मनुष्य को रस मिलने लगता है। क्योंकि जिस कार्य में मनुष्य तन्मय हो जाता है, फिर वह कार्य उसके लिए दुस्साध्य नहीं रहता। कमजोर से कमजोर आदमी भी अपनी शक्ति को एक लक्ष्य पर लगाकर बहुत कुछ कर सकता है। इसके विपरीत, ताकतवर से ताकतवर आदमी भी अपनी शक्ति को छिन्न-भिन्न करके कुछ भी नहीं कर सकता। मनुष्य के

मन का विकल्प उसे हवा में तिनके की भाँति इधर-उधर लक्ष्यहीन भटकाता है और मनुष्य के मन का संकल्प उसे स्वीकृत लक्ष्य पर गिरिराज सुमेरु की भाँति स्थिर रखता है। अतः मनुष्य को अपने मन का विकल्प दूर करना चाहिए और अपने संकल्प को अधिक सुदृढ बनाना चाहिए। संकल्प ही जीवन की शक्ति है और संकल्प ही जीवन का बल है। ब्रह्मचर्य की साधना में पूर्णता प्राप्त करने के लिए भी साधक को अपनी इसी अन्तःप्रसुप्त संकल्प-शक्ति को प्रबुद्ध करना होगा, तभी वह ब्रह्मचर्य की साधना में सफल हो सकेगा।

●

वरं प्रवेष्टुं ज्वलितं हुताशनं,
न चापि भग्नं चिरसञ्चितव्रतम्।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्धचेतसो,
न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम्॥

—उत्तरा० (कमलसंयमी टीका)

जलती आग में प्रवेश करना अच्छा है, पर अंगीकृत शील व्रत को तोड़ना अच्छा नहीं है। संयम में रहते मृत्यु भी अच्छी, पर शील-रहित होकर जीना अच्छा नहीं है।

भोजन और ब्रह्मचर्य :

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए साधक को अपने भोजन पर भी विचार करना चाहिए। भोजन का और ब्रह्मचर्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार यह कहा गया है, कि मनुष्य के विचारों पर उसके भोजन का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, उसी के अनुसार उसके विचार बनते हैं और जैसे उसके विचार होते हैं, उसी के अनुसार उसका आचरण होता है। लोक में कहावत है कि—'जैसा आहार, वैसा विचार और जैसा अन्न वैसा मन।' इन कहावतों में जीवन का गहरा तथ्य छुपा हुआ है। मनुष्य जो कुछ और जैसा भोजन करता है, उसका मन वैसा ही अच्छा या बुरा बनता है। क्योंकि भुक्त भोजन से जीवन के मूलतत्त्व रुधिर की उत्पत्ति होती है और इसमें वे ही गुण आते हैं, जो गुण भोजन में होते हैं। भोजन हमारे मन और बुद्धि के अच्छे और बुरे होने में निमित्त बनता है। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति में यह कहा गया है, कि सात्त्विक गुणों की साधना करने वाले के लिए सात्त्विक भोजन की नितान्त आवश्यकता है। सात्त्विक भोजन हमारी साधना का आधार है।

मनुष्य के जीवन की उन्नति तब होती है, जब वह प्राकृतिक रूप से मिलने वाले भोजन से अपने आपको पुष्ट करता रहे। मृदुता, सरलता, सहानुभूति, शान्ति और इनके विपरीत उग्रता, क्रोध, कपट एवं घृणा आदि सब मानव प्रकृति के गुण-दोष प्रायः भोजन पर ही निर्भर करते हैं। जो व्यक्ति उत्तेजक भोजन करते हैं, वे संयम से किस तरह रह सकते हैं? राजसी और तामसी आहार करने वाला व्यक्ति यह भूल जाता है, कि राजस और तामस उसकी साधना में प्रतिकूलता ही उत्पन्न करते हैं। क्योंकि भोजन का तथा हमारे विचारों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भोजन हमारे संस्कार बनाता है, जिनके द्वारा हमारे विचार बनते हैं। यदि भोजन सात्त्विक है, तो मन में उत्पन्न होने वाले विचार सात्त्विक एवं पवित्र होंगे। इसके विपरीत, राजस और तामस भोजन करने वालों के विचार अशुद्ध और विनाशमय होंगे। जिन लोगों में मांस, अण्डे, लहसुन, प्याज, मद्य, चाय और तम्बाकू आदि का प्रयोग किया

जाता है, वे प्रायः विलासी, विकारी और गन्दे विचारों से परिपूर्ण होते हैं। उनकी इन्द्रियाँ हर समय उत्तेजित रहती हैं, मन दुर्विकल्प और विकारों से परिपूर्ण रहता है। उत्तेजना के क्षणों में वे शीघ्र ही भयंकर से भयंकर कार्य कर बैठते हैं, भले ही पीछे कितना ही कष्ट भोगना पड़े और पछताना भी पड़े। आयुर्वेद के अनुसार भोजन हमारे स्वभाव, रुचि और विचारों का निर्माता है।

पशु-जगत को लीजिए। बैल, भैंस, घोड़े, हाथी और बकरी आदि पशुओं का मुख्य भोजन घास-पात एवं हरी तरकारियाँ रहता है। फलतः वे सहनशील, शान्त और मृदु होते हैं। इसके विपरीत सिंह, चीते, भेड़िए और बिल्ली आदि मांस-भक्षी पशु चंचल, उग्र, क्रोधी और उत्तेजक स्वभाव के बन जाते हैं। इसी प्रकार उत्तेजक भोजन करने वाले व्यक्ति कामी, क्रोधी, झगड़ालू और अशिष्ट होते हैं। तामसिक भोजन करने वाले को निद्रा अधिक आती है। आलस्य और अनुत्साह छाया रहता है। वे जीवित भी मृतक के समान होते हैं। राजसी भोजन करने वालों को काम अधिक सताता है, किन्तु सात्विक भोजन करने वालों के विचार प्रायः पवित्र एवं निर्मल बने रहते हैं। सात्विक भोजन ही साधना का आधार है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार मुख्य रूप में भोजन के तीन प्रकार हैं—सात्विक, राजसिक और तामसिक।

सात्विक भोजन :

जो ताजा, रसयुक्त, हल्का, सुपाच्य, पौष्टिक और मधुर हो। जिससे जीवन-शक्ति, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ती हो, उसे सात्विक भोजन कहा जाता है। सात्विक भोजन से चित्त की और मन की निर्मलता एवं एकाग्रता ही प्राप्त होती है।

राजसिक भोजन :

कड़ुवा, खट्टा, अधिक नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा, एवं जलन पैदा करने वाला, साथ ही दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाला भोजन राजसिक होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव मन तथा इन्द्रियों पर पड़ता है।

तामसिक भोजन :

मांस, मछली, अण्डे और मदिरा तथा अन्य नशीले पदार्थ तामसिक भोजन में परिगणित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधपका, दुर्गन्ध, दुर्गन्धयुक्त और बासी भोजन भी तामसिक में है। तामसिक भोजन से मनुष्य की विचारशक्ति मन्द हो जाती है। तामसिक भोजन करने वाला व्यक्ति दिन-रात आलस्य में पड़ा रहता है। इन तीन प्रकार के भोजनों का वर्णन 'गीता' के सतरहवें अध्याय में किया गया है। इन तीनों प्रकार के भोजनों में ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले के लिए सात्विक भोजन ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में कहा गया है, कि आहार की शुद्धि से सत्व की शुद्धि होती है। सत्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल बनती है। स्मृति ताजा बनी रहती है। सात्विक भोजन से चित्त निर्मल हो जाता है, बुद्धि में स्फूर्ति रहती है।

भोजन और भोग :

भोजन शब्द का प्रयोग यदि व्यापक अर्थ में किया जाए, तो भोग भी भोजन के अन्दर ही आ जाता है। विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न विषय, इन्द्रियों के भोग एवं भोजन ही हैं। क्योंकि भोजन और भोग शब्द में मूल धातु एक ही है 'भुज्'। दोनों में केवल प्रत्यय का भेद है। इस दृष्टि से भोजन का व्यापक अर्थ होगा—भोग- और उसके साधन। 'महाभारत' में विचित्र वीर्य का कथानक यह प्रमाणित करता है, कि अति भोग से विचित्र वीर्य राजा को क्षय का रोग हो गया था। क्योंकि वह बहुत विलासी था। इसी प्रकार अति भोजन भी, भले ही वह सात्विक ही क्यों न हो, स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। भोजन के सम्बन्ध में साधक को सावधान रहने की बड़ी आवश्यकता है।

मांसाहार :

आज के युग में मांस, मदिरा और अण्डे का बहुत प्रचार है। आज के मनुष्यों ने यह परिकल्पना करली है, कि उक्त पदार्थों के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। किन्तु निश्चय ही यह उनकी भ्रान्ति है। सात्विक पदार्थों के आधार पर भी मनुष्य के जीवन का संरक्षण और संवर्द्धन किया जा सकता है। संसार के अच्छे-से-अच्छे वैज्ञानिकों का मत है, कि मनुष्य को मांसाहारी न होकर शाकाहारी होना चाहिए। हमें यह जानकर आश्चर्य होता है, कि योरोप का प्रसिद्ध कवि शैली शाकाहारी था। प्रकृति के नियम के अनुसार केवल शाकाहार ही उत्तम एवं उपादेय भोजन है। आज का स्वास्थ्य-विज्ञान कहता है, कि भोजन के सम्बन्ध में स्वच्छता की ओर ध्यान दो, किन्तु वह यह ध्यान नहीं देता, कि मांस, अण्डे और मछली खाने वाले लोग स्वच्छ कैसे रह सकते हैं? एक वैज्ञानिक का विचार है, कि मांस, मदिरा और अण्डे के कारण ही आज के युग में बहुत से रोगों का सूत्रपात हुआ है। मनुष्य स्वस्थ और बलवान होने के लिए मांस खाता है, परन्तु उसे उससे प्राप्त होते हैं वे रोग, जिनकी हम कल्पना तक नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए हम 'प्रकृति विद्या' नामक कीटाणु को ले सकते हैं। यह प्रौढ़ अवस्था में भेड़, गाय, बैल, सूअर एवं बकरी आदि अन्य पशुओं में मिलता है। उक्त पशुओं का मांस खाने वाला मनुष्य, उन कीटाणुओं के प्रभाव से कैसे बच सकता है, जो उनके मांस में रहते हैं? इस प्रकार हम देखते हैं, कि आज के संसार में जैसे-जैसे मांस, मदिरा आदि तामसिक भोजन का प्रभाव बढ़ा है, वैसे-वैसे मनुष्यों के शरीर में विभिन्न रोगों की उत्पत्ति अधिकाधिक बढ़ी है। मनुष्य

यह विचार करता है कि मैं अपने शरीर के बल और शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए मांस और अण्डों का सेवन करता हूँ, किन्तु यह उसकी एक भ्रान्ति है।

ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है, कि वह शुद्ध एवं सात्त्विक भोजन का लक्ष्य रखे। तामसिक और राजसिक भोजन ब्रह्मचर्य की साधना में विघ्न उत्पन्न करने वाले हैं। जैन शास्त्र के अनुसार अतिभोजन, स्निग्ध-भोजन एवं प्रणीत भोजन भी उस साधक के लिए त्याज्य है, जो ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करना चाहता है। योग-शास्त्र में कहा गया है, कि अति भोजन और अति अल्प भोजन दोनों से योग की साधना नहीं की जा सकती। खटाई, मिठाई, मिर्च और मशाले भी शरीर में विकार उत्पन्न करने वाले हैं। अतः साधक को इनका भी परित्याग करना चाहिए।

संयम और भोजन :

संयम-साधना की बहुत कुछ सफलता, साधक के भोजन पर निर्भर है। संयम की साधना सात्त्विक भोजन से ही निर्विघ्न रूप से की जा सकती है। कामोत्तेजक पदार्थों के भक्षण से काम की ज्वाला कैसे शान्त की जा सकती है? जैसे अग्नि में घी डालने से वह और अधिक बढ़ती है, उसी प्रकार उत्तेजक पदार्थों के भक्षण से मनुष्य की कामाग्नि प्रबल वेग से भड़क सकती है। अतः साधना के लिए भोजन का विवेक आवश्यक ही नहीं, परमावश्यक माना गया है।

●

दिवा पश्यति नो घूकः, काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो, दिवानक्तं न पश्यति॥

—उपदेशमाला भाषान्तर

उलूक दिन में नहीं देख सकता और काक रात में नहीं देख पाता, किन्तु कितनी विचित्र बात है कि कामान्ध मनुष्य न दिन में देख पाता है और न रात में देख पाता है।

२. ब्रह्मचारी वह कार्य न करे, जिससे किसी भी प्रकार के लैङ्गिक विकार होने की सम्भावना हो।

३. कामोद्दीपक आहार का सेवन न करे।

४. स्त्री से सेवित शयन एवं आसन का उपयोग न करे।

५. स्त्रियों के अङ्गों को न देखे।

६. स्त्री का सत्कार न करे।

७. शरीर का संस्कार (शृंगार) न करे।

८. पूर्व सेवित काम का स्मरण न करे।

९. भविष्य में काम-क्रीडा करने का न सोचे।

१०. इष्ट रूप आदि विषयों में मन को संसक्त न करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल आगम में और आगमकाल के बाद होने वाले श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्यों ने अपने-अपने समय में समाधि, गुप्ति और बाड़ों का विविध प्रकार से संक्षेप एवं विस्तार में, मूल आगमों का आधार लेकर वर्णन किया है। समाधि का अर्थ है—मन की शान्ति। गुप्ति का अर्थ है विषयों की ओर जाते हुए मन का गोपन करना, मन का निरोध करना। समाधि और गुप्ति के अर्थ में ही मध्यकाल के अपभ्रंश साहित्यकारों ने बाड़ शब्द का प्रयोग किया है। अतः तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है, कि वह उपाय एवं साधन जिससे ब्रह्मचर्य की रक्षा भली भांति हो सके।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रकारों ने कुछ अन्य उपाय भी बतलाए हैं, जिनका सम्यक् परिपालन करने से ब्रह्मचर्य की साधना दुष्कर नहीं रहती। इन साधनों का अवलम्बन एवं सहारा लेकर साधक सरलता के साथ ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है। यद्यपि समाधि, गुप्ति एवं बाड़ों के नियमों में सभी प्रकार के उपायों का समावेश हो जाता है, तथापि एक अन्य प्रकार से भी ब्रह्मचर्य को स्थिर बनाने के लिए उपदेश दिया गया है, जिसे भावना कहा जाता है। यह भावना-योग द्वादश प्रकार का है। उस द्वादश प्रकार के भावना-योग में ब्रह्मचर्य से सविशेष रूप से सम्बन्धित अशुचि भावना का वर्णन मूल आगम में, उसके बाद आचार्य हेमचन्द्र के 'योग-शास्त्र' में, आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' में और स्वामी कार्तिकेय विरचित 'द्वादशानुप्रेक्षा' में विस्तार के साथ किया गया है। मनुष्य के मन में जो विचार उठता है, उसी को भावना एवं अनुप्रेक्षा कहा जाता है। परन्तु प्रस्तुत में पारिभाषिक भावना एवं अनुप्रेक्षा का अर्थ है—किसी विषय पर पुनः-पुनः चिन्तन करना, मनन करना, विचार करना। 'पुनः पुनश्चेतसि निवेशनं भावना'। आगम में शरीर की अशुचि का विचार इसलिए किया गया है, कि मनुष्य के मन में

अपने रूप और सौन्दर्य पर आसक्ति-भाव न हो। क्योंकि शरीर ही ममता एवं आसक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है। मनुष्य जब किसी सुन्दर नारी के मोहक रूप एवं सौन्दर्य को देखता है, तब वह मुग्ध होकर अपने अध्यात्म-भाव को भूल जाता है। इसी प्रकार नारी भी किसी पुरुष के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध बन जाती है। फलतः दोनों के मन में काम-राग की उत्पत्ति हो जाती है। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य का परिपालन कैसे किया जा सकता है ? अस्तु, अपने एवं दूसरों के शरीर की आसक्ति एवं व्यामोह को दूर करने के लिए ही शास्त्रकारों ने अशुचि भावना का उपदेश दिया है।

द्वादशानुप्रेक्षा :

स्वामी कार्तिकेय ने अशुचि-भावना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—हे साधक ! तू देह पर आसक्ति क्यों करता है ? जरा इस शरीर के अन्दर के रूप को तो देख, इसमें क्या कुछ भरा हुआ है। इसमें मल-मूत्र, हाड़-मांस और दुर्गन्ध के अतिरिक्त रखा भी क्या है ? चर्म का पर्दा हटते ही इसकी वास्तविकता तेरे सामने आ जाएगी। इस शरीर पर चन्दन एवं कपूर आदि सुगन्धित द्रव्य लगाने से वे स्वयं भी दुर्गन्धित हो जाते हैं। जो कुछ सरस एवं मधुर पदार्थ मनुष्य खाता है, वह सब कुछ शरीर के अन्दर पहुँचकर मलरूप में परिणत हो जाता है। और तो क्या, इस शरीर पर पहना जाने वाला वस्त्र भी इसके संयोग से मलिन हो जाता है। हे भव्य ! जो शरीर इस प्रकार अपवित्र एवं अशुचिपूर्ण है, उस पर तू मोह क्यों करता है, आसक्ति क्यों करता है ? तू अपने अज्ञान के कारण ही इस शरीर से स्नेह और प्रेम करता है। यदि इसके अन्दर का सच्चा रूप तेरे सामने आ जाए, तो एक क्षण भी तू इसके पास बैठ नहीं सकेगा। खेद की बात है कि मनुष्य अपने पवित्र आत्म-भाव को भूलकर, इस अशुचिपूर्ण शरीर पर मोह करता है। यह शरीर तो अशुचि, अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त है। इस प्रकार अशुचि भावना के चिन्तन से साधक के मानस में त्याग और वैराग्य की भावना प्रबल होती है। इससे रूप की आसक्ति मन्द होती है, जिससे ब्रह्मचर्य के पालन में सहयोग मिलता है।

योग-शास्त्र :

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'योग-शास्त्र' के चतुर्थ प्रकाश में द्वादश भावनाओं का बड़ा सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। उसमें छठी अशुचि-भावना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—यह शरीर जिसके रूप और सौन्दर्य पर मनुष्य अहंकार एवं आसक्ति करते हैं, वह वास्तव में क्या है ? यह शरीर रस, रक्त, मांस, मेद (चर्बी), अस्थि (हाड़), मज्जा, वीर्य, आंत एवं मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थों से परिपूर्ण है। चर्म के पर्दे को हटाकर देखा जाए, तो यह सब कुछ उसमें देखने को

मिलेगा। अतः यह शरीर किस प्रकार पवित्र हो सकता है? यह तो अशुचि एवं मलिन है। इस देह के नव द्वारों से सदा दुर्गन्धित रस झरता रहता है और इस रस से यह शरीर सदा लिप्त रहता है। इस अशुचि शरीर में और अपवित्र देह में सुन्दरता और पवित्रता की कल्पना करना, ममता और मोह की विडम्बना मात्र है। इस प्रकार निरन्तर शरीर की अशुचि का चिन्तन करते रहने से मनुष्य के मन में वैराग्य-भावना तीव्र होती है और काम-ज्वर उपशान्त हो जाता है।

ज्ञानार्णव :

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने 'ज्ञानार्णव' में जिसका दूसरा नाम 'योग-प्रदीप' है, कहा है कि—इस संसार में विविध प्रकार के जीवों को जो शरीर मिला है, वह स्वभाव से ही गलन और सड़न-धर्मा है। अनेक धातु और उपधातुओं से निर्मित है। शुक्र और शोणित से इसकी उत्पत्ति होती है। यह शरीर अस्थि-पंजर है। हाड़, माँस और चर्बी की दुर्गन्ध इसमें से सदा आती रहती है। भला जिस शरीर में मल-मूत्र भरा हो, कौन बुद्धिमान उस पर अनुराग करेगा? इस भौतिक शरीर में एक भी तो पदार्थ पवित्र और सुन्दर नहीं है, जिस पर अनुराग किया जा सके। यह शरीर इतना अपवित्र और अशुचि है, कि क्षार-सागर के पवित्र जल से भी इसे धोया जाए तो उसे भी यह अपवित्र बना देता है। इस भौतिक तन की वास्तविक स्थिति पर जरा विचार तो कीजिए, यदि इस शरीर के बाहरी चर्म को हटा दिया जाए, तो मक्खी, कृमि, काक और गिद्धों से इसकी रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। यह शरीर अपवित्र ही नहीं है, बल्कि हजारों-हजार प्रकार के भयंकर रोगों का घर भी है। इस शरीर में भयंकर से भयंकर रोग भरे पड़े हैं, इसीलिए तो शरीर को व्याधि का मन्दिर कहा जाता है। बुद्धिमान मनुष्य वह है, जो अशुचि भावना के चिन्तन और मनन से शरीर की गर्हित एवं निन्दनीय स्थिति को देखकर एवं जानकर, इसे भोग-वासना में न लगाकर, परमार्थ-भाव की साधना में लगाता है। विवेकशील मनुष्य विचार करता है, कि इस अपवित्र शरीर की उपलब्धि के प्रारम्भ में भी दुःख था, अन्त में भी दुःख होगा और मध्य में भी यह दुःख रूप ही है। भला जो स्वयं दुःख रूप है, वह सुख रूप कैसे हो सकता है? इस अपवित्र तन से सुख की आशा रखना मृग-मरीचिका के तुल्य है। इस अशुचि भावना के चिन्तन का फल यह है कि मनुष्य के मानस में त्याग और वैराग्य के विचार तरंगित होने लगते हैं और वह अपनी वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है।

तत्त्वार्थ-भाष्य :

आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' में ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसमें कहा गया है, कि ब्रह्मचर्य-व्रत की

साधना करने वाले साधक के लिए आवश्यक है, कि वह अनुदिन ब्रह्मचर्य-व्रत की पाँच भावनाओं का चिन्तन और मनन करे। जो साधक प्रतिदिन इन पाँच भावनाओं का चिन्तन और मनन करता है, उसकी वासना धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। ब्रह्मचर्य-व्रत की पांच भावनाएँ इस प्रकार हैं—

१. जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों, ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। जिस आसन एवं शय्या पर स्त्री बैठी हो अथवा पुरुष बैठा हो, तो दोनों को एक दूसरे के शय्या एवं आसन पर नही बैठना चाहिए।

२. राग-भाव से पुरुष को स्त्री-कथा और स्त्री को पुरुष की कथा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इससे राग-भाव बढ़ता है।

३. स्त्रियों के मनोहर अङ्ग एवं उपाङ्गों का तथा कटाक्ष और विलासों का अवलोकन नही करना चाहिए। राग-भाव के वशीभूत होकर बार-बार पुरुषों को स्त्रियों की ओर तथा स्त्रियों को पुरुषों की ओर नही देखना चाहिए।

४. पूर्व-सेवित रति-सम्भोग आदि का नही स्मरण करना चाहिए और भविष्य के लिए भी इनकी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।

५. ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना करने वाले को, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, प्रणीत (गरिष्ठ), कामोत्तेजक सरस एवं मधुर भोजन प्रतिदिन नही करना चाहिए। यह पाँच ब्रह्मचर्य-व्रत की भावनाएँ हैं। इनका निरंतर चिन्तन करते रहने से ब्रह्मचर्य स्थिर होता है।

आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्वार्थ-भाष्य' के नवम अध्याय में द्वादश भावनाओं का भी अति सुन्दर वर्णन किया है। अशुचि भावना का वर्णन करते हुए कहा है कि—यह शरीर अशुचि एवं अपवित्र है। क्योंकि यह शुक्र और शोणित से बना है, जो अपने आप में स्वयं ही अपवित्र हैं। इस शरीर का दूसरा आधार आहार है। आहार भी शरीर के अन्दर पहुँच कर रस एवं खल आदि भागों में परिणत होता है। खल भाग से मल एवं मूत्र बनते हैं और रस भाग से रक्त, मांस, मज्जा एवं वीर्य आदि बनते हैं। इस अशुचिता के कारण शरीर पवित्र कैसे हो सकता है? शरीर में जितने भी अशुचि पदार्थ हैं, यह शरीर उन सबका आधार है। कान का मल, आँख का मल, दान्त का मल और पसीना ये सब शरीर के अन्दर से पैदा होते हैं और बाहर निकलकर भी शरीर को अपवित्र ही करते हैं। जो शरीर अन्दर और बाहर दोनों ओर से अशुचि एवं अपवित्र है, उसके क्षणिक रूप और सौन्दर्य पर मुग्ध होना एक प्रकार की विचार-मूढ़ता ही है। इस शरीर का सब कुछ क्षणभंगुर है। क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाला है। कम से कम इस शरीर की चार अवस्थाएँ शास्त्रकारों ने मानी हैं—शैशव, यौवन, प्रौढ़ और वृद्धत्वभाव। इन चार अवस्थाओं में कोई

सी भी अवस्था स्थायी नहीं है। ऋतुकाल में पिता के वीर्य-बिन्दुओं के और माता के रजकणों के आधान से लेकर, यह शरीर क्रम से अनेक अवस्थाओं में अनुबद्ध हुआ करता है, जिसका वर्णन शरीर-शास्त्र में विस्तार के साथ किया गया है। शरीर की इन विभिन्न अवस्थाओं के देखने से और जानने से विचार आता है कि मनुष्य इतने अपवित्र शरीर पर भी आसक्ति और ममता क्यों करता है? अशुचि भावना का चिन्तन मनुष्य को राग से विराग की ओर ले जाता है।

संवेग और वैराग्य :

ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है, कि वह अपने मन को सदा संवेग और वैराग्य में संलग्न रखे। किन्तु प्रश्न होता है, कि मनुष्य के मानस में संवेग और वैराग्य की भावना को स्थिर कैसे किया जाए? इसके समाधान में आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' के सातवें अध्याय में वर्णन किया है कि—संवेग और वैराग्य को स्थिर करने के लिए ब्रह्मचर्य के साधक को अपने मानस में शरीर और जगत् के स्वभाव का चिन्तन करते रहना चाहिए। जगत् अर्थात् संसार का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए, कि यह संसार षड्द्रव्यों का समूह रूप है। द्रव्यों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव—उत्पाद और विनाश निरन्तर होता रहता है। संसार का स्वभाव है, बनना और बिगड़ना। संसार के नाना रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें से किसको सत्य मानें। संसार का जो रूप कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। यह विश्व द्रव्य रूप में स्थिर होते हुए भी पूर्व पर्याय के विनाश और उत्तर पर्याय के उत्पाद से नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है। इस संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो क्षण भंगुर और परिवर्तनशील न हो। जब संसार का एक भी पदार्थ स्थिर और शाश्वत नहीं है, तब भौतिक तत्त्वों से निर्मित यह देह और उसका रूप स्थिर और शाश्वत कैसे हो सकता है? बाल अवस्था में जो शरीर सुन्दर लगता है, यौवनकाल में जो कमनीय लगता है, वही तन वृद्धावस्था में पहुँचकर अरुचिकर, असुन्दर और घृणित बन जाता है। फिर इस तन पर ममता करने से लाभ भी क्या है? तन की इस ममता से ही वासना का जन्म होता है, जो ब्रह्मचर्य को स्थिर नहीं रहने देती। अतः तन की ममता को दूर करने के लिए साधक को शरीर और संसार के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए।

दुःख-भावना :

आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थ-भाष्य' में ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए दुःख-भावना का वर्णन भी किया है। कहा गया है, कि मैथुन-सेवन से कभी सुख प्राप्त नहीं होता। जैसे खुजली होने पर मनुष्य उसे खुजलाता है, खुजलाते समय कुछ काल के

लिए उसे सुखानुभूति अवश्य होती है, किन्तु फिर चिरकाल के लिए उसे दुःख उठाना पड़ता है। खुजलाने से खाज में रक्त बहने लगता है और फिर पीड़ा भी भयंकर हो जाती है। इसी प्रकार विषय-सुख के सेवन से क्षण भर के लिए स्पर्श जन्य सुख भले ही प्राप्त हो जाए, किन्तु उस सुख की अपेक्षा व्यभिचार करने से मनुष्य को दुःख ही अधिक उठाना पड़ता है। यदि परस्त्री गमन रूप अपराध करता हुआ पकड़ा जाता है, तो समाज और राज्य उसे कठोर से कठोर दण्ड देने का विधान करता है। लोक में उसका अपवाद और अपयश फैल जाता है। कभी-कभी तो इस प्रकार के अपराधी के हाथ, पैर, कान और इन्द्रिय आदि अवयव का छेदन भी करा दिया जाता है। अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले ये दुःख तो इसी लोक के हैं, किन्तु परलोक में तो इनसे भी कहीं अधिक भयंकर दुःख पीड़ा और संत्रास प्राप्त होते हैं। मैथुन, व्यभिचार और अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले इन दुःखों का चिन्तन करने से मनुष्य मैथुन से विरत हो जाता है, व्यभिचार का परित्याग कर देता है। आचार्य उमास्वाति ने इसीलिए कहा है कि निरन्तर दोषों का चिन्तन करो। उससे प्राप्त होने वाले दुःख और क्लेशों का विचार करो। इस प्रकार के विचार से और मैथुन के दोष-दर्शन से वासना शान्त हो जाती है और ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है।

●

सी भी अवस्था स्थायी नहीं है। ऋतुकाल में पिता के वीर्य-बिन्दुओं के और माता के रजकणों के आधान से लेकर, यह शरीर क्रम से अनेक अवस्थाओं में अनुबद्ध हुआ करता है, जिसका वर्णन शरीर-शास्त्र में विस्तार के साथ किया गया है। शरीर की इन विभिन्न अवस्थाओं के देखने से और जानने से विचार आता है कि मनुष्य इतने अपवित्र शरीर पर भी आसक्ति और ममता क्यों करता है ? अशुचि भावना का चिन्तन मनुष्य को राग से विराग की ओर ले जाता है।

संवेग और वैराग्य :

ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है, कि वह अपने मन को सदा संवेग और वैराग्य में संलग्न रखे। किन्तु प्रश्न होता है, कि मनुष्य के मानस में संवेग और वैराग्य की भावना को स्थिर कैसे किया जाए ? इसके समाधान में आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' के सातवें अध्याय में वर्णन किया है कि—संवेग और वैराग्य को स्थिर करने के लिए ब्रह्मचर्य के साधक को अपने मानस में शरीर और जगत् के स्वभाव का चिन्तन करते रहना चाहिए। जगत् अर्थात् संसार का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए, कि यह संसार षड्द्रव्यों का समूह रूप है। द्रव्यों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव—उत्पाद और विनाश निरन्तर होता रहता है। संसार का स्वभाव है, बनना और बिगड़ना। संसार के नाना रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें से किसको सत्य मानें। संसार का, जो रूप कल था, वह आज नहीं है और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। यह विश्व द्रव्य रूप में स्थिर होते हुए भी पूर्व पर्याय के विनाश और उत्तर पर्याय के उत्पाद से नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है। इस संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जो क्षण भंगुर और परिवर्तनशील न हो। जब संसार का एक भी पदार्थ स्थिर और शाश्वत नहीं है, तब भौतिक तत्वों से निर्मित यह देह और उसका रूप स्थिर और शाश्वत कैसे हो सकता है ? बाल अवस्था में जो शरीर सुन्दर लगता है, यौवनकाल में जो कमनीय लगता है, वही तन वृद्धावस्था में पहुँचकर अरुचिकर, असुन्दर और घृणित बन जाता है। फिर इस तन पर ममता करने से लाभ भी क्या है ? तन की इस ममता से ही वासना का जन्म होता है, जो ब्रह्मचर्य को स्थिर नहीं रहने देती। अतः तन की ममता को दूर करने के लिए साधक को शरीर और संसार के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए।

दुःख-भावना :

आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थ-भाष्य' में ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए दुःख-भावना का वर्णन भी किया है। कहा गया है, कि मैथुन-सेवन से कभी सुख प्राप्त नहीं होता। जैसे खुजली होने पर मनुष्य उसे खुजलाता है, खुजलाते समय कुछ काल के

लिए उसे सुखानुभूति अवश्य होती है, किन्तु फिर चिरकाल के लिए उसे दुःख उठाना पड़ता है। खुजलाने से खाज में रक्त बहने लगता है और फिर पीड़ा भी भयंकर हो जाती है। इसी प्रकार विषय-सुख के सेवन से क्षण भर के लिए स्पर्श जन्य सुख भले ही प्राप्त हो जाए, किन्तु उस सुख की अपेक्षा व्यभिचार करने से मनुष्य को दुःख ही अधिक उठाना पड़ता है। यदि परस्त्री गमन रूप अपराध करता हुआ पकड़ा जाता है, तो समाज और राज्य उसे कठोर से कठोर दण्ड देने का विधान करता है। लोक में उसका अपवाद और अपयश फैल जाता है। कभी-कभी तो इस प्रकार के अपराधी के हाथ, पैर, कान और इन्द्रिय आदि अवयव का छेदन भी करा दिया जाता है। अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले ये दुःख तो इसी लोक के हैं, किन्तु परलोक में तो इनसे भी कहीं अधिक भयंकर दुःख पीड़ा और संत्रास प्राप्त होते हैं। मैथुन, व्यभिचार और अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले इन दुःखों का चिन्तन करने से मनुष्य मैथुन से विरत हो जाता है, व्यभिचार का परित्याग कर देता है। आचार्य उमास्वाति ने इसीलिए कहा है कि निरन्तर दोषों का चिन्तन करो। उससे प्राप्त होने वाले दुःख और क्लेशों का विचार करो। इस प्रकार के विचार से और मैथुन के दोष-दर्शन से वासना शान्त हो जाती है और ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है।

●

संक्लेश और विशुद्धि :

बौद्ध साहित्य में शील शब्द यद्यपि व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है, तथापि उस व्यापक अर्थ में से शील शब्द का मुख्य रूप में ब्रह्मचर्य अर्थ ही लिया जाता है। जैन-शास्त्र में ब्रह्मचर्य के लिए शील शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। शील शब्द भारतीय संस्कृति में इतना व्यापक एवं विशाल है, कि चारित्र्य एवं आचार के समस्त सद्गुणों का समावेश शील शब्द में हो जाता है। अतः शील शब्द ब्रह्मचर्य के अर्थ में प्रयुक्त होकर भी अध्यात्म के प्रायः समस्त गुणों का स्पर्श कर लेता है।

विशुद्धि-मार्ग :

बौद्ध साहित्य में विशुद्धि-मार्ग, जिसका पालि रूप 'विसुद्धि मग्गो' होता है, योग का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें चित्त-वृत्तियों का बहुत व्यापक एवं विस्तार के साथ विश्लेषण किया गया है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि पतंजलि के 'योग-शास्त्र' से भी अधिक गम्भीर एवं गहन विशुद्धि-मार्ग है। भगवान बुद्ध ने चित्त के सम्बन्ध में तथा मन की वृत्तियों के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा था, उस सबका संकलन आचार्य बुद्धघोष ने इसमें कर दिया है। निस्सन्देह योग-विषयक यह एक महान ग्रन्थ है। इस विशुद्धि-मार्ग के प्रथम परिच्छेद में शील का विस्तार के साथ विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। शील का महात्म्य विस्तार से बताया गया है।

संक्लेश और विशुद्धि :

भगवान बुद्ध से पूछा गया था कि चित्त में तरंगित होने वाले संक्लेशों की विशुद्धि कैसे की जाए? इस प्रश्न के समाधान में संक्लेशों की विशुद्धि का जो मार्ग बतलाया उसे विशुद्धि मार्ग में शील-निर्देश कहा गया है। बुद्ध ने कहा था—जब तक चित्त का मैथुन के साथ संयोग है, तब [illegible] दूर [illegible]। मैथुन से विरत होना ही संक्लेशों को दूर [illegible] चित्त में वासना, कामना एवं संक्लेश उत्पन्न [illegible] भी प्रकार अपने चित्त को विशुद्ध नहीं बना सकता

उसमें और अधिक अभिवृद्धि होती है। मैथुन के दोषों से बचने के लिए एक ब्राह्मण को, भगवान बुद्ध ने सात प्रकार के उपाय बतलाए थे, जो इस प्रकार हैं—

१. ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ भी किसी स्त्री के साथ तो मैथुन-सेवन नही करता, किन्तु स्त्री से उबटन लगवाता है, शरीर मलवाता है, स्नान करवाता है और शरीर दबवाता है। वह उसका मजा लेता है, उसको पसन्द करता है और उसे देखकर प्रसन्न होता है। ब्राह्मण! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल (चितकबरा होना) भी है। वह व्यक्ति मैथुन-संयोग से संयुक्त है, वह जन्म, जरा एवं मृत्यु से छुटकारा प्राप्त नही कर सकता।

२. ब्राह्मण! यदि श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, स्त्री के साथ मैथुन-सेवन नहीं करता और न उबटन ही लगवाता है, किन्तु स्त्री के साथ ठहाका मारकर हँसता है, उसके साथ मजाक करता है, मजाक करते हुए विचरता है और वह उसका मजा लेता है। यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है, और शबल होना भी है। वह अपने जन्म-मरण से नही छूट सकता।

३. ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ स्त्री के साथ मैथुन-सेवन नही करता, न स्त्री से उबटन लगवाता है, न ठहाका मार कर हँसता है, न मजाक करता है, न मजाक करते विचरता है, किन्तु अपनी आँख से स्त्री की आँख मिलाकर देखता है, अवलोकन करता है और उसका मजा लेता है। यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

४. ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री के साथ मैथुन सेवन करता है, न स्त्री से उबटन लगवाता है, न उसके साथ हँसता है और न अपनी आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है, किन्तु भीत की आड़ से-चारदीवारी की ओट से हँसती हुई, बोलती हुई, गाती हुई या रोती हुई स्त्री का शब्द सुनता है और उसका मजा लेता है। ब्राह्मण! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

५. ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री के साथ हँसता है, न अपनी आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है और न स्त्री का शब्द सुनता है, किन्तु उसने पहले स्त्री के साथ जो हँसी मजाक किया उसे याद करता है और उसका मजा लेता है। ब्राह्मण! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

६. ब्राह्मण! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री के साथ मैथुन-सेवन करता है, न उबटन लगवाता है, न स्त्री के

साथ हँसता है, न आंख से आँख को मिलाकर देखता है, न स्त्री का शब्द सुनता है और न पहले कभी किए हुए स्त्रों के साथ हँसी, मजाक का स्मरण ही करता है, किन्तु पाँच काम-गुणों में समर्पित, तल्लीन और उनमें आनन्द लेते हुए गृह-पति अथवा गृहपति के पुत्र को देखता है और उसका मजा लेता है। हे ब्राह्मण ! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है।

७. ब्राह्मण ! यदि कोई श्रमण या ब्राह्मण पक्का ब्रह्मचारी होने का दावा करता हुआ, न स्त्री के साथ ठहाका मारकर हँसता है, न अपनी आँख से स्त्री की आँख को मिलाकर देखता है, न स्त्री का शब्द सुनता है, न पहले कभी स्त्री के साथ किए हुए हंसी-मजाक का स्मरण करता है और न पाँच काम-गुणों में समर्पित एवं तल्लीन हुए गृहपति अथवा उसके पुत्र को ही देखता है, किन्तु वह किसी देव-निकाय की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करता है और मन में संकल्प करता है, कि मैं इस शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से देवता बनूँगा। वह इस प्रकार संकल्प ही नहीं करता, बल्कि इस संकल्प का मजा भी लेता है तो ब्राह्मण ! यह ब्रह्मचर्य का खण्ड भी है, छेद भी है और शबल होना भी है। इस प्रकार का साधक अपने जन्म, जरा और मरण के संक्लेशों से कभी विमुक्त नहीं हो सकता, कभी छुटकारा प्राप्त नहीं कर सकता।

भगवान बुद्ध ने ब्रह्मचर्य एवं शील के संरक्षण के सम्बन्ध में जो सात बातें बतलाई हैं, वे प्रायः भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट दश समाधि एवं गुप्ति तथा नव बाड़ का ही अनुसरण है। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के लिए शील-रक्षा का यह जो मनोवैज्ञानिक उपाय बतलाया है, यह वस्तुतः एक सुन्दर उपाय है, एवं ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए एक सुन्दर साधन है। जब तक ब्रह्मचर्य की एवं शील की संरक्षा के लिए इस प्रकार के उपायों का अवलम्बन न लिया जाएगा, तब तक ब्रह्मचर्य का पालन सहज नहीं बन सकता।

तप और ब्रह्मचर्य :

भारतीय संस्कृति में तप और ब्रह्मचर्य में एक घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। तप ब्रह्मचर्य का पूरक है और ब्रह्मचर्य तप का पूरक है। जहाँ तप होता है, वहाँ किसी न किसी रूप में ब्रह्मचर्य अवश्य ही रहता है और जब साधक ब्रह्मचर्य की साधना करता है, तब वह एक प्रकार से तप की ही साधना करता है। श्रमण संस्कृति में तप को विशेष महत्व मिला है। विविध प्रकार की विवेक मूलक तपस्याओं का जितना उदार एव विशाल वर्णन आगम-साहित्य में उपलब्ध होता है, उसका शतांश भी अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है। ब्रह्मचर्य और तप दोनों एक दूसरे के केवल पूरक ही नहीं, बल्कि संरक्षक और संवर्द्धक भी रहे हैं। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों परम्पराओं में साधकों के लिए जहाँ विविध प्रकार की तपस्याओं का उल्लेख मिलता है, वहाँ ब्रह्मचर्य अवश्य रहता है। एक भी ऐसी साधना नहीं है, जहाँ ब्रह्मचर्य को आवश्यक न माना हो। अतः यह कहा जा सकता है, कि समस्त भारतीय संस्कृति में तप और ब्रह्मचर्य के सुमेल पर एवं समन्वय पर अत्यधिक बल दिया गया है।

तप की महिमा :

प्रश्न होता है कि तप क्या वस्तु है ? मानव-जीवन में उसका उपयोग क्या है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि—जीवन की वह प्रत्येक क्रिया तप है, जिसमें इच्छाओं का निरोध किया जाता है। तप की सबसे सुन्दर परिभाषा यही है, कि इच्छाओं का निरोध करना। अध्यात्म-विकास में तप को अत्यन्त उपयोगी इस आधार पर माना गया है, कि इससे चित्त-विशुद्धि और मन की निर्मलता बनी रहती है। बिना तप के हमारी छोटी या बड़ी किसी प्रकार की भी साधना सफल नहीं हो सकती। जिस प्रकार अग्नि में तप कर स्वर्ण की चमक और दमक बढ़ जाती है और उसके ऊपर का मल दूर हो जाता है, उसी प्रकार तप की अग्नि में पड़कर साधक के जीवन की भी चमक-दमक बढ़ जाती है और उसके जीवन में आए हुए विकार और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। धर्म-शास्त्रों में तप को धर्म का नवनीत कहा गया है, धर्म का सार कहा गया है। जैसे दुग्ध का सार नवनीत होता है और वह दुग्ध को मंथन

करके ही प्राप्त किया जाता है, वैसे ही जीवन का मंथन करके जो धर्म प्राप्त किया जा सकता है, वह तप से बढ़कर अन्य कुछ नहीं हो सकता। अतः धर्म के क्षेत्र में तप से बढ़कर अन्य कोई साधना नहीं है।

तप की परिभाषा :

तप क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि अपनी इच्छाओं का निरोध ही सच्चा तप है। जहाँ इच्छाओं का निरोध होता है, वहाँ ब्रह्मचर्य तो अवश्य होगा ही। तप के सम्बन्ध में धर्म-शास्त्र में यह भी कहा गया है, कि [1]तप के प्रभाव से कठिन सरल हो जाता है, दुर्गम सुगम हो जाता है और दुर्लभ सुलभ हो जाता है। तप से सब कुछ साध्य है। तप के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। यद्यपि तप की परिभाषा (तापनात् तपः) भी की जाती है, जिसका अर्थ है—जो तपता है वह तप है, तथापि दर्शन शास्त्र में इस परिभाषा को इस आधार पर स्वीकार नहीं किया गया, कि मनुष्य के चित्त को तपाने वाली वासना भी हो सकती है, किन्तु निश्चय ही वह तप नहीं हो सकती। अतः तप की सबसे सुन्दर और लोक-भोग्य परिभाषा यह हो सकती है, कि आत्म-कल्याण और पर-कल्याण के लिए कष्ट सहन करते हुए जो तपन होता है, वही वस्तुतः तप है।

तप की परिसीमा :

प्रश्न होता है कि तप की परिसीमा क्या है ? एक साधक के लिए जो साधारण तप है, दूसरे व्यक्ति के लिए वह एक कठोर तप हो सकता है। और कभी व्यक्ति विशेष के लिए कठोर तप भी साधारण तप हो सकता है। अतः तप की सीमा निर्धारित कैसे की जाए ? यह एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है। उपाध्याय यशोविजय जी ने अपने 'ज्ञान-सार' नामक अध्यात्म ग्रन्थ में तप की सीमा का बड़ा ही सुन्दर अंकन किया है। उनका कहना है, कि—तप एक श्रेष्ठ वस्तु है, तप एक उत्तम धर्म है। तप धर्म का सार है और आत्म-कल्याण के लिए तप की साधना आवश्यक है। यह सब कुछ होते हुए भी यह नहीं भूल जाना चाहिए, कि साधक-विशेष की अपेक्षा से उसकी एक सीमा भी है। क्योंकि सभी साधक समान शक्ति के नहीं हो सकते। शक्ति के भेद से उनकी तपः साधना में भेद आवश्यक है। यशोविजय जी ने तप की सीमा का अंकन करते हुए कहा है कि—[2]तप उतना ही करना चाहिए जिसके करते हुए

---

१. यद् दुस्तरं, यद् दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

—मनुस्मृति

२. "तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत्।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च॥"

—ज्ञानसार

मन में उत्साह एवं स्फूर्ति बनी रहे और साधक के मन में किसी प्रकार का दुर्ध्यान उत्पन्न न हो पाए। जिस तप की साधना से योगों की हानि न हो और इन्द्रियों की शक्ति का क्षय न हो, यही तप की परिसीमा है। तप का उद्देश्य है, चित्त की विशुद्धि और मन की निर्मलता। यह स्थिति जब तक बनी रहे, तभी तक साधक को तप करना चाहिए।

तप के भेद :

जैन शास्त्रों में एवं उसके मूल आगम ग्रन्थों में मुख्य रूप में तप के दो भेद किए गए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के छह भेद हैं, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं। छह प्रकार के बाह्य तपों में अल्प भोजन, उपवास, रस-परित्याग विविक्त शय्यासन और वृत्ति-संक्षेप-तपों का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मचर्य के साथ है। क्योंकि अतिभोजन से, अधिक उपभोग से, विविध रसों का सेवन करने से, वृत्तियों का विस्तार करने से और स्त्री, पशु एवं नपुंसक आदि के अधिक साहचर्य से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता। अतः ब्रह्मचर्य के परिपालन में उक्त प्रकार के तप पूरक हैं। ब्रह्मचर्य को स्थिर बनाते हैं। इसी प्रकार आभ्यन्तर तपों में स्वाध्याय और ध्यान विशेष रूप से ब्रह्मचर्य के परिपालन में साधन बनते हैं। स्वाध्याय से मन का अज्ञान दूर होता है और ध्यान की साधना से मन की बिखरी हुई वृत्तियों को एकाग्र किया जा सकता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार का तप ब्रह्मचर्य के पालन में आवश्यक ही नहीं, बल्कि परम आवश्यक माना गया है।

तप और ब्रह्मचर्य एक दूसरे के विरोधी नहीं, सदा से सहयोगी रहे हैं। जिस प्रकार तप ब्रह्मचर्य में सहयोगी है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की विशुद्ध साधना भी तप की आराधना में अत्यन्त उपयोगी है। यदि कोई साधक एक तरफ तो बाह्य और आभ्यन्तर कठोर से कठोर साधना करता जाए और दूसरी ओर स्त्रियों के सौन्दर्य में आसक्त होकर अपने अंगीकृत ब्रह्मचर्य का भंग करता जाए तो अध्यात्म क्षेत्र में उस तप की साधना का कुछ भी मूल्य शेष न रहेगा। तप की साधना तभी सफल होगी, जबकि उससे पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना की जाएगी। ब्रह्मचर्य का परिपालन करने के लिए और उसमें परिपूर्णता प्राप्त करने के लिए तप की भी नितान्त आवश्यकता है। संयम की साधना करने वाला और ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला भोगाकांक्षी और भोगवादी कैसे हो सकता है? शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है, कि ब्रह्मचर्य स्वयं अपने आप में एक महान तप है। भगवान महावीर ने कहा है कि—तपों में सर्वश्रेष्ठ तप ब्रह्मचर्य ही है।

ब्रह्मचर्य-सत्त

जैन-सूक्त

*

बंभचेरं उत्तमतव-नियम-नाण-दंसण-चरित्त-सम्मत्त-विणयमूलं ।

—प्रश्न० संवरद्वार ४, सूत्र १

ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय का मूल है।

एक्कंमि बंभचेरे जंमि य आराहियंमि, आराहियं वयमिणं सव्वं, '''तम्हा निउएण बंभचेरं चरियव्वं ।

—प्रश्न० संवरद्वार ४, सूत्र १

जिसने अपने जीवन में एक ब्रह्मचर्य-व्रत की ही आराधना की हो, उसने सभी उत्तमोत्तम व्रतों की आराधना की है—ऐसा समझना चाहिए। अतः निपुण साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

तवेसु वा उत्तम बंभचेरं ॥

—सूत्र० श्रु० १, अ० ६, गा० २३

समग्र तपों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा ।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥

—उत्त० अ० १६, गा० २६

कामभोग का रस जानने वालों के लिए मैथुन-त्याग और उग्र ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करने का कार्य अति कठिन है।

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

—दश० अ० ६, गा० १५

संयम भंग करने वाले स्थानों से सर्वथा दूर रहने वाले साधु-पुरुष; साधारण जन के लिए अत्यन्त दुःसाध्य, प्रमाद रूप और महान् भयंकर अब्रह्मचर्य का कदापि सेवन नहीं करते।

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुण-संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—दश० अ० ६, गा० १६

यह अब्रह्मचर्य, अधर्म का मूल और महान् दोषों का स्थान है। अतः निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्ग का सदा त्याग करते हैं।

जेहिं नारीणं संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥

—सूत्र० श्रु० १, अ० ३, उ० ४, गा० १७

जिन पुरुषों ने स्त्री संसर्ग और शरीर-शोभा को तिलांजलि दे दी है, वे समस्त विघ्नों को जीतकर उत्तम समाधि में निवास करते हैं।

देवदाणवगंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं ॥

—उत्त० अ० १६, गा० १६

अत्यन्त दुष्कर ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी देवता नमस्कार करते हैं।

एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण, सिज्झिस्सन्ति तहाऽवरे ॥

—उत्त० अ० १६, गा० १७

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनदेशित है, अर्थात् जिनों द्वारा उपदिष्ट है। इसी धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध बन गए, वर्तमान में बन रहे हैं और भविष्य में भी बनेंगे।

वाउव्व जालमच्चेइ, पिया लोगंसि इत्थिओ ॥

—सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० ८

जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाता है, वैसे ही महापराक्रमी पुरुष इस लोक में स्त्री-मोह की सीमा का उल्लंघन कर जाते हैं।

मणपल्हायजणणी, कामराग-विवड्ढणी ।
बंभचेररओ भिक्खू, थी-कहं तु विवज्जए ॥

—उत्त० अ० १६, गा० २

ब्रह्मचर्य-परायण साधक को चाहिए कि वह मन में अनुराग उत्पन्न करने वाली तथा विषय-वासनादि की वृद्धि करने वाली स्त्री-कथा का निरन्तर त्याग करे।

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

—उत्त० अ० १६, गा० ३

ब्रह्मचर्य में रस रखने वाला साधक, स्त्रियों के परिचय और उनके साथ बैठ कर बारबार वार्तालाप करने के अवसरों का, सदा के लिए परित्याग कर दे।

जतुकुंभे जहा उवज्जोई,
संवासे विदू विसीएज्जा।

—सूत्र० श्रु० १, अ० ४, उ० १, गा० २६

जैसे अग्नि के पास रहने से लाख का घड़ा पिघल जाता है, वैसे ही विद्वान पुरुष भी स्त्री के सहवास में विषाद को प्राप्त होता है, अर्थात् उसका मन संक्षुब्ध बन जाता है।

जहा विरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बंभयारिस्स खमो निवासो।

—उत्त० अ० ३२, गा० १३

जैसे बिडालों के वास-स्थान के पास रहना चूहों के लिए योग्य नहीं है, वैसे ही स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच रहना ब्रह्मचारी के लिए योग्य नहीं है।

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी विग्गहओ भयं॥

—दश० अ० ८, गा० ५४

जिस तरह मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से प्राणापहार का भय सदा बना रहता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मचारी को भी नित्य स्त्री-सम्पर्क में रहने से अपने ब्रह्मचर्य के भंग होने का भय बना रहता है।

न रूवलावण्णविलासहासं,
न जंपियं इंगियपेहियं वा।

इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता,
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ।
—उत्त० अ० ३२, गा० १४

तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप-लावण्य, विलास, हास-परिहास, भाषण-संभाषण, स्नेह, चेष्टा अथवा कटाक्षयुक्त दृष्टि को अपने मन में स्थान न दे और उसे देखने का प्रयास न करे।

अदंसणं चेव अपत्थणं च,
अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाणजुग्गं,
हियं सया बंभवए रयाणं ॥
—उत्त० अ० ३२, गा० १५

ब्रह्मचर्य में लीन और धर्म-ध्यान के योग्य साधु स्त्रियों को रागदृष्टि से न देखे, स्त्रियों की अभिलाषा न करे, मन से उनका चिन्तन न करे और वचन से उनकी प्रशंसा न करे। यह सब सदा के लिए ब्रह्मचारी के ही हित में है।

जइ तं काहिसी भावं,
जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो,
अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥
—उत्त० अ० २२, गा० ४५

हे साधक ! जिन-जिन स्त्रियों पर तेरी दृष्टि पड़े, उन सबके प्रति भोग की अभिलाषा करेगा, तो वायु से कम्पायमान हड वृक्ष की तरह तू अस्थिर बन जाएगा और अपने चित्त की समाधि खो बैठेगा।

हासं किड्डं रयं दप्पं, सहसा वित्तासियाणि य ।
बंभचेररओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥
—उत्त० अ० १६, गा० ६

ब्रह्मचर्य-प्रेमी साधक ने पूर्वावस्था में स्त्रियों के साथ हास्य द्यूतक्रीड़ा, शरीर स्पर्श का आनन्द, स्त्री का मान-मर्दन करने के लिए धारण किए हुए गर्व तथा विनोद के लिए की गई सहज-चेष्टादि क्रियाओं का जो कुछ अनुभव किया हो, उन सबका मन से कदापि विचार न करना चाहिए।

मा पेह पुरा-पणामए,
अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूमणएहि नो नया,
ते जाणंति समाहिमाहियं ।

—सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० २ गा० २७

हे प्राणी! पूर्वानुभूत विषय-भोगों का स्मरण न कर, न ही उनकी कामना कर। सभी माया-कर्मों को दूर कर। क्योंकि मन को दुष्ट बनाने वाले विषयों द्वारा जो नहीं झुकता है, वही जिनोपदिष्ट समाधि को जानता है।

जहा दवग्गी पउरिंधणे वणे,
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो,
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई।

—उत्त० अ० ३२, गा० ११

जैसे प्रचुर ईंधन वाले वन में लगी हुई तथा वायु-द्वारा प्रेरित दावाग्नि शान्त नहीं होती, वैसे ही सरस एव अधिक परिमाण में आहार करने वाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी अग्नि भी शान्त नही होती।

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥

—दश० अ० ८, गा० ५७

आत्म-गवेषी—आत्मान्वेषक साधक के लिए देह-विभूषा, स्त्री-संसर्ग (सम्पर्क) तथा रसपूर्ण स्वादिष्ट भोजन तालपुट विष के समान है।

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥

—उत्त० अ० १६, गा० ९

ब्रह्मचर्य-प्रेमी साधक हमेशा अलंकार आदि की विभूषा का त्याग कर शरीर की शोभा न बढ़ाए तथा शृंगार सजाने की कोई भी क्रिया न करे।

सद्दे रूवे य गंधे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए ॥

—उत्त० अ० १६, गा० १०

ब्रह्मचर्य-प्रेमी साधक को शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणों का सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

> दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए।
> संकाठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं।
>
> —उत्त० अ० १६, गा० १४

एकाग्र मन रखने वाला ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगों को सदा के लिए त्याग दे और सर्व प्रकार के शंकास्पद स्थानों का परित्याग करे।

> विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
> अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण य।
>
> —दश० अ० ८, गा० ५६

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श-रूप समस्त पुद्गलों के परिणामों को अनित्य समझ कर ब्रह्मचारी साधक मनोज्ञ विषयों में आसक्त न बने।

> रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम्।
> किंपाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम्॥
>
> —योग-शास्त्र २,७७

मैथुन प्रारम्भ में तो रमणीय मालूम पड़ता है, किन्तु परिणाम में अत्यन्त भयानक है। वह किंपाक फल के समान है। जैसे किंपाक फल सुन्दर दिखलाई देता है, किन्तु उसके खाने से मृत्यु हो जाती है, उसी प्रकार मैथुनसेवन ऊपर-ऊपर से रमणीय लगने पर भी आत्मा की घात करने वाला है। कौन विवेकवान् पुरुष ऐसे मैथुन का सेवन करेगा?

> स्त्रीसम्भोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति।
> स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति॥
>
> —योग-शास्त्र २,८१

जो पुरुष विषय-वासना का सेवन करके काम-ज्वर का शमन करना चाहता है, वह घृत की आहुति के द्वारा आग को बुझाने की इच्छा करता है।

> वरं ज्वलदयस्तम्भ-परिरम्भो विधीयते।
> न पुनर्नरक—द्वार—रामा—जघन—सेवनम्।
>
> —योग-शास्त्र २,८२

आग से तपे हुए लोहे के स्तम्भ का आलिंगन करना श्रेष्ठ है, किन्तु विषय-वासना की पूर्ति के लिए नरक द्वार-स्वरूप स्त्री-जघन का सेवन करना उचित नहीं है।

प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम् ।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥
—योग-शास्त्र २,१०४

ब्रह्मचर्य संयम का प्राण है तथा परब्रह्म-मोक्ष का एक मात्र कारण है। ब्रह्मचर्य का परिपालक पूज्यों का भी पूज्य बन जाता है। अर्थात् ब्रह्मचारी सुरों, असुरों एवं नरेन्द्रों का भी पूजनीय हो जाता है।

चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥
—योग-शास्त्र २, १०५

ब्रह्मचर्य के प्रभाव से प्राणी दीर्घ आयु वाला, सुन्दर आकार वाला, दृढ़ शरीर वाला, तेजस्वी और अतिशय बलवान् होता है।

एकमेव व्रतं श्लाघ्यं ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये ।
यद्विशुद्धि समापन्नाः पूज्यन्ते पूजितैरपि ॥
—ज्ञानार्णव ११,३

तीन जगत में एकमात्र ब्रह्मचर्य व्रत ही प्रशंसा करने योग्य है, क्योंकि जिन पुरुषों ने इस व्रत की निरतिचार-पूर्वक-निर्मलता प्राप्त की है, वे पूज्य पुरुषों के द्वारा भी पूजे जाते हैं।

ब्रह्मव्रतमिदं जीयाच्चरणस्यैव जीवितम् ॥
स्युः सन्तोऽपि गुणा येन विना क्लेशाय देहिनाम् ॥
—ज्ञानार्णव ११,४

यह ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत जयवन्त हो। क्योंकि चारित्र का एकमात्र यह ही जीवन है और इसके बिना अन्य जितने भी गुण हैं, वे सब जीवों को केवल क्लेश के ही कारण होते हैं।

नाल्पसत्त्वैर्न निःशीलैर्न दीनैर्नाक्षनिर्जितैः ।
स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥
—ज्ञानार्णव ११,५

जो अल्पशक्ति पुरुष हैं, शील-रहित हैं, दीन हैं और इन्द्रियों के द्वारा जीते गए हैं; वे इस ब्रह्मचर्य व्रत को स्वप्न में भी धारण नहीं कर सकते हैं।

पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥
—ज्ञानार्णव ११,२०

यह काम निर्भय होकर तीन भुवन को पीड़ित (दुःखित) करता है, परन्तु भूतल पर सैकड़ों उपाय करने पर भी इसका सहसा भंग (नाश) नहीं हो पाता है।

किम्पाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।
आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥
—ज्ञानार्णव ११,१०

जिस प्रकार किम्पाकफल (एक प्रकार का विषफल) मात्र बाह्य रूप में देखने, सूँघने और खाने में रमणीय (सुस्वादु) है; किन्तु विपाक होने पर हलाहल (विष) का काम करता है, उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ काल पर्यन्त भले ही रमणीक या सुखदायक मालूम हो, परन्तु विपाक-समय में (अन्त में) बहुत ही भय का देने वाला है।

किं च कामशरव्रातजर्जरे मनसि स्थितिम् ।
निमेषमपि बध्नाति न विवेकसुधारसः ॥
—ज्ञानार्णव ११,४५

हिताहित का विचार न होने का कारण यह है कि काम के बाणों से जर्जरित हुए मन में निमेषमात्र भी विवेकरूपी अमृत की बूँद नहीं ठहर सकती है। अर्थात् जैसे फूटे घड़े में पानी नहीं ठहरता, उसी प्रकार काम के बाण से छिदे हुए चित्तरूपी घड़े में विवेकरूपी अमृत-जल नहीं ठहरता है।

यदि प्राप्तं त्वया मूढ ! नृत्वं जन्मोग्रसंक्रमात् ।
तदा तत्कुरु येनेयं स्मरज्वाला विलीयते ॥
—ज्ञानार्णव ११,४७

हे मूढ़ प्राणी ! जो तूने संसार में भ्रमण करते-करते इस अमूल्य मनुष्यभव को पाया है, तो तू अब वह काम कर, जिससे कि तेरी कामरूपी ज्वाला सदा के लिए नष्ट हो जाए।

वैदिक-सूक्त

*

व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

—यजु० १९।३०

व्रताचरण से ही मनुष्य को दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा अथवा प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है। दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शों में श्रद्धा, और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च ।

—अथर्व० ११,५,१

ब्रह्मचारी के प्रति सब देवता लोग अनुकूल होकर रहते हैं और वह पृथिवी और द्यौ को धारण करता है।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः ।
पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ॥

—अथर्व ११,५,२

रक्षा करने वाले पितर देव और अन्य सब देवता लोग ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति ।
तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः ।

—अथर्व० ११।५।२४

ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करने वाला प्रकाशमान ब्रह्म (समष्टि-रूप-ब्रह्म अथवा ज्ञान) को धारण करता है और उसमें समस्त देवता ओत-प्रोत होते हैं (अर्थात्, वह समस्त दैवी शक्तियों से प्रकाश और प्रेरणा को प्राप्त कर सकता है)

ब्रह्मचारी.........श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।

—अथर्व ११

ब्रह्मचारी तप और श्रम का जीवन व्यतीत करता हुआ समस्त राष्ट्र के उत्थान में सहायक होता है।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।
—अथर्व०,११।५।१७

आचार्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही ब्रह्मचारियों को अपने शिक्षण और निरीक्षण में लेने की योग्यता और क्षमता को संपादन करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
—अथर्व ११।५।१७

ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।
—अथर्व ११।५।१६

संयत जीवन से रहने वाला मनुष्य ब्रह्मचर्य द्वारा ही अपनी इन्द्रियों को पुष्ट और कल्याणोन्मुख बनाने में, उन्हें कल्याण की ओर प्रवृत्त करने में, समर्थ होता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
—अथर्व ११।५।१६

देवों ने ब्रह्मचर्य और तप की साधना से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्,
ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा।
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।
—कठोपनिषद् २।१।२

मूढ़ लोग ही बाह्य विषयों के पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्यु अर्थात् आत्मा के अधःपतन के विस्तृत जाल में फँस जाते हैं। परन्तु विवेकी लोग अमृतत्व (अपने शाश्वत स्वरूप) को जानकर, अध्रुव (अनित्य) पदार्थों में नित्य तत्त्व की कामना नहीं करते हैं।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो ।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

—मुण्डकोपनिषद् ३।१।५

यह आत्मा (अथवा परमात्मा) सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। जिसे दोषहीन यति (संयत जीवन व्यतीत करने वाले) देखते हैं, वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा इसी शरीर के अन्दर वर्तमान है। अर्थात् मनुष्य अपने अन्दर ही अपने विशुद्ध स्वरूप अथवा परमात्मा के दर्शन कर सकता है।

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः। सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥

—छान्दोग्योपनिषद् ७।२६।२

आहार की (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए गए विषयों की) शुद्धि होने पर सत्त्व (अंतःकरण) की शुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि होने पर ध्रुव अर्थात् स्थायी स्मृति का लाभ होता है। उस स्मृति के लाभ से (अर्थात् सर्वदा जागरूक अमूढ़ ज्ञान की प्राप्ति से) मनुष्य की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, अर्थात् जीवन की समस्त उलझनों का समाधान हो जाता है।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥

—मनुस्मृति २।८८

विद्वान को चाहिए, कि वह जैसे सारथि घोड़ों को संयम में रखता है, ऐसे ही, आकर्षण करने वाले विषयों में जाने वाली इन्द्रियों को संयम में रखने का यत्न करे।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

—मनुस्मृति २।६३

इसमें सन्देह नहीं कि विषयों में इन्द्रियों की प्रसक्ति से मनुष्य बुराई की ओर प्रवृत्त होता है और उनके संयम से जीवन के लक्ष्य की सिद्धि को प्राप्त करता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

—मनुस्मृति २।६४

कामनाओं के उपभोग से कामना कभी शान्त नहीं होती। प्रत्युत घी डालने पर अग्नि की तरह, वह और अधिक बढ़ती है।

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥

—मनुस्मृति २।९६

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विषयों में प्रसक्त इन्द्रियों का अपने विषयों से हटाने मात्र से वैसा वास्तविक संयम नहीं किया जा सकता, जैसा कि सदा ज्ञान से, अर्थात् अपने पवित्र आदर्श और विषयों के हानिकर एवं क्षणिक स्वरूप के सतत चिन्तन से किया जा सकता है ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ ! मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

—गीता २, ५५ ॥

हे अर्जुन ! जिस काल में यह पुरुष मन मे स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, उस काल में आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ वह स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

—गीता २, ५८ ॥

कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

—गीता २, ५९ ॥

यद्यपि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुषों के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनका राग नहीं निवृत्त होता । और इस पुरुष का तो राग भी परमात्मा को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ।

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

—गीता २, ६० ॥

हे अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के भी मन को यह प्रमथन-स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात् हर लेती हैं ।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गीता २, ६१ ॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश मे करके समाहित-चित्त हुआ मेरे में स्थित होवे, क्योकि जिस पुरुष के इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
—गीता २, ६२ ॥

हे अर्जुन ! मनसहित इन्द्रियो को वश में करके मेरे में परायण न होने से मन के द्वारा विषयों का चिन्तन होता है और विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना से क्रोध उत्पन्न होता है ।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति-विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
—गीता २, ६३ ॥

क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़ भाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश होने से यह पुरुष अपने श्रेयसाधन से गिर जाता है ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
—गीता २, ६४ ॥

परन्तु स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष अपने वश में की हुई राग द्वेष-रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ भी अन्तःकरण की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त होता है ।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥
—गीता २, ६७ ॥

जल में नाव को वायु जैसे हर लेता है वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि का हरण कर लेती है ।

राग के कारण उच्छृङ्खल चित्त के लिए धैर्य धारण करना वैसे ही दुष्कर है, जैसे कि दूषित (गन्दे) जल को भी देख कर प्यासे पथिक के लिए धैर्य रखना कठिन है।

शीलमास्थाय वर्तन्ते, सर्वा हि श्रेयसि क्रियाः।
स्थानाद्यानीव कार्याणि, प्रतिष्ठाय वसुन्धराम्॥
—सौन्दरनन्द काव्य १३,२१

शील के आश्रय से सभी श्रेयस्कर कार्य सम्पन्न होते हैं, जैसे पृथ्वी के आधार से खड़ा होने आदि कार्य होते हैं।

हिन्दी-सूक्त

*

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।
दोनों कबहूँ ना मिलें, रवि रजनी इक ठाम॥
काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
तब लगि पंडित मूर्ख हू, दोनों एक समान॥
सीलवंत सबसे बड़ा, सब रतनन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि॥
ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोई एक॥
सुख का सागर सील है, कोई न पावै थाह।
सब्द बिना साधू नहो, द्रव्य बिना नहिं साह॥
सील छिमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
बिना सील पहुँचै नहिं, लाख कथै जो कोय॥

—कबीर

काम क्रोध मद लोभ सब, प्रबल मोह की धार।
तिनमहं अति दारुण दुखद, मायारूपी नार॥

—तुलसीदास

वासना का वार निर्मम, आशाहीन, आधारहीन प्राणियों पर ही होता है। चोर की अँधेरे में ही चलती है, उजाले में नहीं।

—प्रेमचंद

When wealth is lost, nothing is lost;
When health is lost, something is lost;
When character is lost, all is lost.

जब धन गया, कुछ भी नहीं गया,
जब स्वास्थ्य गया, कुछ गया,
जब चरित्र गया, सब कुछ गया।

—अज्ञात

There is no substitute for beauty of mind and strength of character.

मन के सौन्दर्य और चरित्रबल की समानता करनेवाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

—जे० एलन

Be a man of action and high character.

कर्मशील बनो और उच्च चरित्रवान् मनुष्य बनो।

—नेपोलियन